भारतीय दर्शन

परिभाषा कोश

DEFINITIONAL DICTIONARY OF INDIAN PHILOSOPHY

खंड-III
Vol.-III



सत्यमेव जयते

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा विभाग) भारत सरकार

भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश

DEFINITIONAL DICTIONARY OF INDIAN PHILOSOPHY

खंड-III

Vol. III

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(शिक्षा विभाग)
भारत सरकार

COMMISSION FOR SCIENTIFIC & TECHNICAL TERMINOLOGY
MINISTRY OF HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT
(DEPARTMENT OF EDUCATION)
GOVERNMENT OF INDIA
1999

मूल्य : (देश में) (विदेश में)

प्रकाशक :

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली - 110 066

मुद्रक :

बिक्री का पता :

बिक्री अनुभाग,
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली - 110 066

विषय-सूची

प्रस्तावना

ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों में हिंदी पर्यायों का निर्धारण कर चुकने के पश्चात यह आवश्यक समझा गया कि आधारभूत तकनीकी शब्दों की संकल्पनाओं को सुस्पष्ट, प्रयोगधर्मी तथा मानक बनाने की दृष्टि से परिभाषा कोशों का निर्माण किया जाए। वस्तुतः शब्दावली को सुस्थिर आधार परिभाषाएँ ही प्रदान करती हैं। एक सीमा तक परिभाषाएँ तकनीकी शब्दों के प्रयोग की क्षमताओं को भी उजागर करती हैं। आयोग अब तक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान विषयों के 53 परिभाषा कोश प्रकाशित कर चुका है।

'भारतीय दर्शन परिभाषा कोश' परिभाषा कोशों के प्रकाशन की शृंखला का एक और आयाम है, जिसके प्रथम एवं द्वितीय खंडों के प्रकाशन के पश्चात इसका तृतीय खंड आपके समक्ष प्रस्तुत है।

यहाँ पर आयोग तथा उसके द्वारा अनुपालन किए जा रहे उद्देश्यों के प्रसंग पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। भारत के राष्ट्रपति के आदेश द्वारा सन् 1961 में आयोग की स्थापना की गई थी जिसकी वैधानिक अपेक्षा थी कि विज्ञान और मानविकी की आधारभूत तथा अनुप्रयुक्त विभिन्न प्रशाखाओं में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में शब्दावली निर्माण तथा उससे संबद्ध सिद्धांतों के निर्धारण और समन्वय में यह उत्तरदायित्वपूर्ण केंद्रीय भूमिका का निर्वाह करे।

तकनीकी शब्दों के निर्माण तथा मानकीकरण के लिए आयोग द्वारा निर्धारित सिद्धांत निम्नलिखित मानदंडों पर संकेंद्रित हैं:

अंतर्राष्ट्रीय शब्दों को यथासंभव अंग्रेजी या अन्य विदेशी भाषा में प्रचलित उच्चारण के अनुसार ग्रहण कर लेना चाहिए तथा गणित और विज्ञान की शाखाओं में संख्यांक, प्रतीक चिह्न और सूत्र इत्यादि में प्रयुक्त अक्षर रोमन या ग्रीक वर्णमाला के होने चाहिए। संक्षिप्त मानक रूप नागरी लिपि में लिखे जा सकते हैं तथापि ज्यामितीय आकृतियों में भारतीय लिप्यक्षरों का प्रयोग किया जा सकता है। संकल्पनाओं को व्यक्त

करने वाले शब्दों का अनुवाद हो सकता है। यथासंभव हिंदी अथवा अन्य भारतीय भाषाओं के पर्यायों के चयन को स्वीकार कर लेना चाहिए तथा संस्कृत धातुओं को वरीयता देनी चाहिए। लोकप्रिय या प्रचलित शब्द विदेशी भाषाओं के क्यों न हों, उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए। हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं द्वारा गृहीत अंतर्राष्ट्रीय शब्दों का व्याकरण की दृष्टि से पुल्लिंग में प्रयोग होना चाहिए। अनादर सूचक अथवा अश्लील शब्दों और जटिल अनुवाद को सर्वथा ग्रहण न किया जाए।

दर्शन का मानव जीवन से बहुत गहरा संबंध है। विशेषकर आज के भौतिकवादी युग में जहां एक ओर मनुष्य आत्मकेंद्रित, स्वार्थोन्मुख तथा भौतिक सुखों को पाने केलिए जीवन के वास्तविक मूल्यों, आदर्शों एवं उद्देश्यों को भूलता जा रहा है वहीं वह दूसरी ओर अपने को उतना ही मानसिक रूप से अशान्त, उद्वविग्न, एवं असुरक्षित भी अनुभव कर रहा है। ऐसे में धर्म तथा दर्शन ही एकमात्र ऐसे आधार हैं जो मनुष्य को मानसिक शान्ति, धैर्य एवं आत्मविश्वास प्रदान कर जीवन के मूल्यों तथा उनकी सार्थकता से अवगत कराकर मानव चेतना को सुनिर्दिष्ट कर सकते हैं। भारतीय दर्शन का भी यही सार है।

प्रस्तुत भारतीय दर्शन परिभाषा-कोश खंड-III को तैयार करने में आयोग ने देश के विभिन्न क्षेत्रों एवं विश्वविद्यालयों के विषय विशेषज्ञों तथा भाषाविदों का सहयोग प्राप्त किया जिसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। इस परिभाषा कोश को वर्तमान स्वरूप देने में आयोग की सहायक शिक्षा अधिकारी श्रीमती शीला माथुर द्वारा किया गया प्रयत्न तथा परिश्रम सराहनीय है। हमें पूर्ण आशा है कि यह परिभाषा कोश दर्शनशास्त्र के स्नातक, स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों, प्राध्यापकों तथा इस विषय में रुचि रखने वाले लेखकों की आवश्यकताओं की भली भांति पूर्ति करेगा।

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
भारत सरकार

नई दिल्ली
1999

संपादकीय

भारतवर्ष प्रारंभ से ही एक धर्मप्रधान एवं चिंतनप्रधान देश होने के साथ-साथ महान् चिंतकों एवं धर्मप्रणेताओं की जन्मभूमि एवं तपोभूमि रहा है। वास्तव में किसी भी जिज्ञासु एवं ज्ञान पिपासु व्यक्ति के लिए जिस तरह के शान्त, सुरक्षित एवं प्राकृतिक सौंदर्य से युक्त वातावरण की आवश्यकता होती है, उन सब बातों से परिपूर्ण इस देश ने यहां के चिंतकों को तपोवनों में जाकर प्रकृति और उसके रहस्यों, सृष्टि और उसकी उत्पत्ति, उसके नियंता, धर्म, उपासना तथा आत्मा आदि जैसे गंभीर विषयों पर मनन करने एवं उनके मूल तक पहुंचने के प्रयत्न में पूर्ण सहयोग दिया। फलस्वरूप इनके दार्शनिक चिंतन ने अनेक संप्रदायों को जन्म दिया। प्रत्येक संप्रदाय ने अपनी तकनीकी संकल्पनाओं को विशिष्ट अर्थ दिया जिनका ज्ञान कुछ लोगों तक ही सीमित होकर रह गया।

इस तथ्य से प्रेरित हो आयोग ने ऐसे ही कुछ संप्रदायों की तकनीकी संकल्पनाओं के ज्ञान को सर्व सुलभ बनाने के लिए 'भारतीय दर्शन परिभाषा कोश' के निर्माण की योजना को हाथ में लिया। प्रस्तुत 'भारतीय दर्शन परिभाषा कोश'-खंड-III में 'काश्मीर शैव दर्शन' तथा 'शाक्त दर्शन' की लगभग 800 तकनीकी संकल्पनाओं को सरल भाषा में परिभाषित किया गया है। इस परिभाषा कोश के प्रथम खंड में पाशुपत शैव तथा वीर शैव दर्शन की तथा द्वितीय खंड में वल्लभ वेदांत तथा सांख्य-योग दर्शन की तकनीकी संकल्पनाओं को लिया गया है।

इस कोश का निर्माण कार्य कुछ वर्ष पूर्व किया गया था। किंतु किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इसका प्रकाशन नहीं किया जा सका। कोश में विद्वानों ने परिभाषाओं के निर्माण में संस्कृत में प्रचलित शब्दों के जिन रूपों एवं वर्तनी का प्रयोग किया है उन्हें यथावत रहने दिया गया है जैसे पञ्च, लिङ्ग, शृंङ्गारण, सङ्कर आदि, जिनका मानक हिन्दी रूप क्रमशः पंच, लिंग, शृंगारण, संकर है। इसी तरह से कहीं पर 'ओंकार' तथा कहीं पर 'ऊँकार' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। आशा है कि वर्तनी की

यह विविधता विषयवस्तु की ग्राह्यता में बाधक नहीं बनेगी।

मैं उन सभी विद्वानों, विषय-विशेषज्ञों के प्रति, विशेषकर डा. बलजिन्नाथ पंडित, शोध निदेशक, रणवीर केंद्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मूतवी, साथ में श्री राजेन्द्र प्रसाद तिवारी, साकेत, नई दिल्ली, श्री कृष्ण कांत, विज्ञान विहार, दिल्ली के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने आद्योपांत इस परिभाषा कोश के निर्माण और प्रकाशन में अपना पूर्ण योगदान दिया। इस कार्य में मुझे अपने एकक के सहयोगियों से भी पूर्ण सहयोग मिला।

मुझे विश्वास है कि यह परिभाषा कोश विषय के अध्येताओं, अध्यापकों तथा विषय में रुचि रखने वाले पाठक गण के लिए रुचिकर एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

शीला माथुर
सहायक शिक्षा अधिकारी
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

संपादन एवं समन्वय

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव
अध्यक्ष

डॉ. गोवर्धन प्रसाद भट्ट
पूर्व सहायक निदेशक

श्री वीर सिंह आर्य
सहायक निदेशक

श्रीमती शीला माथुर
सहायक शिक्षा अधिकारी

डॉ. रामकृष्ण मिश्र
अनुसंधान सहायक

डॉ. संतोष कुमार
अनुसंधान सहायक

श्री महेंद्र कुमार भारल
अनुसंधान सहायक

✤ ✤ ✤ ✤

प्रकाशन सहयोग

श्री धीरेन्द्र राय
सहायक निदेशक

डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल
सहायक शिक्षा अधिकारी

श्री अवनीश कुमार
अनुसंधान सहायक

श्री दीपक कुमार
अनुसंधान सहायक

श्री आलोक वाही
कलाकार

✤ ✤ ✤ ✤

परिभाषाएँ

काश्मीर शैव दर्शन

श्री ब्रजनन्दन शर्मा
147–ए गांधी नगर,
जम्मू तवी–180004

– काश्मीर शैव दर्शन –

अ

अनुत्तर परमशिव । पर प्रकाश । पर तत्त्व । शिव शक्ति के सामरस्य भाव को द्योतित करने वाला वर्ण । अकुल का अभिव्यंजक वर्ण । पृथ्वी से लेकर शक्ति पर्यंत संपूर्ण कुल को प्रथन करने वाली कौलिकी नामक पराशक्ति से अभिन्न अकुल नामक अनुत्तर तत्त्व को अभिव्यक्त करने वाला वर्ण । शिव से सर्वथा अभिन्न स्वभाव वाली अनुत्तरा एवं कुलस्वरूपा शक्ति से युक्त शरीर वाले परमशिव को अभिव्यक्त करने वाला आद्यवर्ण । परावाणी में परमेश्वर का नाम । मातृका का पहला वर्ण । (तं, सा. पृ. 12; प.त्रि.वि., पृ. 153) ।

अं

अनुत्तरशक्ति से लेकर परिपूर्ण क्रियाशक्ति पर्यंत समस्त अंतः विमर्शन के पूरा होने पर जब अंतः विमर्श में आने वाली भिन्न भिन्न चौदह भूमिकाओं को द्योतित करने वाले अ से लेकर औ पर्यंत चौदह वर्ण अभिव्यक्त हो जाते हैं तो उस अवस्था में पहुंचने पर जब अभी बहिः सृष्टि होने वाली ही होती है तो परमेश्वर अपनी इच्छा द्वारा अपने पर आरूढ़ हुई उस समस्त अंतःसृष्टि का स्वरूपस्थतया विमर्शन करता है । उसके इस प्रकार के विमर्श को मातृका का पंद्रहवां वर्ण अं द्योतित करता है । परमेश्वर की अत्यंत आनंदाप्लावित अवस्था को अं परामर्श कहते हैं । इस अवस्था को द्योतित करने वाले वर्ण को भी अं कहते हैं । (तं.सा. पृ. 14,15; तं.आ.आ. 3–110,111) । साधक योगी को भी अं की उपासना के द्वारा उसी आनंद से आप्लावित स्वस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है ।

अः

विसर्ग । विसर्ग का अर्थ होता है सृष्टि । परमेश्वर अपनी परिपूर्ण पारमेश्वरी शक्ति के विमर्शन के द्वारा अपने भीतर स्वात्मतया सतत विद्यमान स्रष्टव्य जगत् को बाहर इदंता के रूप में अर्थात् स्फुट–प्रमेयतया प्रकट करने के प्रति जब पूरी तरह से उन्मुख हो जाता है,तो विश्वसृष्टि के प्रति उसकी इस स्वाभाविक उन्मुखता को अभिव्यक्त करने वाले मातृका वर्ण को विसर्ग कहते हैं । उसी का शुद्ध स्वरूप अः है । सारी बाह्य सृष्टि ह वर्ण पर पूरी हो जाती हैं । उसका आरंभ अः से होता है ।

अत: अ: को ही विसर्ग (सृष्टि) कहते हैं । इसीलिए इसे अर्धहकार भी कहते हैं। उच्चारण भी इन दोनों वर्णों का एक जैसा ही होता है । (तं.सा.पृ. 15)।

अंड

पृथ्वी इत्यादि पांच भूतों से मंडित शक्ति तत्त्व से नीचे अनंत वैचित्र्य युक्त समस्त प्रपंच को ही अंड कहते हैं । एक एक व्यक्ति को पिंड कहते हैं । वस्तुत: अंड और पिंड में कोई भेद नहीं माना गया है ।(म.म.प., पृ. 80) । काश्मीर शैव में अंड को भिन्न भिन्न तत्त्वों एवं भुवनों के विभाग का कारण माना गया है । सभी तत्त्वों और भुवनों को चार अंडों में विभक्त किया गया है । इस तरह से चार अंड प्रपंच के चार क्षेत्र हैं । चार अंड इस प्रकार हैं - पार्थिव, प्राकृत, मायीय तथा शाक्त । शक्ति अपने पूर्ण विश्वमय रूप में जब विकसित होती है तो उसका विश्वोत्तीर्ण रूप छिप जाता है । इस प्रकार से चार स्तरों में बंटा हुआ यह प्रपंच पराशक्ति का आवरण है । आवरण रूप होते हुए प्रपंच के चार स्तरों को चार अंड कहते हैं । चार अंडों का समीकरण प्रतिष्ठा आदि चार कलाओं से किया जाता है । ठोस पृथ्वी स्थूलतम अंड है । जल से मूल प्रकृति तक का आवरण सूक्ष्म अंड है । माया और कंचुक सूक्ष्मतर अंड है और सूक्ष्मतम अंड उससे ऊपर सदाशिवांत शुद्ध तत्त्वों वाला अंड है । इसलिए अंड को आवरण भी कहा गया है । (तं.सा., पृ. 110) ।

चतुष्टय → पार्थिव अंड, प्राकृत अंड, मायीय अंड तथा शाक्त अंड ।

अंबा

परमशिव की वह स्वभावभूत शक्ति जो सर्वथा पूर्ण अद्वैत पद पर ही आरूढ़ रहती है । समस्त प्रपंच में परमेश्वर की निग्रह तथा अनुग्रह लीलाओं एवं इस प्रपंच को टिकाए रखने की लीला का संचालन करने वाली परमेश्वर की चार शक्तियों में से प्रमुख शक्ति । (मा. वि. तं., 3-5; शि. सू. वा., पृ. 7) । अंबा ही निग्रह और अनुग्रह लीलाओं को चलाने के लिए ज्येष्ठा, रौद्री और वामा नामक तीन रूपों में प्रकट होती है । ज्येष्ठा अनुग्रह लीला को तथा वामा निग्रह लीला को चलाती है । संसार को टिकाए रखने की लीला को रौद्री चलाती है । (तं.आ., 6-57) ।

अकल

पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरने वाले प्राणी । शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व में ठहरने वाले सर्वथा शुद्ध एवं निर्मल प्राणी । शिव तत्त्व में ठहरने वाले अकल प्राणी शांभव प्राणी तथा शक्ति तत्त्व में ठहरने वाले अकल प्राणी शाक्त प्राणी कहलाते हैं । (तं. सा., पृ. 74,75) । शांभव प्राणियों में प्रकाशरूपता का अधिक चमत्कार रहता है और शाक्त प्राणियों में विमर्शरूपता का । ये दोनों प्रकार के प्राणी अपने आपको शुद्ध, असीम पारमैश्वर्य से युक्त एवं परिपूर्ण संविद्रूप ही समझते हैं जहां परिपूर्ण 'अहं' का ही स्फुट आभास होता है तथा 'इदं' अंश 'अहं' में ही सर्वथा विलीन होकर रहता है तथा 'अहं' के ही रूप में रहता है ।

अकल्यकाल

काल का वह अति सूक्ष्म रूप जिसकी कलना का स्फुट आभास नहीं होता है । ऐसा काल जिसमें क्रम होने पर भी तीव्रतर वेग होने के कारण उसकी क्रमरूपता का किसी भी प्रकार से आभास नहीं हो पाता है । सुषुप्ति एवं तुरीया अवस्थाओं में काल की गति तीव्रतर होती है यद्यपि वहां भी क्रम रहता ही है परंतु उस क्रमरूपता का स्फुट आभास नहीं होता है । उनमें से तुरीया में स्थित सूक्ष्मतर क्रमरूपता को अकल्यकाल कहते हैं । (तं.सा., पृ. 49, 56) । शास्त्रों में इस काल की गणना शुद्ध विद्या से सदाशिव तत्त्व तक की गई है ।

अकालकलित

परमशिव का परस्वरूप – जहां किसी भी प्रकार के काल की स्थिति नहीं होती है । काल के न होने के कारण वहां किसी भी प्रकार की क्रमरूपता भी विद्यमान नहीं रहती है,क्योंकि उस संविद्रूप पर प्रकाश में प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय की त्रिपुटी समरस होकर प्रकाश के ही रूप में विद्यमान रहती है । (तं.आ. वि., पृ. 134) । काल की कलना वहां होती है जहां क्रमरूपता का आभास हो । क्रमरूपता द्वैत के ही क्षेत्र में संभव हो सकती है । अकल्यकाल की कलना भी भेदाभेद के क्षेत्र में ही होती है, अभेद के क्षेत्र में नहीं । अतः अभेदमय परमशिव अकालकलित है । दे. अकल्यकाल ।

अख्याति

ख्याति = ज्ञान । अख्याति = अज्ञान। अज्ञान ज्ञान का अभाव न होकर वह अपूर्ण ज्ञान होता है जहां स्वप्रकाश का सर्वथा नाश नहीं होता है,क्योंकि स्वप्रकाश के सर्वथा नाश हो जाने पर तो अज्ञान का भान होना भी संभव नहीं हो सकता है । अपूर्ण ज्ञान को ही सभी भ्रांतियों का मूल कारण माना गया है । अतः भेद का मूल कारण अपने स्वरूप की अख्याति ही है । (ई. प्र. वि. 2, पृ. 113) । परम शिव में संवित रूप में स्थित संपूर्ण विश्व का व्यावहारिक दशाओं में जो स्फुट रूप से आभास होता है वह परमेश्वर के स्वरूप गोपन से ही होता है । इस स्वरूप गोपन को ही अख्याति कहते हैं । (प्र.हृ., पृ.51) ।

अग्निषोमात्मिका

परमेश्वर की, सृष्टि, स्थिति, संहार आदि करने वाली पराशक्ति । परमेश्वर की वह अभिन्न शक्ति जिसमें सदाशिव, ईश्वर आदि से लेकर पृथ्वीपर्यंत सभी तत्त्वों को अपने में संहृत करने की अपूर्व सामर्थ्य है तथा जो संहार किए हुए सभी तत्त्वों को स्वेच्छा से पुनः सृष्ट करने के सामर्थ्य से युक्त भी है । समस्त प्रपंच को भस्मीभूत करने की तथा भस्मीभूत हुए समस्त प्रपंच को पुनः चित्र विचित्र रूपों में प्रकट करने की अलौकिक सामर्थ्य के ही कारण पराशक्ति को अग्निषोमात्मिका कहा जाता है । (शि.सू.वि., पृ. 19) । इसमें अग्नि संहार का तथा सोम सृष्टि का द्योतक है ।

अघोर

स्वच्छंदनाथ (दे.) के पांच मंत्रात्मक स्वरूपों में से पांचवां स्वरूप । इस रूप में अवतरित होकर शिव भेदात्मक शैव शास्त्र का उपदेश करता है । प्रक्रिया की दृष्टि से साधना के क्रम में विद्या तत्त्व को परमेश्वर की क्रिया शक्ति की अभिव्यक्ति माना गया है । इसके अनुसार अघोर को विद्या तत्त्व तथा क्रिया शक्ति का सशरीर रूप माना गया है । (तं. आ. वि., 7–18) । स्वच्छंदनाथ के पांच मुखों में से दक्षिणाभिमुख चेहरे का नाम भी अघोर है । अघोर मुख का वर्ण कृष्ण माना गया है । यह क्रिया शक्ति प्रधान तथा ब्रह्मस्थानीय जाग्रत अवस्था है । (मा.वि.वा., 1–347 से 352, 358 से 368) ।

अघोर शक्तियां

ज्येष्ठा शक्ति के व्यूहात्मक अनंत शक्ति समूहों को अघोर शक्तियां कहा जाता है । संसार के जीवों की संख्या के अनुसार ही ज्येष्ठा शक्ति भी असंख्य रूपों को धारण करती है । यह शक्ति समूह जीवों को शिवभाव पर पहुंचाने के लिए उन्हें मोक्षमार्ग के प्रति प्रवृत्त करता रहता है । इसी शक्ति समूह के प्रभाव से जीवों में सद्गुरू के पास जाने की तथा मोक्ष शास्त्रों को पढ़ने की इच्छा होती है । इन्हें परा शक्तियां भी कहा जाता है । (मा. वि. तं., 3-33) ।

अघोरेश

दे. अनंतनाथ ।

अज्ञान

संकुचित ज्ञान । अपने आपको शुद्ध संवित् रूप की अपेक्षा शून्य, प्राण, बुद्धि, देह आदि जड़ पदार्थ तथा अपने में सर्वशक्तिमत्त्व की अपेक्षा अपने आपको अल्पज्ञता एवं अल्पकर्तृत्व वाला समझना अज्ञान कहलाता है । इस प्रकार से अज्ञान ज्ञान के अभाव को नहीं, अपितु ज्ञान के संकोच को कहते हैं । अज्ञान दो प्रकार का होता है :- पौरुष एवं बौद्ध (दे.) । (तं. आ., 1-25, 26, 36) ।

अणु

मायीय प्रमाता । संकुचित प्रमाता । अपने शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण अहंभाव का सतत् परामर्श करने में असमर्थ होने के कारण अपने आप को सदैव संकुचित ही समझने वाला जीव । जीव अपने आप को सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान् न समझता हुआ अपने को सीमित ही समझता रहता है, इसी कारण इसे अणु कहा जाता है । (म. म..प., पृ. 31, तं. सा., पृ.6) । इसके अन्य नाम हैं - पशु, युमान्, पुरुष इत्यादि ।

अद्वय/अद्वैत

जहां द्वैत तथा द्वैताद्वैत एकरस रूप में चमकते हैं । जहां व्यावहारिक सत्ता एवं पारमार्थिक सत्ता अपने समस्त वैविध्य सहित, द्वैत रहित संवित् रूप में ही आभासित होती हैं। द्वय एवं द्वय के भाव से भी रहित शुद्ध तथा परिपूर्ण

2—19 HRD/09

प्रकाश रूप अवस्था । किसी भी प्रकार के भेद से रहित अवस्था को ही अद्वय या अद्वैत कहते हैं । (मा.वि.वा., 1-621 से 629) । अद्वय और अद्वैत में मूलतः कोई अंतर नहीं है । केवल शब्दार्थ को ही दृष्टि में रखते हुए इन्हें क्रमशः दो के अभाव की अवस्था कहा जा सकता है । अभिनवगुप्त ने दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अवस्था को द्योतित करने के लिए किया है । (वही) ।

अध्वन्

आणवोपाय के स्थान-कल्पना नामक योग में धारणा के आलंबन बनने वाले कालाध्वा एवं देशाध्वा नामक बाह्य वस्तु की उपासना के मार्ग । तं. सा., पृ. 47 ।

अध्वन् (अशुद्ध) - आणवोपाय के भेदात्मक आलंबन जिन पर धारणा की जाती है । अशुद्ध अध्वन् को अशुद्ध सृष्टि भी कहते हैं । माया से लेकर पृथ्वी पर्यंत समस्त सृष्टि को अशुद्ध सृष्टि कहा जाता है, क्योंकि इसमें भेद दृष्टि की प्रधानता रहती है । इस सृष्टि में अभिव्यक्त होने वाले तत्त्व, तत्त्वेश्वर, भुवन, भुवनेश्वर तथा सभी जीव अशुद्ध अध्वा में आते हैं । (तं.सा., पृ. 75) ।

अध्वन् (शुद्ध) आणवोपाय में धारणा के आलंबन बनने वाले भेदा-भेदात्मक तथा अभेदात्मक तत्त्व तत्त्वेश्वर, प्राणी आदि । शुद्ध अध्वा को शुद्ध सृष्टि भी कहा जाता है । शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की सृष्टि को शुद्ध सृष्टि के अंतर्गत माना जाता है । इस सृष्टि के सभी तत्त्व और मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर तथा अकल नाम के प्राणी और इनके तत्त्वेश्वर शुद्ध अध्वा में गिने जाते हैं । (तं. सा., पृ. 75) ।

अध्वन् (षट्) - आणवोपाय की बाह्य धारणा में कालाध्वा के वर्ण, मंत्र तथा पद और देशाध्वा के कला, तत्त्व और भुवन - इन छः आलंबनों को षडध्व कहते हैं। (तं. सा., पृ. 47) ।

अनंतनाथ

महामाया की दशा में उतरे हुए ईश्वर भट्टारक के अवतार । अघोरेशा शुद्धविद्या नामक भेदाभेद भूमिका में ठहरे हुए मंत्रप्राणियों/विद्येश्वर प्राणियों के

उपास्य देव । माया तत्त्व को प्रक्षुब्ध करते हुए उसमें से कला आदि पांच कंचुकों से लेकर मूल प्रकृति तत्त्व तक की सृष्टि, स्थिति, संहार आदि की लीला को अनंतनाथ ही चलाते हैं । भोगलोलुप प्राणियों के लिए ही अनंतनाथ मायीय तत्त्वों की सृष्टि करते हैं । (तं. सा., पृ. 76) । इनका शरीर शुद्ध संवित् स्वरूप ही होता है ।

अनाश्रित शिव

शक्ति तत्त्व तथा सदाशिव तत्त्व के बीच की परमेश्वर की वह अवस्था, जहां विमर्श की अपेक्षा प्रकाश ही प्रधानतया चमकता है तथा जहां बाह्य प्रपंच का तनिक भी आभास न होने के कारण महाशून्य की सी स्थिति बनी रहती है । इस अवस्था में परमशिव अपने स्वातंत्र्य से किसी भी अन्य साधन का आश्रय लिए बिना ही अपने से भिन्न तथा स्रष्टव्य की सृष्टि के प्रति उद्यत होता हुआ केवल अपने शुद्ध प्रकाश रूप में ही प्रकाशित होने के कारण अनाश्रित शिव कहलाता है । (प्र. हृ. पृ. 51; तं. आ. वि. 5, पृ. 262) । सृष्टि के प्रति सफल प्रवृत्ति से पूर्व प्रकट होने वाली शिव की शुद्ध चिन्मयी अवस्था । इस अवस्था में शिव जगत् का स्रष्टव्यतया और अपना स्रष्टतया विमर्शन करता है कि 'मैं जगत् का निर्माण करूँ ।' इस तरह से स्रष्टव्य जगत् से शून्य शुद्ध संविद्रूपतया ही अपने आपका विमर्शन करता है ।

अनुग्रहकृत्य

परमेश्वर के सृष्टि, स्थिति आदि पांच कृत्यों में से एक कृत्य । पारमेश्वरी लीला का वह विलास जिसके प्रभाव से माया से अभिभूत जीव के समस्त संशयों का उच्छेद हो जाने पर उसे अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है । इसीलिए अनुग्रह को स्वात्मीकरण भी कहा गया है । (भा. 1, पृ.27) । जीवों में मोक्षप्राप्ति एवं उसके उपायों को जानने के लिए सद्गुरु की शरण में जाने की अंत: प्रेरणा भी परमेश्वर के इसी कृत्य के प्रभाव से होती है। यह कृत्य पारमेश्वरी लीला का अंतिम अंग होता है ।

अनुत्तर

सर्वोत्तीर्ण परमशिव तत्व को अनुत्तर कहते हैं । परात्रीशिका शास्त्र के विवरण में इस पद की सोलह प्रकारों से व्याख्या की गई है :-

1. जिससे बढ़ चढ़ कर और कोई तत्व नहीं है ।
2. जिसके विषय में प्रश्न उत्तर आदि के लिए कोई अवकाश ही नहीं है ।
3. जिस पद पर भेदवादियों द्वारा माने हुए आपेक्षिक मोक्ष अर्थात् अपवर्ग, कैवल्य, निर्वाण आदि का भी आभास नहीं रहता है ।
4. नाभि, हृदय, कंठ आदि के क्रम से ऊपर की ओर गति भी जहां नहीं होती है ।
5. पार करने के योग्य कोई बंधन जहां होता ही नहीं ।
6. जहां पहुंचकर फिर किसी बंधन से मोक्ष भी नहीं होता है ।
7. प्रकारता आदि व्यवच्छेदकों से रहित होने के कारण जिसके विषय में 'ऐसा, वैसा' आदि शब्दों का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता है ।
8. व्यवच्छेद हो जाने के बाद प्रकट होने वाली प्रमेयता का जहां नाम नहीं । अथवा - निर्विकल्प ज्ञान के अनंतर उदित होने वाले विशेष शब्द प्रयोग का विषय जो बन ही नहीं सकता है ।
9. आणव आदि योग के पश्चात् उदित होने वाला भावनामय शाक्त योग भी जहां संभव नहीं।
10. त्रिक में नर, शक्ति, शिव आदि का जैसा परस्पर उत्तराधरता का भाव जहां सर्वथा है ही नहीं तथा जाग्रत आदि दशाओं की भी कोई उत्तरता या अधरता जहां है ही नहीं । उत्कृष्टता और निकृष्टता के भावों से प्रकट होने वाले द्वैत सम्मोह की भी जहां स्थिति नहीं है ।
11. वर्णभेद कृत उच्चता और नीचता के भाव जहां पर हैं ही नहीं ।
12. आगे प्रकट होने वाली पश्यंती आदि दशाएं, अघोर आदि देवियां और परापर आदि अवस्थाएं जहां हैं ही नहीं ।
13. नुद से अर्थात् गुरुप्रेरणा से जहां पार जाना नहीं होता है ।

14. संकुचित प्रमातृ भावों में और प्राण वृत्तियों में प्रधानतया आभासमान ज्ञान क्रियात्मक ऐश्वर्य ही जिसमें उत्कृष्टतया चमकता है, वह पर तत्त्व ।

15. 'अ' रूपिणी कला की प्रेरणा से ही जिस में ऐश्वर्य तरंगें मारता है, वह पर तत्त्व ।

16. क्रमात्मक क्रियामयी प्रेरणा के लिए जहां कोई भी अवकाश नहीं, वह सर्वथा अक्रम परतत्त्व। (प. त्री. वि., पृ. 19 से 29) ।

अनुत्तरसंवित्

प्रकाश और विमर्श का चरम सामरस्यात्मक चर-तत्त्व । समस्त विश्व को अपने भीतर शुद्ध प्रकाश रूप में धारण करने वाला अनुत्तर तत्त्व । विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों अवस्थाओं में सर्वदा और सर्वथा संविद्रूप ही बना रहने वाला अनुत्तर चरमशिव । (दे. परमशिव) । छत्तीस तत्त्वों से उत्तीर्ण शुद्ध, असीम और परिपूर्ण परमेश्वर जो समस्त विश्व का अपनी ही इच्छा से आभास करता हुआ भी सतत रूप से परिपूर्ण एवं शुद्ध संविद्रूप ही बना रहता है । (दे. संवित्)।

अनुपाय

आनंदयोग, आनंद-उपाय । बिना किसी अभ्यास से अपने वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार का उपाय। किसी उपाय के बिना ही अपने ही भीतर अपनी परमेश्वरता का स्वयमेव विमर्श करने का प्रकार। बिना किसी योग का अभ्यास किए अपने शिवभाव का स्वयमेव ही समावेश हो जाने का प्रकार। शांभव उपाय ही परिपक्व अवस्था में अनुपाय कहलाता है । (तं.आ.वि., 1-142) । त्रिक आचार का यह सर्वोत्तम योग कहलाता है । गुरु शिष्य को केवल समझाता है कि तू तो स्वयं परमेश्वर ही है, तुझे अपने परमेश्वर भाव को पहचान लेने के लिए किसी उपाय की क्या आवश्यकता है, इत्यादि । ऐसा उपदेश शिष्य को इतना हृदयंगम हो जाता है कि वह बिना किसी साधना का अभ्यास किए ही झट से अपने परिपूर्ण परमेश्वर भाव में समाविष्ट हो जाता है । (तं.सा. पृ. 7,9) ।

अपरावस्था/दशा

पूर्ण भेद की दशा । वह अवस्था जिसमें प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के बीच, एक प्रमाता और दूसरे प्रमाता के बीच तथा एक प्रमेय और दूसरे प्रमेय के बीच पूर्ण भेद की दृष्टि का विकास हो चुका होता है । इस अवस्था में माया से लेकर पृथ्वीपर्यंत सभी तत्त्व तथा उनमें रहने वाले भेद दृष्टि प्रधान सभी प्राणी आते हैं । अपूर्णमन्यता, भिन्नता तथा अत्यंत परतंत्रता इस द्वैत प्रधान अवस्था के प्रमुख लक्षण हैं । (शि.दृ.वृ., पृ. 14, ई. प्र. वि., 2, पृ. 199) ।

अपरा शुद्धविद्या

शुद्ध विधा का वह अवांतर प्रकार, जिसे विद्येश्वरों (मंत्र प्राणियों) की शुद्ध विद्या भी कहते हैं । इस शुद्ध विद्या में रहने वाले प्राणियों को अपनी शुद्ध और ऐश्वर्ययुक्त संविद्रूपता पर पक्की निष्ठा तो होती है परंतु फिर भी उनमें किसी न किसी अंश में माया का दृष्टिकोण बना ही रहता है । परंतु माया की तिरोधान शक्ति का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता है, इसलिए इस तत्त्व को महामाया भी कहा जाता है । (ई.प्र.वि. खं.2, पृ. 200) । दे. महामाया ।

अपरोक्ष ज्ञान

इंद्रिय अर्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, अनुमान, शब्द आदि से जन्य ज्ञान को परोक्ष कहते हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् होता है । अपरोक्ष ज्ञान उस ज्ञान को कहते हैं जो प्रत्यक्ष की तरह साक्षात् होता है, जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के बीच में कोई तीसरी वस्तु होती ही नहीं परंतु जो साक्षात् होता हुआ भी इंद्रियजन्य नहीं होता है । प्रत्येक प्राणी अपने आप को अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा स्वयं साक्षात् जानता है कि मैं हूं ।

अपवेद्य सुषुप्ति

दे. सुषुप्ति ।

अपान (प्राण)

अपान शैव दर्शन में उपादान करने वाली प्राणवृत्ति को कहते हैं । प्राणी शरीर द्वारा, इंद्रियों द्वारा, अंतःकरणों द्वारा तथा प्राणवायु के द्वारा और उससे

उत्पन्न होने वाली वाणी के द्वारा जिस जिस भी उपादान करने की अर्थात् ग्रहण या आत्मसात्करण की क्रिया को करता रहता है वह क्रिया उसका अपान कहलाता है। शैव योगाभ्यास में बाह्य आकाश से हृदय तक संचार करने वाले प्राण वायु को अपान कहते हैं। अपान प्राणन-क्रिया का अर्थात् जीवित रहने की क्रिया का वह स्वरूप है जिसके द्वारा विषयों का उपादान हुआ करता हे। अपान नामक प्राण के सूक्ष्मतर स्वरूप का साक्षात्कार योगी को नाभिमंडल के पास और उससे नीचे होता है। अतः नाभि से गुदा द्वार तक अपान नामक प्राण की व्याप्ति मानी गई है। (तंत्र आ. वि., पृ. 54, वही. पृ. 56, वही, आ. 6-186, वही, वि. पृ. 155)।

अप्रबुद्ध

अबुद्ध। वह जीवन जिसे स्वरूप साक्षात्कार के उद्देश्य से दिए गए किसी भी उपदेश से कोई लाभ नहीं होता है, जो सदा अज्ञान की ही स्थिति में पड़ा रहता है। इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार का उपदेश देने वाले शास्त्रों का भी उसके लिए कोई उपयोग नहीं होता है। ऐसा जीव यदि कोई अभ्यास कर भी ले, उससे भी उसे कोई अंतर नहीं पड़ता है। परिणामस्वरूप वह ईश्वर के शक्तिपात से वंचित रहता है और संसृति के चक्कर में फंसा रहता है। (स्प॰ वि॰ पृ॰ 9, 58, 67)।

अभेदोपाय

दे. शाम्भव-उपाय।

अमर्दक

द्वैत शैवदर्शन के प्रवर्तक। श्रीकंठनाथ की आज्ञा से भेदमय दृष्टिकोण से शैवी साधना और शैवी सिद्धांतों के प्रचार प्रसार के लिए अवतरित सिद्ध पुरुष। (तं. आ., 36-13)।

अमर्दक मठिका -

वर्तमान काल में इस मठिका की न किसी गुरु-शिष्य परंपरा का ही पता लग रहा है और न ही इस शाखा के किसी ग्रंथ की ही उपलब्धि हो रही है। अभिनवगुप्त ने अपने तंत्रालोक के अंतिम आह्निक में रस मठिका के तात्कालिक

गुरु के नाम का उल्लेख किया है; इसलिए यह मठिका ग्यारहवीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित थी । (तं. आ., 36–13) ।

अमृतबीज

1. स । सोम, अमृतनाथ,सुधासार, सुधानिधि, षड्साधार आदि नामों से अभिहित परामृत धाम स्वरूपक सकार । (तं.आ.वि. 2, पृ. 164) ।

2. ऋ, ॠ, ऌ,ॡ – इन चार बीजों को भी अमृत वर्ण कहते हैं, क्योंकि ये आगे सृष्टि न करते हुए अपने ही चमत्कार में स्पंदमान होते रहते हैं । (तं.सा.त्र पृ. 16) ।

अमृतवर्ण

दे. अमृतबीज ।

अमोक्ष

सुषुप्ति अवस्था की वह अवांतरदशाएं जिन्हें कोई कोई दर्शन गुरू मोक्ष की अवस्था मानते हैं । शैवशास्त्र में कहा गया है कि इन संकोच युक्त शास्त्रों पर निष्ठा रखने वालों को माया भ्रम में डाल कर उनके द्वारा उन दशाओं पर मोक्ष का अभिमान कराती है जो जो दशाएं वस्तुत: मोक्ष की दशाएं हैं ही नहीं । उन दशाओं में 'कुतश्चिन्मुक्ति' तो हुआ करती है, परंतु सर्वतो मुक्ति नहीं होती है । क्योंकि ऐसी मुक्ति में प्राणी कुछ समय के लिए जन्म मरण के कष्टों से बचा तो रहता है, परंतु सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता है । (तं. आ., खं 1, पृ. 54) । ये दशाएं प्राय: सुबुद्धि अवस्था की अवांतर सीढ़ियां होती हैं ।

अर्धत्र्यम्बक मठिका

त्र्यम्बकादित्य से अपनी पुत्री के द्वारा प्रतिष्ठित करवाई गई अद्वैत प्रधान शैवशास्त्र की मठिका। (तं. आ., 36–11,12) । संभवत: पर्याप्त मात्रा में विकसित न हो सकने के कारण ही इस मठिका को अधूरी मठिका माना गया हो । वर्तमान काल में शैव दर्शन की अर्धत्र्यम्बक शाखा प्रचलन में नहीं है, परंतु अभिनवगुप्त के

समय अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी तक,यह अवश्य ही प्रचलित थी । अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक में इस मठिका के तत्कालीन प्रधानगुरु जालंधरपीठ (कांगड़ा) के निवासी श्री शंभुनाथ की भिन्न भिन्न संदर्भो में अत्यधिक प्रशंसा की है जिससे इस शाखा के महत्व पर भी प्रकाश पड़ता है । (तं. आ.,1-13; वही, 4-266 इत्यादि) ।

अवभास

दे. आभास ।

अवरोहण लीला

शिव का अकल से सकल तक सात प्रमातृ वर्गो की सीढ़ी से जीव भाव पर उतरने की क्रीड़ा का अभिनय। इस लीला में तीन भूमिकाओं की प्रधानता है । पहली भूमिका को शक्ति भूमिका (दे.) कहते हैं । यह सर्वथा अभेद की भूमिका है । बीच वाली विद्या भूमिका (दे.) है । यह भेदाभेद की भूमिका है । तीसरी माया भूमिका (दे.) है । यह एक ओर से स्फुट भेद की भूमिका है और दूसरी ओर से इस भूमिका में ठहरने वाले प्रमातृगण शरीर आदि जड़ पदार्थों को ही अपना आप समझते हैं ।

अवांतर संबंध (अंतराल संबंध)

सदाशिव भट्टारक के अनुग्रह से शास्त्र तत्त्व का विमर्शन भगवान् अनंतनाथ को हुआ। भगवान अनंतनाथ को पश्यंती वाणी के एक मध्यम स्तर के माध्यम से शंका हुई और उसी वाणी के उत्कृष्ट स्तर के विमर्शन से उन्हें भगवान सदाशिव के अनुग्रह से समाधान हो गया । उत्कृष्टतर शिवयोगी को भी पश्यंती के मध्यम स्तर में जो शंका उठती है उसका समाधान उसे सदाशिव दशा पर आरूढ़ हो जाने पर पश्यंती के उत्कृष्ट स्तर के माध्यम से हो जाता है । इस तरह से प्रश्नकर्ता भगवान् अनंतनाथ बनते हैं और उत्तर देने वाले भगवान् सदाशिव । इस द्वितीय सोपान के गुरु-शिष्य संबंध को अंतराल या अवांतर संबंध कहते हैं । (च. त्री. वि., टि., पृ.12) ।

अविकल्पोपाय

दे. शाम्भव-उपाय ।

अविच्छिन्न प्रकाश

प्रकाश से यहां तात्पर्य चेतना का स्वयमेव प्रकट होते रहने से है । जीवचेतना भी स्वयमेव प्रकट होती रहती है, परंतु वह विच्छिन्न रूप में चमकती है,क्योंकि किसी सीमित शरीर प्राण आदि जड़ वस्तु को ही अपना आप समझती है । पारमेश्वरी चेतना में किसी भी प्रकार की कोई भी सीमितता प्रकट नहीं होती है । विच्छिन्न का अर्थ होता है कटा हुआ अर्थात् किसी सीमा के भीतर बंधा हुआ । अतः असीम चेतना को अविच्छिन्न चेतना कहते हैं । दे. प्रकाश ।

अपोहनशक्ति

परमेश्वर के परिपूर्ण एवं अखंड स्वरूप में भेद की स्थिति को आभासित करने वाली पारमेश्वरी शक्ति जो वस्तुतः समस्त आंतर एवं बाह्य संवित् में उससे अभिन्न एवं अखंड रूप में स्थित है । यही इसकी परिपूर्णता है । परंतु परमेश्वरअपने इस संविद्रूप में भेद का आभास करता हुआ अपने परिपूर्ण आनंद का उपभोग करता रहता है। परिपूर्ण तत्त्व में भेद का आभासन हो ही नहीं सकता । अतः परमेश्वर अपने परिपूर्ण स्वरूप के भीतर ही विच्छिन्नता या संकुचितता का अवभासन करता है, तब कहीं प्रमाता से प्रमेय को भिन्नतया अवभासित किया जाता है । परमेश्वर के भीतर ही इस प्रकार की विच्छिन्नता को अवभासित करने के प्रति जो स्वाभविक उन्मुखता उसमें रहती है, वही उसकी अपोहनशक्ति कहलाती है । उसकी यही शक्ति भेद का आभासन करवाती है । परमेश्वर की यह शक्ति प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय में; प्रमाता-प्रमाता में, प्रमेय प्रमेय में सर्वथाभेद को आभासित कर देती है । ऐसा होने पर ही ज्ञातृ-ज्ञेय भाव और स्मर्तृ-स्मार्य भाव भी आभासित होते हैं । (ई,प्र.वि.खं. 1, पृ. 110) ।

अव्यक्त लिंग

नर, शक्ति और शिव के स्वरूपों वाला लिंग (दे.) । देह आदि के विषय में जब आत्मता का अभिमान गल जाता है तो इस अव्यक्त लिंग का उद्‌बोध हो जाता है । यह लिंग परिपूर्ण अहं परामर्शमय होता है । वही नर-शिव-शक्तिमयतया चमकता है । इसके अन्य नाम 'योगिनीहृदय' आदि हैं । यह मुक्तिप्रद लिंग होता है । (मा. वि. वा., 2-61) । इसमें वेद्‌य जगत् सर्वथा विलीन होकर रहता है । (तं. सा., पृ. 40) । इस लिंग का साक्षात् अनुभव साधक को उच्चार योग के अभ्यास में होता है ।

अशरीर मुक्ति

दे. मुक्ति (अशरीर)।

अशुद्ध अध्वन्

दे. अध्वन्।

अशुद्ध विकल्प

दे. विकल्प।

अशुद्ध विद्या तत्त्व

शुद्ध संवित् स्वरूप परमशिव की परिपूर्ण ज्ञानशक्ति को संकुचित अवस्था तक लाने वाला संकोचक तत्त्व। इसे विद्या तत्त्व भी कहते हैं। शिव की परिपूर्ण ज्ञान शक्ति पशु प्रमाता में इस आवरक तत्त्व के कारण संकुचित ज्ञानशक्ति का रूप धारण करती है। इसके प्रभाव से पशु प्रमाता अर्थात् जीव इच्छानुसार सभी कुछ नहीं जान सकता, अपितु उसमें किसी किसी विषय को ही जानने की सामर्थ्य रहती है। (शि. सू. वा., पृ. 44; तं. सा., पृ. 81)। माया तत्त्व से विकसित होने वाले पांच कंचुक तत्त्वों में से यह एक तत्त्व है। दे. कंचुक तत्त्व।

अहंकार

संकुचित अहम्। बुद्धि तत्त्व से प्रकट होने वाला दूसरा अंतःकरण। शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण 'अहं' का ही अतीव संकुचित रूप। 'अहंकार' में 'कार' को कृत्रिमता का वाचक मानकर अहंकार को कृत्रिम 'अहं' भी कहा जाता हे। बुद्धि तत्त्व में प्रतिबिम्बित सभी प्रमेय पदार्थों के प्रति बुद्धि तत्त्व में ही प्रतिबिम्बित पुरुषका निश्चित रूप से संकुचित प्रमातृभाव का अभिमनन करना उसका अहंकार कहलाता है। वह इसी के द्वारा यह समझने लगता है कि 'मैं यह देह आदि हूं, मैं सुनता हूं, मैं चलता हूं' इत्यादि। संरंभ रूप अर्थात् क्रिया रूप होने के कारण अहंकार को प्राण, अपान आदि पांचों प्राणों को प्रेरित करने वाला भी माना गया है। (तं.सा., पृ. 86-8 ई. प्र. वि., 2, पृ. 212)।

अहम्

प्रकाश की अपनी ही शुद्ध प्रकाशरूपता में विश्रांति अर्थात् अपनी शुद्ध संविद्रूपता का परामर्श । (अ.प्र.सि., 22) । जब अकारात्मक अनुत्तरतत्त्व ही हकारात्मक अपनी परा विसर्ग शक्तिरूपता में आभासित होता हुआ अपनी ही पर संविद्रूपता में बिंदु (दे.) रूप से अविभागतया विश्रांति को प्राप्त करता है तो उसे अहं कहते हैं । (तं.आ. 3-201, 202, वही पृ. 194) । अनुत्तरशिव तथा विसर्गात्मक शक्ति का सामरस्य रूप । अ से लेकर ह पर्यंत समस्त परामर्शों का एकरस स्वरूप । (वही, 3-203, 204) ।

अहमंश विश्रांति

अपनी शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संवित् रूपता पर स्थिति । चैतन्यात्मक शुद्ध प्रकाश रूप अहं पर स्थिति । परिपूर्ण अहमंश में किसी भी प्रकार का द्वैताद्वैत या द्वैत भाव नहीं रहता है । यहां सभी प्रमेय पदार्थ शुद्ध प्रकाश रूप में ही चमकते हैं । इदंता का वहां आभास तक नहीं होता है । इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि को अपनी ही शुद्ध प्रकाशरूपता का विकास समझते हुए उसी परिपूर्ण प्रकाशरूपता पर स्थिति ही अहमंश विश्रांति है । (भा. 1, पृ. 176-177) ।

अहमितिपूर्वापरानुसंधान

किसी वस्तु विशेष, भाव या अवस्था के स्मृति काल के प्रथम क्षण में ही होने वाला वह अतिसूक्ष्म संवेदन या परामर्श जिसमें यह विमर्श होता है कि अमुक वस्तु, भाव या अवस्था के प्रत्यक्ष ज्ञान के समय जो 'अहम्' अर्थात् 'मैं' था वही 'अहम्' उनके स्मृति काल की अवस्था में भी है । इस विमर्श के बिना किसी वस्तु आदि का स्मरण नहीं हो सकता है । यह विमर्श ही अनुभव और स्मृति को परस्पर जोड़ता है । (भा. 1, पृ. 136-137) ।

अहमिदम्

सदाशिव तत्त्व के मंत्रमहेश्वर (दे.) नामक प्राणियों का अपने शुद्ध अहं के प्रति तथा सृष्ट होने वाले समस्त प्रपंच के प्रति भेदाभेदात्मक दृष्टिकोण । अहमिदम अर्थात् 'मैं यह प्रमेय तत्त्व हूं', मुझ में ही प्रमेयता का आभास स्थित है । इस विमर्श में प्रकाश रूपता की ही प्रधानता रहती है । इस प्रकार इस दृष्टिकोण

में शुद्ध अहं में इदंता अर्थात् प्रमेयता का बहुत ही धीमा सा आभास होता है। इसी दृष्टिकोण को उत्कृष्टतर शुद्ध विद्या कहते हैं। (ई. प्र. वि., 2, पृ. 197–197)। दे. इदम् अहम्।

अहम्परामर्श/अहम्प्रत्यवमर्श

शुद्ध प्रकाश रूप 'अहम्' का अंत:विमर्शन। यह विमर्श पूर्ण स्वातंत्र्ययुक्त होता है। परमशिव में इस परिपूर्ण प्रकाश के विमर्श की अवस्था में किसी भी प्रकार की सृष्टि के प्रति किसी भी प्रकार की उन्मुखता या उमंग अभी उभरी नहीं होती है। इस प्रकार केवल अपने शुद्ध संविद्रूपता के आनंदमय सतत अंत:विमर्श को ही अहम्परामर्श या अहम्प्रत्यवमर्श कहते हैं। (ई, प्र. वि. 1–6–1)। प्रति से अभिप्राय प्रतीय या उल्टे से है। यह विमर्श बाह्य प्रमेय के प्रति न होता हुआ उल्टा अपने आपका ही विमर्शन करता है। यही इसकी प्रतीपता है।

अहम्महोरूप

अपनेअसीम, परिपूर्ण एवं शुद्ध संवित् रूप 'अहम्' का एकघन सामरस्यात्मक स्वरूप। छत्तीस तत्त्वों एवं उनमें स्थित सभी सूक्ष्म एवं स्थूल भावों तथा भुवनों का शुद्ध प्रकाश रूप जिसमें सभी कुछ निर्विभागतया शुद्ध प्रकाश के ही रूप में विद्यमान रहता है। सच्चिदानंदकंद एवं सर्वथा स्वतंत्र, परिपूर्ण और शुद्ध अहंता का स्वविलास रूपी विमर्शात्मक प्रकाश। (आ.वि., 3–1)।

अहम्महोविलास

परमशिव की पारमेश्वरी लीला। अपने शुद्ध एवं परिपूर्ण चैतन्यात्मक अहम् का सतत विमर्शात्मक स्वरूप। संपूर्ण अंत: सृष्टि जब परमेश्वर के अपने ही आनंद से अपने में ही अपने ही आनंद के लिए बाह्य रूप धारण करने को उद्यत होती है, धारण कर रही होती है या धारण कर चुकी होती है तो इन सभी अवस्थाओं को उसका अहम्महोविलास कहा जाता है। (आ.वि., 3–1, 3)।

आ

आनंद शक्ति (दे.) को द्योतित करने वाला वर्ण । अ अर्थात् अनुत्तर शक्ति पर ही पूर्ण विश्रांति की स्थिति को अभिव्यक्त करने वाला आनंदशक्ति स्वरूप वर्ण । (तं. सा., पृ.12; तं. आ., 3-67,68) । अ अनुत्तर परम शिव है । आनंद उसका नैसर्गिक स्वभाव है । इसी स्वभाव के प्रभाव से परमशिव में जगत् सृष्टि के प्रति इच्छा होती है । अनुत्तर और इच्छा के बीच में आनंद की स्थिति है । इसी कारण अ और इ के बीच में आ ठहरता है । इस आ को पर विसर्ग भी कहते हैं क्योंकि सृष्टि का कारण बनने वाला पारमेश्वर विसर्ग का प्रारंभ यहीं से होता है ।

आंतर द्वादशांत

दे. द्वादशांत (आंतर) ।

आगम

1. दिव्य ज्ञान । आ = चारों ओर से, गम = वस्तु तत्त्व का बोध कराने वाला ज्ञान । पराशक्ति के स्फार रूप ज्ञान या शास्त्र को आगम कहते हैं । (स्व. तं. उ., खं. 2, पृ0. 214) ।

2. साक्षात्कारी सिद्ध की अपनी उत्कृष्टतर योगज अनुभूति को आगम कहते हैं । उसी से उन तत्त्वों का प्रकाशन होता है जिन्हें प्राणी लौकिक प्रमाणों के द्वारा जान नहीं सकते । (वही) ।

3. साक्षात्कारी सिद्ध अपनी योगज अनुभूति को उसके अनुकूल शब्दों के माध्यम से जब प्रकट करता है तो उसकी वह शब्दावली भी आगम ही कहलाती है । इस तरह से सारे आर्ष ग्रंथ और देवताओं द्वारा उपदिष्ट शास्त्र भी आगम कहलाते हैं । ये शब्दात्मक आगम द्वितीय कोटि के आगम होते हैं । मुख्य आगम तो योगियों की स्वानुभूति ही है ।

4. शिव और पार्वती के संवाद ।

आगम(त्रिक) -

1. नामक तंत्र, सिद्ध तंत्र और मालिनी तंत्र ।

2. स्वच्छंद तंत्र, विज्ञान भैरव, चरात्रीशिका, शिवसूत्र आदि ।

आगम(शैव) -

ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर -इन पांच मंत्रों के द्वारा उपदिष्ट आगम । भैरवों, रुद्रों आदि के द्वारा उपदिष्ट आगम । दस भेदप्रधान शिवआगम, अठारह भेदाभेद प्रधान रुद्र आगम और चौसठ अभेदप्रधान भैरव आगम। (भा.वि.वा., 1-391, 392) । इस समय उपलब्ध आगमों में से मालिनी विजयोत्तर तंत्र, स्वच्छंद तंत्र, शिव सूत्र, विज्ञान भैरव और परात्रीशिका अद्वैत प्रधान शैवागम हैं ।

आणव उपाय

आणव योग । शैवी साधना के त्रिक आचार का वह उपाय जिसमें साधक अपने चित्त को प्रमेय पदार्थो पर स्थिर करके भावना के द्वारा उन सभी पदार्थो को परिपूर्ण शिवरूप में ही देखने का सतत अभ्यास करता है । (भा.वि.तं., 2-21) । इस उपाय में ज्ञान की अपेक्षा कल्पनात्मक क्रिया की प्रधानता होने के कारण इसे क्रियायोग या क्रियोपाय भी कहा जाता है तथा साधन में अपने से भिन्न प्रमेय पदार्थों को आलंबन बनाने के कारण इसे भेदोपाय भी कहा जाता है । जब साधक को अपने शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूपता पर स्थिति नहीं हो पाती है तथा शुद्ध विकल्पों द्वारा चित्त का निर्मलीकरण भी नहीं हो पाता है तब उसे अपने शिवभाव को पहचानने के लिए आणव योग की दीक्षा दी जाती है । (तं.सा., पृ..35) ।

आणव मल

स्वरूप संकोचक अज्ञान । अपने शुद्ध संवित्स्वरूपता के परिपूर्ण प्रकाशात्मक स्वरूप को एवं उसके विमर्शात्मक स्वातंत्र्य को संकुचित रूप में प्रकट करने वाले अल्प ज्ञान को आणव मल कहते हैं । यह दो प्रकार का होता है -

1. प्रथम प्रकार का आणव मल शुद्ध प्रमाता के परिपूर्ण प्रकाशात्मक स्वरूप को संकुचित कर देता है । इस संकोच से प्रमाता अपनी असीम प्रकाशात्मकता को भूलकर संकुचित् संवित् को अर्थात् शून्य को, प्राण को या बुद्धि को ही अपने आप समझने लगता है । ये सभी पदार्थ जड़ होते हैं तो प्रमाता जड़ात्मा जैसा बन जाता है । आणव मल का यह प्रकार प्रलयाकलों में तथा सकलों में हुआ करता है ।

2. दूसरे प्रकार के आणव मल के कारण शुद्ध प्रमाता के विमर्शात्मक स्वातंत्र्य में संकोच आ जाता है जिससे वह अपने आपको क्रिया के ऐश्वर्य से विहीन प्रकाशमात्र ही समझने लगता है । इस मल से प्रमाता का क्रिया स्वातंत्र्य संकोच को प्राप्त कर जाता है । आणव मल का यह प्रकार विज्ञानाकलों में हुआ करता है । (ई,प्र., 3-2-4,5) । (आणव मल के ये दोनों प्रकार जब अधिक स्थूलता को प्राप्त कर जाते हैं तो इन्हें ही क्रम से माया मल तथा कार्ममल कहा जा सकता है । (दे. माया मल तथा कार्मकल) ।

आणव योग

दे. आणव उपाय ।

आणव समावेश

शैवी साधना के आणव उपाय के सतत अभ्यास से होने वाला अपने भीतर शिवभाव का समावेश । आणव उपाय में अपने साधक स्वरूप से भिन्न आभ्यंतर या बाह्य प्रमेय पदार्थो को साधना का आलम्बन बनाया जाता है। इसमें उच्चार, करण आदि भिन्न-भिंन्न धारणाओं द्वारा प्रत्येक प्रमेय पदार्थ को इन धारणाओं में ठहराकर भावना के द्वारा उन्हें अपनी स्वभावभूत शिवता से अभिन्न रूप में देखना है । इसी प्रकार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय को भी संघट्टात्मक रूप में ही देखना होता है । इस प्रकार के सतत अभ्यास से जब भिन्न भिन्न पदार्थो में, परिपूर्ण परमेश्वर में तथा अपनी साधक स्वरूपता में कोई भी भेद शेष नहीं रहता है तो उस अवस्था में जिस प्रकार का समावेश होता है उसे आणव समावेश कहते हैं । (मा.वि. तं., 2-21) । इस स्थिति के दृढ़तर अभ्यास से साधक शाक्त उपाय के योग्य बन जाता है । दे. शाक्त उपाय, शाक्त समावेश ।

आणव (वी) साधना

दे. आणव उपाय ।

आत्म कला

त्रिकला कल्पना में पृथ्वी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक तथा उनमें रहने वाले सकल से लेकर विज्ञानाकल पर्यंत सभी प्राणियों, भावों,भुवनों को व्याप्त करके ठहरने वाली कला को आत्म कला कहते हैं। आणवोपाय-कलाध्वा धारणा में आत्मकला द्वारा व्याप्त सभी कुछ को क्रम से अपना ही रूप समझते हुए भावना द्वारा व्याप्त करना होता है । इससे साधक को अपने शिवभाव का आणव समावेश (दे.) हो जाता है । (तं. सा., पृ. 111) ।

आत्म तत्त्व

त्रितत्त्व कल्पना में पृथ्वी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व पर्यंत समस्त तत्त्व वर्ग को आत्म तत्त्व कहा जाता है । इस तत्त्व वर्ग में आने वाले सभी तत्त्व, भाव तथा भुवन तथा सकल से लेकर विज्ञानकल पर्यंत सारा प्राणिवर्ग आत्म तत्त्व में गिना जाता है । आणवोपाय की तत्त्वाध्वा धारणा में आत्म तत्त्व में आने वाले सभी तत्त्वों पर क्रम से धारणा करते समय उन्हें अपना ही रूप समझते हुए अपने में शिवभाव का समावेश प्राप्त किया जाता है । (भा.वि.तं., 2-47; तं.आ.वि., खं. 1, पृ. 297)।

आत्मविलास

शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण संवित् के विमर्शात्मक स्वरूप की लीलामयी सतत क्रीड़ा । परमेश्वर की परमेश्वरता । विलास ही के कारण समस्त प्रपंच का अंत: विमर्शन और बहि: विमर्शन होता है । यही परमेश्वर की शक्तिस्वरूपता है । विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय-इन दोनों रूपों में अपने ही विलास से अपने आप को चमकाता हुआ भी वह इसी विलास के कारण सदैव अपने परम अद्वैत रूप में ही स्थित रहता है, उससे ज़रा सा भी च्युत नहीं होता है । यही उसका आत्म विलास है । (आ.वि., 2-1, 2, 23) । यह विलास ही उसकी परमेश्वरता को जतलाता है । यदि उसमें यह विलास नहीं होता तो वह शून्यप्राय जड़ तत्त्व की स्थिति पर ही ठहरा रहता, चेतनोचित व्यवहारों का आधार तथा प्रवर्तक बनता ही नहीं । (तं.आ., 3-101) ।

आत्मव्याप्ति

ज्ञान और क्रिया के सामरस्य रूप अपनी शुद्ध बोधात्मक आत्मस्वरूपता में स्थित होना । इस अवस्था में स्थित होने पर जीव लगभग सभी बंधनों से मुक्त हो जाता है तथा शुद्ध विज्ञान केवल की दशा में पहुंच जाता है । इसे परा पर अवस्था भी कहा गया है, क्योंकि इस अवस्था में पहुंचने पर साधक माया के प्रभाव से मुक्त हो जाता है परंतु अभी शिवरूपता को प्राप्त नहीं हुआ होता है । (स्व. तं., 4-388 से 390, 434) ।

आत्मा

दे. चैतन्य ।

आनंद (परमेश्वर का लक्षण)

परमशिव के स्वात्म विश्रांति रूप विमर्शात्मक चमत्कार को आनंद कहा जाता है । (ई.प्र.वि., 2, पृ. 257) । चित् परमेश्वर का स्वरूप है और आनंद उसका स्वभाव है। इस स्वभाव ही के कारण परमेश्वर सृष्टि-संहारमयी जगत् लीला का अभिनय सदा करता रहता है । यही उसकी परमेश्वरता की बहिराभिव्यक्ति का एकमात्र मूल कारण है । आनंद की लहरें ही इच्छा के रूप को धारण करती हैं । पारमेश्वरी इच्छा ज्ञानमयी और क्रियामयी स्थितियों में अभिव्यक्त होती हुई जगत् सृष्टि करती है । इसीलिए परमेश्वर को 'निर्वृतचिद्विभुः' कहा गया है । (शि. दृ., 1-2) ।

आनंद (योग सिद्धि का लक्षण)

आणव उपाय के उच्चार योग में जिन छः आनंद भूमिकाओं की अनुभूति होती है उनमें से प्रत्येक भूमिका में प्रवेश के समय जो पांच लक्षण प्रकट होते हैं उनमें से पहला लक्षण ही आनंद की अनुभूति होता है । यह आनंद की अनुभूति किसी भी प्राण धारणा पर पूर्ण विश्रांति से पूर्व ज्यों ही अभ्यास की पूर्णता का स्पर्श किया जा रहा होता है, तब होती है । (तं.सा., पृ. 39,40; तं.आ., 5-101) । अन्य आणव धारणाओं में भी तथा शाक्तोपाय में भी आनंद आदि पांच लक्षणों का उदय साधक में कभी कभी हो जाता है ।

आनंद–उपाय

दे. अनुपाय ।

आनंद भूमिका (उच्चार योग में)

आणव उपाय के उच्चार योग में भिन्न भिन्न प्राणवृत्तियों पर विश्रांति प्राप्त करने पर साधक जिन जिन चमत्कारों का अनुभव करता रहता है उन्हें आनंद भूमिका कहा जाता है । प्रत्येक आनंद भूमिका का अपना नाम है । प्रमातृ तत्त्व, विषय शून्यता, प्राण तथा अपान, समान,उदान और व्यान– इन छः पर भावना द्वारा विश्रांति के अभ्यास के क्रमशः निजानंद, निरानंद, परानंद, ब्रह्मानंद, महानंद और चिदानंद की अनुभूति होती है । अंत में आनंद की इन सभी भूमिकाओं की परिणति परिपूर्ण परमेश्वरात्मक निज स्वरूप पर विश्रांति के परमार्थ रूप जगदानंद में हो जाती है । उस आनंद की कोई भी सीमा कहीं से भी नहीं है । (तं.सा., पृ. 38 से 40) ।

आनंद योग

दे. अनुपाय ।

आनंद शक्ति

निर्वृति शक्ति । परमशिव की पांच प्रमुख शक्तियों में से दूसरी शक्ति । यह शक्ति उसके परिपूर्ण एवं अपरिमित स्वातंत्र्य के विलास का प्रथम स्पंदन है । यह परमेश्वर का नैसर्गिक स्वभाव है । इसी शक्ति के कारण परमशिव सतत रूप से आनंदघन बना रहता है । समस्त सृष्टि का मूल ही आनंद है । इस शक्ति की अभिव्यक्ति शिव तत्त्व में मानी गई है । (तं.सा., पृ.6; शि. दृ. वृ., पृ. 23) । परंतु साधना के क्रम में शक्ति तत्त्व में आनंद शक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है । (प. सा., 14) ।

आबुद्ध

दे. अप्रबुद्ध ।

आभास (आभासन)

परमेश्वर की पराशक्ति एक ही है, परंतु उसके फल अनंत हैं । इन फलों की अपेक्षा से उसको अनंत नाम दिए जाते हैं । परमेश्वर अपने ही शुद्ध प्रकाशमय दर्पण में अपनी ही अनंत शक्तियों के प्रतिबिंबों को प्रकट करता रहता है । वे ही प्रतिबिम्ब समस्त विश्व के रूप में प्रकट होते रहते हैं । पारमेश्वरी पराशक्ति के इन विविध प्रतिबिम्बों की अभिव्यक्ति को आभास कहते हैं । इस तरह से छत्तीसों तत्त्व, सभी प्रमातृवर्ग, सारे भुवन, समस्त कलाएं और सभी अंड तथा उनमें प्रकट होने वाले अनंत भाव, अनंत प्रमाता, अनंत प्रमाण, अनंत प्रमेय आदि सब के सब प्रतिबिंबात्मक आभास हैं । एक परमेश्वर ही स्वयं इस आभासमय प्रपंच से उत्तीर्ण है । शेष सब कुछ उसके प्रकाश में प्रतिबिम्बवत् प्रकट होता है । अतः सारा विश्व शक्ति का आभास है । (श्री विंशतिका शास्त्र, 7 से 10; ई. प्र. वि., खं. 1, पृ. 1187 से 191) ।

आभासवाद

शैव दर्शन समस्त प्रपंच को, यहां तक कि सभी तत्त्वेश्वरों को और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव को भी पारमेश्वरी पराशक्ति के प्रतिबिम्बात्मक आभास (दे.) ही मानता है । अतः इस सारे प्रपंच की आभासमयी सत्ता ही प्रकट होती है । स्वयं प्रकाशात्मक परमेश्वर ही अपनी ही लीला से समस्त प्रपंच के रूप में आभासमान होता रहता है । इस प्रकार यह सिद्धांत आभासवाद कहलाता है । शैवदर्शन के आभासवाद में इस प्रपंच के दो स्वरूप माने गए हैं। एक है शक्तिस्वरूप, जिस स्वरूप में यह परमेश्वर के भीतर उस तरह से सदा विद्यमान रहता है जिस तरह से बीज़ में पौध रहता है । दूसरा है इसका आभासमान प्रतिबिम्बात्मक स्वरूप जिसका समय समय पर उदय और लय होता है । इस प्रकार प्रपंच सर्वथा मिथ्या भी नहीं है । (ई. प्र. वि., खं. 1, पृ. 124; वही. खं 2, पृ. 161) ।

आरोहण

क्षुद्र जीव के रूप में प्रकट होकर संसृति के समुद्रों में स्वयं विचरण करता हुआ शिव अपनी ही अनुग्रह लीला के अभिनय द्वारा क्षुद्रतम प्राणी की अवस्था से आरोहण करता हुआ मानव शरीर को प्राप्त करता है । वहां पहुंच कर विशेष

पारमेश्वर अनुग्रह लीला के प्रभाव से सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त करके शिवयोग के अभ्यास के द्वारा सात प्रमातृ भूमिकाओं की सीढ़ी से क्रम से या अक्रम से ऊपर ऊपर वाली दशाओं पर पहुंचता हुआ अंततोगत्वा परिपूर्ण परमेश्वरभाव को पुनः प्राप्त करता है । इस तरह से वह मायाभूमि में से ऊपर उभर कर शुद्ध विद्या भूमि में संक्रमण करता हुआ अंत में परिपूर्ण शक्ति भूमिका पर पहुंच जाता है । इस तरह की उसकी इस ऊर्ध्वगति को आरोहण कहते हैं ।

आवेश

दे. समावेश ।

आश्यानभाव

आश्यान ठोस को कहते हैं । जिस तरह से वाष्प पवनात्मक होता है, वही जलात्मक द्रवरूप को प्राप्त करता है, जम जाने पर वही हिमरूप ठोस भाव को ग्रहण करता है, उसी तरह से परमेश्वर पराशक्ति रूप में अतीव सूक्ष्मतर अवस्था में चमकता रहता है । शुद्ध विद्या भूमि में जरा सी स्थूलता को ग्रहण करता हुआ जब माया भूमिका में जगद्रूप बनता हुआ जड़रूपतया प्रकट होता है तो इसी को शिव का घनीभाव या ठोस बन जाना कहते हैं । तो यह दृश्यमान प्रपंच स्वयं परमेश्वर ही है जो अपनी ही लीला में अपने ही सामर्थ्य से स्वयं आश्यान भाव में अर्थात् स्थूलतम दशा में आभासमान हो रहा है । आश्यानभाव को प्राप्त होने पर ही प्रमाता या प्राणी शून्य को, प्राण को, बुद्धि को तथा स्थूल शरीर को अपना आप समझने लगता है यद्यपि वह वस्तुतः सदा शुद्ध संवित्स्वरूप ही होता है ।

इ

आनंद शक्ति की चमत्कार स्वरूपा इच्छाशक्ति को द्योतित करने वाला वर्ण । (तं. सा., पृ.6) । इच्छाशक्ति का आद्य स्पंद । विश्व सृष्टि के प्रति केवल शुद्धतम एवं सूक्ष्मतम इच्छा को ही द्योतित करने वाला वर्ण । (तं. आ. वि., 2, पृ. 84) । परमेश्वर की स्वभावभूत परमेश्वरता को अर्थात् उसकी सृष्टि, संहार आदि करने की सामर्थ्य और नैसर्गिक प्रवृत्ति को द्योतित करने वाला मातृका का तीसरा वर्ण । दे. इच्छाशक्ति ।

इंदु

दे. चंद्र ।

इच्छा–उपाय/इच्छा योग

दे. शाम्भव–उपाय ।

इच्छाशक्ति

परमशिव की आनंदशक्ति का चमत्कार । परिपूर्ण स्वातंत्र्य स्वरूप आनंदशक्ति में ही जब बाहर प्रकट होने के प्रति एक सूक्ष्मतर तरंग सी उभरती है तो उसे उसका चमत्कार कहते हैं और यही चमत्कार इच्छाशक्ति कहलाता है । (तं. सा., पृ.6) । परमशिव की पांच अंतरण शक्तियों में से यह तीसरी शक्ति है । इसकी अभिव्यक्ति शक्ति तत्त्व में मानी गई है । ज्ञान तथा क्रिया शक्तियां इसमें अनभिव्यक्त रूप में ही रहती हैं । (शि. दृ. वृ., पृ. 24) । साधना क्रम में सदाशिव तत्त्व में इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है, क्योंकि इच्छाशक्ति का ही बहिर्मुख विकास सदाशिव तत्त्व के रूप में प्रकट होता है । (चं. सा., 14) ।

इतरेतर संबंध

जिस गुरु शिष्य संबंध में शास्त्र तत्वों का उपदेश ऋषियों से योगियों को, उनसे आचार्यों को, उनसे व्याख्याकारों को पहुंचता हुआ आगे आगे चलता रहता है, इस संबंध को इतरेतर संबंध कहते हैं । इस संबंध में परंपराएं प्रायः बहुत लम्बी होती हैं । अनेकों आचार्यो ने अपनी अपनी उन परम्पराओं को अपने ग्रंथों में लिखकर रखा है । संसार में यह इतरेतर संबंध ही प्रचुर मात्रा में चला करता है । इसमें भी मूलतः पर संबंध ही चमकता है । उसी का विस्तार पांचों अपर संबंधों में वस्तुतः चलता रहता है । (प. त्री. वि., टि. पृ. 12) ।

इदम् अहम्

ईश्वर तत्त्व में ठहरे हुए मंत्रेश्वर नामक प्राणियों का इदन्ता के अर्थात् प्रमेयता के प्रति, और अहंता के अर्थात् प्रमातृता के प्रति परस्पर भेदाभेदात्मक दृष्टिकोण । इस दृष्टिकोण को शुद्ध विद्या भी कहा जाता है । इस दृष्टिकोण में प्रकाशरूपता की अपेक्षा विमर्शरूपता की ही प्रधानता रहती है । मंत्रेश्वर प्राणी

(दे.) 'इदम् अहम्' अर्थात् यह समस्त प्रमेय पदार्थ मैं ही हूँ, मेरी ही संविद्रूपता का यह विस्तार है, ऐसी भेदाभेदी दृष्टि को लेकर ही चलते हैं । इस 'इदमहम्' विमर्श में इदम् अंश प्रधानतया अभिव्यक्त होता है और अहम् अंश उसका विशेषण जैसा प्रकट होता है । इदम् उद्देश्य बनता है और अहम् विधेय । (ई,प्र. वि., खं.2, पृ. 196–197)। दे. अहमिदम् ।

ई

ईशना । इ अर्थात् सूक्ष्मतम इच्छाशक्ति पर ही पूर्ण विश्रांति से अभिव्यक्त होने वाली स्फुट इच्छा का द्योतक वर्ण । (तं. सा., पृ. 12) । यह वर्ण, इच्छाशक्ति में ही क्षोभ के उत्पन्न हो जाने पर विश्वसृष्टि के प्रति स्फुट परंतु सूक्ष्मतम इच्छा को द्योतित करता है । ईशना ईश्वरता का सूक्ष्मतर रूप होता है । इच्छा एक प्रकार की आध्यात्मिक उमंग है और ईशना ईश्वरता के स्फुट उपभोग के प्रति उन्मुख बनी हुई उमंग है । इ उमंग मात्र है और ई उमंग विशेष है । (तं. आ., 3–72,73) ।

ईशान

स्वच्छंदनाथ (दे.) के मंत्रात्मक पांच स्वरूपों में से सर्वोच्च तथा प्रथम स्वरूप । इसे परमेश्वर की चित्शक्ति का सशरीर रूप माना गया है । साधनाक्रम में शिव तत्त्व को ही प्रथम तत्त्व मान लेने पर यह माना गया है कि शिव ही ईशान के स्वरूप में आकर अभेदात्मक शैवशास्त्रों के उपदेशक के रूप में अवतरित होता है । (तं.आ.वि., 1, पृ. 36–39) । स्वच्छंदनाथ के पांच मुखों में से ऊर्ध्वाभिमुख चेहरे का नाम भी ईशान है । ईशान मुख का वर्ण मिश्रित माना गया है । इसे उन्मेष शक्ति प्रधान सदाशिवी दशा माना गया है । इसी कारण इसे तुर्यदशा प्रधान भी माना है । (मा.वि.वा., 1–171 ं 173, 212 से 213, 252) ।

ईश्वर

ज्ञान और क्रिया में परिपूर्ण स्वातंत्र्य से युक्त भगवान । काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार परम शिव ही जब अपने स्वातंत्र्य के विलास द्वारा अपनी पारमेश्वरी लीला के बहिर्मुखी विकास के कार्य को संपन्न करने के लिए स्वयमेव स्पष्ट भेद से युक्त अभेद दशा पर अवतरित होता है तब उसी को ईश्वर कहते हैं। (ई.प्र., 3–1–2) । इस दर्शन के अनुसार ईश्वर ही सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान एवं

अनुग्रह – इन पांचों कृत्यों को स्वयमेव करता है या अपने भिन्न-भिन्न अवतारों से संपन्न करवाता है । परिपूर्ण अभेद दशा में परमेश्वर की परमेश्वरता की बहिर्मुख अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती है । इस कारण परमेश्वर भेदाभेद की दशा में उतर कर ही अपनी परमेश्वरता को स्फुटतया निभाता है ।

ईश्वर तत्त्व

अभेदात्मक शुद्ध और असीम चित् प्रकाश के भीतर भेद के स्फुट अवभास वाली भेदाभेद-दशा । वह दशा जिसमें प्रमातृ अंश अर्थात् 'अहं' अंश की अपेक्षा प्रमेयता का अर्थात् 'इदंता' का अंश अधिक स्फुट रूप में चमकने लगता है । वह दशा जिसमें शुद्ध चैतन्य रूपी प्रमाता के भीतर प्रमेयता या ज्ञेयता का स्फुट या ज्ञेयता का स्फुट आभास होने पर 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूं' ऐसा विमर्श होता है । (ई.प्र.वि., खं. 2, पृ. 196–197) । इसी दशा को ईश्वर तत्त्व कहा जाता है । इस तत्त्व में परमेश्वर की क्रियाशक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति मानी गई है । (शि.दृ.वृ., पृ.37) । योगराज ने परमार्थसार की टीका में ईश्वर तत्त्व में ज्ञानशक्ति की ही अभिव्यक्ति को माना है । (प.सा.वि., पृ. 41–43) । उसकी ऐसी दृष्टि त्रिक साधना की प्रक्रिया का अनुसरण करती है और उपरोक्त व्याख्या शिवदृष्टि, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्धांत ग्रंथों के अनुसार की गई है । ईश्वर तत्त्व में भेदाभेद दृष्टिकोण वाले मंत्रेश्वर प्राणी ठहरते हैं । (ई.प.वि., खं.2, पृ. 193) ।

ईश्वर भट्टारक

ईश्वर तत्त्व (दे.) पर शासन करने वाले तत्त्वेश्वर । प्रमेय अंश को 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूं ' इस प्रकार की भेदाभेद की ही दृष्टि से देखने वाले मंत्रेश्वर प्राणियों के उपास्य देवता । (तं. सा., पृ. 74,75,94) । पारमेश्वरी अवरोहण-लीला में सृष्टि, स्थिति आदि पांच कृत्यों को करने के लिए भिन्न-भिन्न तत्त्वों में ईश्वर भट्टारक ही अनंतनाथ (दे.), श्रीकंठनाथ (दे.) उमापति नाथ (दे.) आदि अपने भिन्न भिन्न रूपों में अवतार रूप में प्रकट होते हैं । ऐसा करते हुए अपनी ईश्वरता की लीला को परिपूर्णतया और सुस्फुटतया अभिव्यक्त करते रहते हैं ।

उ

प्रथम स्पंद, उन्मेष, शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रकाश की विमर्श स्वरूपा ज्ञानशक्ति को द्योतित करने वाला वर्ण । (तं. सा., पृ.6; तं.आ., 3-73, 74) । मातृका (दे.) का पंचम वर्ण । परमेश्वर के भीतर विश्वमयी सृष्टि संहार आदि की लीला के विकास के प्रति होने वाली उन्मुखता को अभिव्यक्त करने वाला मातृका का वर्ण । यदि परमेश्वर में यह स्वभावभूत उन्मेष नहीं होता तो जगत् सृष्टि ही नहीं होती । (तं.आ.वि., खं.3, पृ. 87-88) ।

उच्चार योग

आणव उपाय की प्राण-वृत्ति पर की जाने वाली धारणा का योग । जीवन क्रिया रूपी प्राण की वृत्तियों को ही धारणा का आलम्बन बनाए जाने के कारण इसे प्राण योग भी कहते हैं। इस योग में प्राण, अपान आदि प्राण की पांच वृत्तियों का आश्रय लेते हुए अपने शुद्ध संवित् रूप में प्रवेश किया जाता है । इस धारणा में निजानंद, निरानंद, परानंद आदि आनंद की छः भूमिकाओं की अनुभूति होती है और अंततः साधक को शुद्ध एवं परिपूर्ण स्वात्मानंद रूपी जगदानंद की अनुभूति होती है । इसी साधना को उच्चार योग कहते हैं । (तं.सा., पृ. 38,39) । आनंद, प्लुति, कंप, निद्रा और घूर्णि नाम के योग सिद्धि के बाह्य लक्षण उच्चार योग में बहुलतया अनुभव में आते हैं । (तं.आ., 5-101 से 105) । यथास्थान दे० ।

उच्छलत्ता/अच्छलन्

दे. समुच्छलन ।

उच्छूनता

जिस प्रकार आक्सीजन आदि गैस जलरूप बनकर अधिक शैत्य के प्रभाव से हिमशिलात्मक रूप में प्रकट होकर अतीव घन रूप को धारण करते हैं, कुछ इस प्रकार की ही जैसी प्रक्रिया से परमेश्वर की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विमर्श शक्ति ही क्रम से शुद्ध तत्त्वों,सूक्ष्मतर मापीय तत्त्वों,सूक्ष्म प्राकृत तत्त्वों और स्थूल, स्थूलतर तथा स्थूलतम भूत तत्त्वों के रूप में दर्पणनगर न्याय से प्रकट होती रहती है । उस सूक्ष्मतम शक्ति की इस स्थूलतामयी अभिव्यक्ति को उसकी उच्छूनता

की अवस्था कहते हैं । यह उस शुद्ध चेतनामयी पराशक्ति का घनीभाव जैसा है, परंतु इस घनीभाव में भी पराशक्ति किसी विकार या परिणाम का पात्र नहीं बनती है, क्योंकि ऐसा आभास केवल प्रतिबिम्ब न्याय से ही होता है, परिणाम न्याय से नहीं । (शि.दृ., 1-13 से 16) ।

उदान

प्राण का एक उत्कृष्ट प्रकार । उदान उस प्राणवृत्ति को कहते हैं जिसमें साधक को अपने निर्विकल्प आत्म स्वरूप का दर्शन उत्तरोत्तर स्फुट होता जाता है और विकल्पनात्मक चित्तवृत्ति का क्रम से क्षय होता जाता है । उदान प्राण की अनुभूति साधक को तब होती है जब उसकी प्राणशक्ति सुषुम्ना के बीच में से उत्तरोत्तर ऊर्ध्व गति से संचरण करती है । उदान नामक प्राण का व्यापार तुर्यादशा में अभिव्यक्त होता है । उदान प्राण के द्वारा ही समस्त जीवन व्यवहार को निभाने वाले प्राणी विज्ञानाकल, मंत्र, मंत्रेश्वर और मंत्रमहेश्वर होते हैं । इनमें क्रम से अधिक अधिक शुद्ध उदान वृत्ति की अभिव्यक्ति हुआ करती है । (ई.प्र. वि., खं, 2, पृ.247) ।

उद्बुभूषा

आद्यकोटि या प्राक्कोटि । परमशिव की परिपूर्ण आनंदात्मक संविद्रूपता में, अपने ही स्वातंत्र्य से, अपने ही आनंद के विलास के रूप में अपने वास्तविक स्वरूप से तनिक भी विचलित हुए बिना ही, संपूर्ण विश्व को अभिव्यक्त करने के प्रति अतीव सूक्ष्म इच्छा या उमंग । इस प्रकार की अति सूक्ष्म उमंग को आद्यकोटि इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह समस्त शुद्ध तथा अशुद्ध सृष्टि के सर्वप्रथम उन्मेष का कारण बनती है । (शि.सू.वा., पृ.8) ।

उद्भव

उच्चार योग की प्राण धारणा में छः में से किसी भी आनंद की भूमिका में पूरी तरह से प्रवेश करने से पूर्व स्फुट रूप से बाहर लक्षित होने वाले पांच लक्षणों में से दूसरा लक्षण । किसी भी प्रकार की उच्चार योग की धारणा पर विश्रांति होने के प्रथम चरण में आनंद की अनुभूति होती है । तदनंतर साधक देह विषयक अहं भाव के अभाव की दशा पर आरुढ़ हो जाता है । इस दशा पर

आरुढ़ होने पर ही वह परधाम में प्रवेश कर पाता है । यहां उस परधाम का मानो उदय होता है । इस कारण इस लक्षण के उद्भव हैं । एकदम बिजली की तरह चमकते हुए देह आदि से शून्य, शुद्ध संवित् स्वरूप परधाम में प्रवेश करते समय साधक का शरीर उछलने लगता है, उसे मानो अकस्मात झटके से लग जाते हैं । अतः इसे प्लुति भी कहते हैं । यह लक्षण पांचों लक्षणों में से विशेष स्फुटतया प्रकट होता है । (तं.सा., पृ. 4.; तं.आ., 5–102) ।

उद्यम/उद्योग

उन्मेष (दे.), भाव, स्पंद (दे.) आदि । परमशिव परिपूर्ण, असीम एवं शुद्ध संवित् तत्त्व है । उसकी इसी परिपूर्ण आनंदात्मक संविद्रूपता में ही विश्व सृष्टि के प्रति अतिसूक्ष्म सा जो स्पंदन होता रहता है या उमंग सी उठती रहती है उसे ही उद्यम, उद्योग आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है । विश्व की सृष्टि आदि का कारण बनने के कारण परमशिव के इसी उद्यम को शार्व तत्त्व, भैरव (दे.) आदि नामों से भी कहा जाता है । (शि.सू.वा., पृ.8) । साधक को भी शैव योग के अभ्यास से इस पारमेश्वरी स्पंदशक्ति की अनुभूति अपने में हुआ करती है और उससे वह अपने आप को भैरवात्मक परमेश्वर ही के रूप में पहचान लेता है । (शि.सू. 1–5) ।

उन्मना/उन्मनस्

सूक्ष्मतर अकल्यकाल के स्पर्श से भी रहित ऐसी अवस्था, जहां किसी भी प्रकार की काल कलना हो ही नहीं सकती है तथा जहां मन के संस्कारों का भी पूर्णतया क्षय हो जाता है । ऐसी अवस्था जहां समना (दे.) भी विलीन हो जाती है तथा जहां अपने सभी संकुचित संवेदनात्मक भावों से उत्क्रमण करता हुआ चित्तपूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है । (स्व.तं. 3, व.उ., पृ. 163; वही खं.2, पृ. 149, 249) । दे. औन्मनस् धाम ।

उन्मेष

1. प्रथम स्पंद (दे.) । संपूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच की सृष्टि से पूर्व अनुत्तर तत्व परिपूर्ण आनंद में ही रहता है । उसके अपने नैसर्गिक स्वभाव से ही उसी के भीतर सृष्टि के प्रति अतिसूक्ष्म सी जो उमंग उठती है, उसके प्रथम परिस्पंद को उन्मेष कहते हैं । (तं.आ.वि., खं. 2, पृ. 86) ।

2. अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा का प्रथम क्षण अर्थात् जिस अवस्था में अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है उसके प्रथम स्पंद को भी उन्मेष कहते हैं। (स्प. वृ., पृ.115)।

3. दो विचारों के बीच की अवस्था अर्थात् वह शुद्ध चेतना जिसमें एक विचार विलीन हो जाता है तथा जहां से दूसरे विचार का उदय होता है तथा जो प्रत्येक विचार का मूलभूत कारण बनती है। इसी कारण उन्मेष को विशुद्ध चिन्मात्र स्वरूप वाला भी कहते हैं। (स्प., 41; स्प.वृ., पृ. 117)।

उमापतिनाथ

श्रीकंठनाथ के शिष्य। पुराणों एवं महाभारत आदि में वर्णित उमापति नाम से विख्यात तथा तंत्रों के प्रवक्ता कैलासवासी शिव। (स्व.उद्. 8-35)। गुणतत्त्व अर्थात् प्रक्षुब्ध प्रकृति तत्त्व में सूक्ष्मतर शरीर को धारण करके अवतरित हुए ईश्वर भट्टारक (दे.) के ही एक अवतार। इन्हीं कैलासवासी शिव के ही ईशान, तत्पुरुष आदि पांच मुखों वाले एक विशिष्ट रूप को स्वच्छंदनाथ (दे.) कहते हैं। इस रूप में आकर इन्होंने शैव शास्त्रों का उपदेश दिया है।

ऊ

1. ऊनता (दे.), ऊर्मि (दे.)। उ अर्थात् उन्मेष पर ही पूर्ण विश्रांति से अभिव्यक्त हुई ऊनता या ज्ञेयांश के आधिक्य को द्योतित करने वाला वर्ण। (तं. सा., पृ. 13)। परमेश्वर के नैसर्गिक स्वभाव से ही उसी के भीतर विश्वसृष्टि को करने के प्रति इच्छा और उस सृष्टि पर ऐश्वर्यात्मक प्रशासन करने की ईशना के उदित होते ही उसी के भीतर स्रष्टव्य विश्व का उन्मेष भी हो जाता है। ऐसा होने पर परमेश्वर स्वयमेव स्रष्टा और स्रष्टव्य के रूप में जब अपना विमर्शन करता है तो उसका वैसा स्वरूप मानो शुद्ध चैतन्य जैसा नहीं रहता है। इस तरह से स्रष्टव्य विश्व से सम्भिन्न जैसी चमकने वाली पारमेश्वरी संवित् को प्रकट करने वाला ऊ वर्ण इस प्रकार की ऊनता की कलना को अभिव्यक्त करता है। (तं.आ., 3-75, 76)।

2. रुद्रबीज। (स्व.तं.उ., 1, पृ. 56)।

ऊनता

ऊ परामर्श । ज्ञानशक्ति का दूसरा रूप जिसमें ज्ञान अंश में ज्ञेय अंश का आधिक्य होता है । शुद्ध ज्ञान प्रधान उन्मेष (दे०) का उल्लास होता है । ऐसा होने पर सूक्ष्मतम रूप से ज्ञेयता का आभास स्फुट होने की स्थिति में परमशिव की शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूपता में जो संकोच का धीमा सा आभास जैसा आने लगता है, या आ सा जाता है,उसे ऊनता कहते हैं । यहीं से संकोच के आभास का प्रारंभ हो जाता है और अपूर्णता का आभास स्फुटतया उभरने लगता है । (तं. आ., 3-75,76; वही, पृ. 87) । दे. ऊ ।

ऊर्ध्वाम्नाय

स्वच्छंदनाथ (दे.) के ऊर्ध्वमुख ईशान (दे.) से प्रकट हुआ शास्त्र । दस शिव आगमों में से दो आगम ईशान के मुख से आविर्भूत हुए हैं । इस कारण इन आगमों को ऊर्ध्व-आम्नाय या ऊर्ध्व-आगम कहते हैं । एक आगम ईशान आदि तीनों के द्वारा कहा गया और दो और आगम ईशान तथा तत्पुरुष और ईशान तथा सद्योजात के द्वारा मिलकर कहे गए । ये सभी आगम शास्त्र ऊर्ध्व आम्नाय कहलाते हैं । वैसे शैव सिद्धांत के समस्त शिव आगमकों का और समस्त भैरव आगमकों का ऊर्ध्व आम्नाय नाम पड़ा है । (मा.वि.वा.,टि., पृ.36) । ऊर्ध्वता से यहां गुणों का उत्कर्ष ही अभीष्ट है, दिशा का विचार नहीं । (मा.वि.वा., 1-212)।

ऊर्मि

स्पंद । परिपूर्ण एवं अचल परमशिव में अतिसूक्ष्म गतिशीलता की सी अवस्था । (प.त्री.वि. पृ. 207) । दे. स्पंद । परमशिव चित्शक्तिस्वरूप है। उस चित् का स्वभाव आनंद है । चिदानंद अपने अत्यंत अतिशय से लहरें जैसे मारता रहता है । उस आनंद की प्रथम लहर को ऊर्मि कहते हैं । यही इच्छाशक्ति के रूप को धरण करती है और इस लहर के प्रभाव से विश्वसृष्टि का विकास होने लगता है ।

ए

अ या आ अर्थात् अनुत्तरशक्ति या आनंदशक्ति के अभिमुख इ या ई अर्थात् इच्छाशक्ति या ईशाना के आने पर उनके संघट्ट से अभिव्यक्त होने वाली

अवस्था को द्योतित करने वाला वर्ण । (तंत्रसा., पृ.12) । अनुत्तर परमशिव अ या आनंदमय शिव आ अपनी विश्व-सिसृक्षात्मिका शक्ति इ या विश्व-ईशनाशक्ति ई के प्रति अभिमुख होकर जब अपना विमर्शन करता है तो उसकी परमेश्वरता के एक विशेष रूप की अभिव्यक्ति होती है । उसी का मातृकात्मक नाम ए है । (तं.आ., 3-94, 95; वही. वि., नृ. 103,104) । मातृका का अभ्यास करने वाले साधक को भी एकार की उपासना से परमेश्वरता के उसी भाव की अभिव्यक्ति अपने भीतर होती है ।

एकतत्त्व धारणा

शुद्ध एवं परिपूर्ण परमशिव को ही आलंबन बनाकर की जाने वाली आणवोपाय की तत्वाध्वा नामक धारणा । परमशिव सभी तत्त्वों से उत्तीर्ण है । उसमें छत्तीस तत्त्व उसी की संवित्स्वरूपता के रूप में रहते हैं । पंचदश तत्त्व धारणा आदि सात प्रकार की तत्त्व-धारणाओं में स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् साधक एकतत्त्व धारणा के अभ्यास को करता हुआ अपने को ही दृढ़तर भावना द्वारा परिपूर्ण परमशिव स्वरूप समझने लगता है । इससे उसे पूर्ण परमेश्वरता का आणव समावेश हो जाता है । (तं.आ., 10-5; वही, वि.पृ. 6; मा.वि.तं., 2-7) ।

एकवीरक

परिपूर्ण सामरस्यात्मक स्थिति का परामर्श । विश्वसृष्टि के प्रति स्फुट इच्छा के अभिव्यक्त होने पर जो पारमैश्वर्यात्मक क्षोभ की स्थिति उत्पन्न होती है उस स्थिति से पूर्व होने वाला द्वैत परामर्श से रहित अपनी शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रकाशरूपता का परामर्श । (तं.आ.वि., 2, पृ. 86) । केवल परमेश्वरात्मकताके कारण इसे 'एक' शब्द से कहा गया है । परंतु सृष्टि संहारादि सामर्थ्य के कारण और उस सामर्थ्य की बहिर अभिव्यक्ति का एकमात्र कारण होने के कारण इस दुर्घट कार्य को भी सुघट बना सकने के विचारसे उसे 'वीर' शब्द से भी कहा गया है, अन्यथा वह शून्य तुल्य ही सिद्ध हो जाता । (वही, पृ. 86,87) ।

एकादशतत्त्व धारणा

पांच प्रमातृ तत्त्वों तथा इनकी पांच शक्तियों को आलंबन बनाकर की जाने वाली आणवोपाय की तत्त्वाध्वा नामक धारणा । साधक प्रलयाकल प्राणी को

धारणा का आलंबन बनाकर उसी को भावना के द्वारा अकल से लेकर विज्ञानाकल तक के पांच प्रमाताओं के रूप में और उनकी पांच शक्तियों के रूप में व्यापक भाव से ठहरा हुआ देखता देखता उसी को परिपूर्ण परमेश्वर के रूप में पहचानता हुआ स्वयं उसी में समा जाता है और अपने भीतर उसी आणवी परमेश्वरता के आवेश का अनुभव करता है । इस धारणा को एकादशी विद्या भी कहते हैं । (तं. आ., 10-107 से 113, 125, 126) ।

ऐ

परमेश्वर अपने अनुत्तर और आनंदमय स्वरूप के अभिमुख अपनी इच्छा के एक और विशेष चमत्कार की अभिव्यक्ति होती है जिसे मातृका का 'ए' नामक वर्ण अभिव्यक्त करता है । मातृका के उपासक साधक को भी ऐकार की उपासना के द्वारा अपने ही भीतर परमेश्वरता के उसी भाव का साक्षात् दर्शन होता है जिसके फलस्वरूप उसे सद्य: शिवभाव का शाम्भव समावेश हो जाता है । (तं.सा. पृ.12, तं.आ.वि. खं.-2, पृ. 103) ।

ओ

अ या आ अर्थात् अनुत्तरशक्ति या आनंदशक्ति के समक्ष उ या ऊ अर्थात् उन्मेष या ऊनता के आ जाने पर उनके संयोग से उत्पन्न होने वाली अवस्था को द्योतित करने वाला वर्ण । (तं.आ.वि.2, पृ. 106) । परमेश्वर अपनी उन्मेषशक्ति और ऊनता को अपने अनुत्तर या आनंदमय स्वरूप के अभिमुख लाकर जब अपना विमर्शन करता है तो उसकी परमेश्वरता के एक अतिविशेष चमत्कार की अभिव्यक्ति उसी के भीतर हो जाती है । उसी को 'ओ' यह वर्ण अभिव्यक्त करता है । मातृका की उपासना करने वाले साधक को भी ओकार की उपासना से परमेश्वरता के उसी चमत्कार की साक्षात् अनुभूति हो जाती है और उससे उसे शिवभाव का शाम्भव समावेश सद्य: हो जाता है ।

ओवल्लि

कौल संप्रदाय की साधना में उपास्य गुरुओं और उनकी शक्तियों तथा अन्य सभी प्रकार की उपास्य देवियों के रहस्यात्मक नामों को ओवल्लि कहते हैं । इनका विस्तारपूर्वक निरूपण कुलक्रीड़ा-अवतार आदि कौलिक आगमों में मिल

सकता है । तंत्रालोक के उनत्तीसवें आह्निक में तथा जयरथ कृत टीका में भी इनका थोड़ा सा उल्लेख आया है। तदनुसार इल्लाई, कुल्लाई, सिल्लाई, विज्जा,एरूणा, बोधई, मेखला इत्यादि रहस्यात्मक नाम ओवल्लि शब्द से अभिप्रेत है । चक्रात्मक मंडलपूजा में इनके स्थान नियत होते हैं । (तं.आ.आ. 29-29 से 39) ।

औ

स्फुट क्रियाशक्ति । अ या आ अर्थात् अनुत्तरशक्ति या आनंदशक्ति के समक्ष ओ या औ के आ जाने पर उनके संयोग से अभिव्यक्त होने वाली, स्फुट क्रियाशक्ति को द्योतित करने वाला वर्ण । (तं.आ., 3-96, वही पृ. 106) ।

ओकार से अभिव्यक्त होने वाली परमेश्वरता को जब परमशिव या शिव पुनःस्वाभिमुखता में ठहराकर विमर्शन करते हैं तो उनकी क्रियाशक्ति रूपिणी परमेश्वरता के परिपूर्ण स्वरूप के चमत्कार की अभिव्यक्ति हो जाती है । साधक को भी औकार की उपासना के द्वारा अपने भीतर परमेश्वरता के उसी परिपूर्ण चमत्कार की या साक्षात् अनुभूति हो जाती है । लिपि के आकार को दृष्टि में रखते हुए इस वर्ण को शृंगाटक अर्थात् सिंघाडा नाम दिया गया है ।

औन्मनस धाम

1. प्रलयलीला में पृथ्वी तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक समस्त निचले निचले तत्त्व वर्ग ऊपरी ऊपर के तत्त्वों में विलीन हो जाते हैं । समस्त तत्त्वों, प्राणियों और तत्त्वेश्वरों समेत सदाशिव आपके जीवन के अंत में शक्ति तत्त्व में विलीन होता है । शक्ति व्यापिनी में और व्यापिनी अनाश्रित शिव में । अनाश्रित भी अपने समय पर समता नामक परतरशक्ति में विलीन होता है । उस पद को सामनस्य पद कहते हैं । यहां तक कालगणना की जा सकती है । समना भी जिस पद में विलीन हो जाती है और जिस पद में किसी भी प्रकार की कालगणना हो ही नहीं सकती, जहां सूक्ष्मतर अकल्प काल का स्पर्श भी शेष नहीं रहता, उस पद को औन्मनस धाम कहते हैं । (तं.आ.वि. ख 5, पृ. 257-260) ।

2. प्रणव की उपासना में सूक्ष्मतर अवधान शक्ति के प्रयोग से मात्राकाल के भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर अंशों को अनुभव में लाते हुए एकमात्र ऊँकार की ध्वनि के बारह अंशों का साक्षात्कार किया जाता है । बिंदु (अनुस्वार) उनमें चौथा अंश होता है ।

उससे आगे आठ अंश और होते हैं । बिंदु का उच्चारण काल आधी मात्रा का होता है । उत्तर उत्तर अंश का उच्चारण काल पूर्व पूर्व अंश के उच्चारण काल का आधा आधा भाग होता है । इस तरह से समना अंशका उच्चारण काल मात्रा का 256वां भाग होता है उससे ऊपर वाले उन्मना नामक अंश काल स्पर्श से रहित है । ऐसी सूक्ष्म तर अवस्थाओं का दर्शन तीव्रतर अवधानशक्ति से संपन्न महायोगी ही कर सकते हैं ।

औन्मुख्य शक्ति

शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित्रूपता में विश्वरचना के प्रति जो तनिक सी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरंग या उमंग अभी उठने को ही होती है तो उसी अतिसूक्ष्म स्पंदन की अवस्था को औन्मुख्य कहते हैं । यही परमेश्वर की औन्मुख्य शक्ति कहलाती है । उदाहरणार्थ शांत रूप से स्थित जल में जब एकाएक तीव्र तरंग उभरने को ही होती है तो उसकी तीव्रता के उदय से पहले ही जल के भीतर जो एक अदृश्य सी अतिसूक्ष्म हलचल होती है उसे औन्मुख्य कहा जा सकता है । परमेश्वर में रहने वाली परमेश्वरता की गतिशीलता के वैसे ही प्रथम स्पंदन को औन्मुख्य कहते हैं । इसी को उच्छूनता, तरंग, ऊर्मि आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया गया है। (शि.दृ. वृ. पृ. 116) ।

कंचुक तत्त्व

पाश । परिपूर्ण एवं शुद्ध संवित्स्वरूप परमशिव को उसी के स्वातंत्र्य से पशुभाव तक पूरी तरह से ले आने वाले संकोचक तत्त्व । कला, विधा, राग, नियति एवं काल नामक ये पांच आवरक तत्त्व माया तत्त्व के ही परिणाम है । इन्हें पंच कंचुक कहते हैं । माया सहित इन आवरक तत्त्वों की संख्या छह मानी गई है । इसी मायादिषट्क को कंचुकषट्क कहा जाता है । इनके प्रभाव से परमशिव की सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता आदि शक्तियां किंचिज्ज्ञता, किंचित्कर्तृता आदि में परिणत हो जाती है । इस प्रकार जीवभाव में आने पर वह इन संकोचक तत्त्वों के प्रभाव से यह विश्वास कर बैठता है कि वह केवल अमुक अमुक कार्य को ही इतनी ही मात्रा में जानता हुआ आसक्त या अनासक्त बना हुआ, इतने समय में कर सकता है । (तं.सा.पृ. 81 से 83) ।

4-19 HRD/90

कंद

1. विश्व सृष्टि का मूल शक्तिमय स्वरूप । (स्व.तं. पृ. 2,57) ।

2. पद्म स्वरूप समस्त सृष्टि को अपने ही सामर्थ्य से अपने में ही अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली पारमेश्वरी इच्छाशक्ति का विश्रांति स्थान । कंद के उन्मेष अर्थात् प्रसार से ही अंकुर एवं नालस्वरूपा क्रमशः महामाया पर्यंत समस्त विशुद्ध सृष्टि तथा माया से पृथ्वी पर्यंत समस्त अशुद्ध सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है । (वही 37) ।

3. साधना के क्रम में शरीर में ही अभ्यास का आलंबन बनने वाला वह मूल स्थान जिस पर ध्यान केंद्रित करने पर शक्ति उद्बुद्ध होती है और जिसके ब्रह्मरंध तक पहुंचने पर साधक को अपने चिदानंद स्वरूप का साक्षात्कार होता है । (वही)

कंप

उच्चार योग की प्राण, अपान आदि पर की जाने वाली धारणा में आनंद की छह भूमिकाओं में से किसी भी भूमिका में प्रवेश करने से पूर्व प्रकट होने वाले पांच लक्षणों में से तीसरा लक्षण । उच्चार योग की किसी भी धारणा में विश्रांति होने के साथ ही साथ पहले अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है फिर देह उछलने लगता है । इन दो लक्षणों के पश्चात् प्रकट होने वाला लक्षण कंप कहलाता है । उच्चार योग के अभ्यास के तीसरे सोपान में जब देह का अभिमान पूर्णतया शांत होने लगता है तथा ऐसा होने पर जब अपने अंतः बल पर स्थिति प्राप्त होती है तो उस समय सारे शरीर में जो एक प्रकार की थरथराहट स्पष्टतया झलकती हुई अनुभव में आती है, उसे ही यहां कंप कहते हैं । (तं.सा. पृ. 40; तं. आ. 5-103) ।

करणयोग

शैवी साधना के आणव उपाय में देह धारणा को ही करणयोग कहते हैं । आणवोपाय में ध्यानयोग और उच्चार योग से नीचे करणयोग का स्थान आता है । इस योग में साधक देह के सूक्ष्म, स्थूल तथा करण – इन तीनों प्रकारों को क्रम से धारणा का आलंबन बनाता हुआ उन्हीं के साथ संपूर्ण प्रमेय जगत् के तादात्म्य को तीव्र भावना के द्वारा स्थापित करता है । इस धारणा को करणयोग कहते हैं । करण

साधन को कहते हैं । साधक का शरीर ही उसकी साधना का करण होता है । अतः यह योग करण योग कहलाता है । इस योग पर स्थिति हो जाने से साधक अपनी सर्वव्यापकता के भाव के अनुभव को प्राप्त करता हुआ और प्रमेय जगत् के साथ देह धारण से प्राप्त हुई संघट्टात्मकता को अपने संवित् स्वरूप में विलीन करता हुआ सभी कुछ को उसी परिपूर्ण रूप में ही देखने लग जाता है । ऐसा होने पर उसे शिवभाव का आणव समावेश हो जाता है । (तं.आ.वि.आ. 5-129) । इस करणयोग के अभ्यास से सद्यः ऐसी घटनाएं चित्त में घटती हैं जिनसे साधक पथभ्रष्ट भी हो सकता है । अतः इसे अत्यंत रहस्यात्मक कहा गया है । इसी कारण इसका स्फुट प्रतिपादन तंत्रालोक आदि में किया ही नहीं गया है । मुद्राओं का अभ्यास करणयोग ही होता है । कुंडलिनी योग को भी इसी कोटि में गिना जा सकता है ।

कला (पंचक)

तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं । प्रत्येक कला प्रायः कई एक तत्त्वों को व्याप्त करके ठहरती है । आणव-उपाय की कला-अध्वा की धारणा में जिन पांच कलाओं का आश्रय लेकर शिवभाव के आणव समावेश का अभ्यास किया जाता है वे इस प्रकार हैं :- निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शांता या शांति तथा शांतातीता या शांत्यातीता कला । इनमें से प्रथम चार कलाओं को क्रमशः पार्थिव, प्राकृत, मायीय और शाक्त अंड भी कहते हैं । (तं.सा.पृ. 109,110) ।

कला-अध्वन्

छत्तीस तत्त्वों को व्याप्त करके ठहरने वाली निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि पांच कलाओं को क्रम से आलम्बन बनाकर अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त करने का योग मार्ग । तत्त्व के सूक्ष्म रूप को कला कहते हैं । एक एक कला कई एक तत्त्वों को व्याप्त करके ठहरती है । कला अध्वा नामक साधना आणवोपाय की देशाध्वा नामक धारणा में आती है । (तं. सा. पृ. 109,111) । इसे पंचकला विधि या धारणा भी कहते हैं । दे. पंचकला विधि । एक एक कला में विद्यमान वर्णों को मंत्रों को, पदों को, तत्त्वों को तथा भुवनों को साधक भावना के द्वारा अपने देह के भीतर समा लेने के अभ्यास से अपने विश्वात्मक शिवभाव के समावेश का अनुभव करता है ।

कला तत्त्व

परिपूर्ण ऐश्वर्यशाली परमेश्वर की क्रियाशक्ति के संकोचक तत्त्व को कला तत्त्व कहते हैं । इस संकोचक तत्त्व के प्रभाव से पशु प्रमाता में किंचित् कर्तृत्व सामर्थ्य अर्थात् कुछ ही कर सकने की सामर्थ्य रहती है, वह किसी किसी ही क्रिया को कर सकता है, सभी कुछ नहीं कर सकता है । (शि.स.वा., पृ.43) । यह तत्त्व माया तत्त्व से विकास को प्राप्त हुए पांच कंचुक तत्त्वों में पहला तत्त्व है । इसे ही जीव की संकुचित क्रिया सामर्थ्य कहा जाता है । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 208-9) ।

कलातीत

निवृत्ति, प्रतिष्ठा आदि सभी पांचों कलाओं की कलना से भी परे ठहरने वाला परतत्त्व। परतत्त्व पूर्णतया शुद्ध, असीम एवं स्वतंत्र है । इस प्रकार के परतत्त्व के शुद्ध संवित् स्वरूप को ही कलातीत कहा जाता है । शिव तत्त्व से ऊपर सैंतीसवां परमशिव तत्त्व कलाओं की कलना से परे ठहरता है, उसे ही कलातीत कहा जाता है । (तं.सा.पृ. 110) ।

कारण

कारण पंचक

सृष्टि, स्थिति, संहार विधान तथा अनुग्रह नामक पांच पारमेश्वरी कृत्यों को क्रियान्वित करने वाले ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर तथा सदाशिव नामक पांच कारणों को कारण पंचक कहते हैं ।

कारण षट्क

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर,सदाशिव तथा अनाश्रित शिव को कारण षट्क कहते हैं। (तं.सा. पृ. 57) । बहिर्मुख स्पंदन के उन्मेष मात्र की अवस्था में स्थित शिव को ही अनाश्रित नाम दिया गया है। इसे शून्यातिशून्य दशा का अधिपति माना गया है। सृष्टि आदि करने में किसी काभी आसरा न लेने के कारण इसे अनाश्रित नाम दिया गया है ।

कार्ममल

संकुचित कर्तृत्व या कर्मकर्तृत्व का अपरिपूर्ण अभिमान तथा कर्मवासना रूपी मल । कार्ममल को संसृति का मूल कारण माना गया है । आणव तथा मायीय मलों द्वारा अपने पूर्ण प्रकाशात्मक तथा विमर्शात्मक स्वातंत्र्य से रहित हो जाने पर तथा द्वैत दृष्टिकोण के प्रकट हो जाने पर प्रमाता कार्ममल का भागी बनता है । कार्ममल के कारण प्रमाता को अपने शुद्ध स्वरूप से भिन्न जड़ स्वभाव देह, बुद्धि आदि पर अहंता का तथा इनकी क्रियाओं पर अपने संकुचित कर्तृत्व का अभिमान हो जाता है । उसका यही अभिमान कर्मवासना में परिणत हो जाता है । परिणामस्वरूप वह संसृति के भंवर में फंस जाता है । वस्तुतः परम शिव ही सर्वकर्ता है । परंतु इसके विपरीत अपने संकुचित स्वरूप पर ही संकुचित कर्तृत्व का अभिमान होना कार्ममल है । (ई. प्र. 3-2-4,5,10; मा.वि.वा. 1-314,15) ।

काल-अध्वन्

आणवोपाय की स्थान-कल्पना नामक धारणा में वर्ण, मंत्र और पद को आलंब न बनाकर की जाने वाली शैवी साधना में शिवभाव में समाविष्ट करने वाला एक आणव मार्ग । कालाध्वा की धारणा में साधक पद, मंत्र और वर्ण को क्रम से आलंबन बनाता हुआ समस्त काल परिमाणों को अपने श्वास प्रश्वास रूप प्राण के ही एक एक संचार के भीतर भावना के द्वारा देखता हुआ समस्त काल तत्त्व को व्याप्त कर लेता है । इसके सतत अभ्यास से वह काल के संकोच से मुक्त हो जाता है तथा परमशिव के कालातीत-रूप के समावेश को प्राप्त करता है । (तं.सा. पृ. 57, 61) ।

काल तत्त्व

क्रमरूपता को आभासित करने वाला संकोचक तत्त्व । माया तत्त्व से ही विकास को प्राप्त हुए पांच कंचुक तत्त्वों में से यह पांचवा कंचुक तत्त्व है । यह तत्त्व कला, विद्या आदि कंचुक तत्त्वों के प्रभाव से संकोच को प्राप्त हुई ज्ञान और क्रिया शक्तियों को और अधिक संकुचित करता हुआ उनमें क्रमरूपता के आभास को प्रकट कर देता है । इससे प्रमाता ऐसा सोचने लगता है कि उसने अमुक कार्य किया, कर रहा है या करेगा,वह था, वह यह या वह होगा आदि । इसी प्रकार प्रमेय पदार्थों में भी यह तत्त्व क्रमरूपता को प्रकट करता हुआ प्रमाता के व्यवहार को बहुत अधिक संकुचित कर देता है । (ई.प्र.वि., 2, पृ.208, तं.सा.पृ.80) ।

कालशक्ति

क्रमरूपता का आभास करवाने वाली पारमेश्वरी शक्ति । (तं.आ. 6-8) । परमेश्वर अपनी इसी शक्ति से अपनी परिपूर्ण अभेद दशा में भी भेद की सी दशा को आभासित करता हुआ काल को अवभासित करता है । पारमेश्वरी शक्ति जब क्रिया का अवभासन करती है तो एक क्रिया के अंगों में परस्पर तथा अनेकों क्रियाओं में परस्पर जो वैचित्र्य प्रकट होता है उसके आधार पर मापीय प्रमाता क्रमरूपतामय संबंध की कल्पना करता हुआ क्रमात्मक काल की कल्पना करता रहता है । ऐसी कल्पना का बीज परमेश्वर की जिस शक्ति में विद्यमान रहता है उसे कालशक्ति कहते हैं । (मा.वि.वा. 1-99, 100) ।

काल संकर्षिणी

शिव से लेकर पृथ्वी पर्यंत समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्टि का सृजन करने के कारण भैरव रूप वाली तथा इस प्रकार के पर-भैरव के साथ अभिन्न तथा अवभासित होने वाली परमशिव की नैसर्गिक पराशक्ति । इस शक्ति की स्पंदमानता के बिना कुछ भी आभासित नहीं हो सकता है । यही शक्ति समस्त विश्व की सारी कलना का स्रोत बनती हुई उसको स्फुटता प्रकट करती हुई पुनः उसे अपने में पूर्णतया आत्मसात् करती हुई शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संवित् रूप में चमकती रहती है । (तं.आ.आ. 3-234, वही वि. पृ.223) । परमेश्वर की परा, परापरी तथा अपरा नामक तीन मुख्य शक्तियों को व्याप्त करके ठहरने वाली उसकी स्वभावभूता पराकलनात्मिका शक्ति । (तं.सा. पृ1.28) ।

काली

परमेश्वर की कलन सामर्थ्य रूपिणी परमेश्वरता । कलना जिन कई एक प्रकारों से होती है, उन्हें – 1. क्षेप, 2. ज्ञान, 3. संख्यान, 4. गति, 5. नाद इत्यादि कहते हैं । (1) क्षेप अपने से भिन्नतया अवभासन करने को कहते हैं । (2) भिन्नतया अवभासित वस्तु के निर्विकल्प अवभासन को ज्ञान कहते हैं । (3) विकल्पन व्यापार को संख्यान कहते हैं । (4) प्रकाशास्वरूप पर प्रतिबिम्बवत् आरोपण करने को गति कहते हैं । (5) आभासित वस्तु को आत्म विमर्शन में ही विलीन करना नाद कहलाता है । इस प्रकार की पांच प्रकार की कलना समस्त

प्राणियों के विचित्र व्यवहारों में जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर चलाता रहता है उसे काली कहते हैं । तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहार में उच्चतम से लेकर निम्नतम प्राणियों से सम्बद्ध प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण के परस्पर व्यापारों को चलाने वाली परमेश्वरी शक्ति का नाम काली है । इसीलिए इसको एक दूसरा नाम 'मातृ सद्भाव' भी दिया गया है, क्योंकि सभी स्तरों में चलने वाला सारा प्रमातृ व्यापार काली के द्वादश स्वरूपों के अधिकार क्षेत्र में ही पूरा हो जाता है । काली को कालसंकर्षिणी भी कहते हैं । आगमों में इसे वामेश्वरी भी कहा गया है । व्यवहार में इसके बारह प्रकार प्रकट होते हैं जिन्हें द्वादश काली कहते हैं । (तं.आ., 3-234, वही. वि., पृ. 223, तं. सा., पृ. 28,30) । दे. वामेश्वरी चक्र, काली द्वादश ।

काली द्वादश

परमेश्वर समस्त प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाण व्यापारों को भेद, अभेद और भेदाभेद के क्षेत्रों में अपनी जिस शक्ति से चलता है उसे इन व्यवहारों की कलना कराने के कारण काली (दे.) कहते हैं । अभेदात्मक शक्ति क्षेत्र में इन व्यवहारों को चलाने वाली काली को परा देवी कहते हैं । विद्यादशा के भेदाभेदमय क्षेत्र में इन्हें परापरा देवी नामक काली चलाती है और मायादशा के भेदात्मक क्षेत्र में अपरा देवी नामक काली । ये तीन देवियां अपरोक्त व्यवहारों समेत इन तीन क्षेत्रों के प्रपंचों को धारण करती हैं । फिर जिस पराशक्ति के द्वारा परमेश्वर इन समस्त कलनात्मक व्यापारों की धारणात्मक क्रिया को अपने भीतर ही समाते हुए उसका अभेदमय विमर्शन करता है उसे काल संकर्षिणी (दे0) देवी कहा जाता है । यह चार काली नामक देवियां अपने स्वातंत्र्य से अपने अपने क्षेत्रों में सृष्टि, स्थिति और संहार को करती हुई तीन तीन रूपों में प्रकट होकर विविध वैचित्र्यपूर्ण कलनाओं को करती रहती हैं । इस प्रकार से एक एक के तीन तीन रूप बनते हैं और उसके फलस्वरूप इन कालियों की संख्या बारह बन जाती है । किसी किसी उपासना क्रम में इन बारह के एक समष्टि रूप को भी मानकर तेरह कालियों की उपासना होती है । इन कालियों की उपासना के द्वारा साधक अपने में इन कालियों को उद्बुद्ध करता है । तब ये कालियां समस्त प्रमातृ व्यापारों को अपने में इस तरह से धारण करती हैं कि मानों उनका ग्रसन करती हों । बारह कालियों में से पहली चार प्रमेय प्रपंचों का ग्रसन करती हैं । मध्य वाली चार कालियां

प्रमाण व्यापारों का और अंतिम चार प्रमातृ व्यापारों का । ऐसी ग्रसन लीला का अभ्यास करता हुआ योगी परिपूर्ण भैरव भाव से समाविष्ट होता हुआ उत्कृष्ट प्रकार के शाक्त समावेशों का अनुभव करता है। इस प्रकार से काश्मीर के शैवों की काली उपासना कोई बाह्य पूजा न होकर शाक्त योग का एक उत्कृष्टतर प्रकार है । (तं.सा., पृ. 28, 30) ।

कालोपाय

दे.काल–अध्वन् ।

कुंडलिनी

अपने तीन रूपों द्वारा विश्व को धारण करने वाली चित् शक्ति । तीन रूप इस प्रकार हैं :- 1. शक्ति कुंडलिनी 'परमेश्वर की वह पराशक्ति जिसके द्वारा वह अपनी परमेश्वरता को निभाता रहता है । 2. विश्व कुंडलिनी – जगत् के व्यवहार में प्रवृत्त वह पारमेश्वरी शक्ति जो समस्त ब्रह्मांड को भीतर से और बाहर से धारण करती हुई इसे सतत गति से चलाती रहती है । 3. प्राण कुंडलिनी – प्राणन–क्रिया की आधारभूत वह शक्ति जिस से प्राणियों के समस्त चेतनोचित व्यापार चलते रहते हैं । यह मुख्यतया ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है । यह कीटाणु से लेकर ब्रह्मा तक सभी प्राणियों में सदैव जागती ही रहती है । (तं.आ., खं. 2, पृ.140 से 142) ।

कुंडलिनी प्रबोध

साधक की प्राण कुंडलिनी के सामर्थ्य में सद्य: एक विशेष वृद्धि का हो जाना । वह विशेष वृद्धि इतनी आश्चर्यकारिणी होती है कि साधक यह समझ बैठता है कि मानो उसके भीतर कोई सोई हुई शक्ति जाग पड़ी हो । यह प्रबोध क्रिया–योग से भी होता है, ज्ञान योग से भी और इच्छा योग से भी । उत्तरोत्तर योग में प्रबोध सुगमता से, आयास राहित्य से होता है और दुष्परिणाम से मुक्त रहता है । क्रिया–योग द्वारा यत्नपर्वूक और आयास पूर्वक होता है, परंतु ज्ञानयोग और इच्छायोग के अभ्यास में स्वयमेव हो जाता है और कुंडलिनी की ऊपर नीचे गति भी वैसे ही हो जाती है ।

कुमारी

1. सतत रूप से क्रीडनशील परा शक्ति ।

2. पूर्ण भेदात्मक दृष्टिकोण के कारण कुत्सित बनी हुई संसृति को मारने वाली (कु : मारी) अर्थात् शांत करनेवाली प्रभुशक्ति।

3. सर्वज्ञता तथा सर्वकर्तृता से सर्वथा पूर्ण होने के कारण समस्त विशुद्ध एवं अशुद्ध सृष्टि को व्याप्त करनेवाली तथा इस कार्य में सहायक बनने वाली सभी शक्तियों की सामरस्यस्वरूप होने के कारण संपूर्ण कुत्सित संसृति को अपने में पूर्णतया विलीन कर देनेवाली पारमेश्वरी इच्छाशक्ति । (दे.) (शि.सू. वा. पृ. 16) ।

कुलचक्र

कुलाचार की रहस्यमयी साधना का गुप्त स्थान । किसी भवन में केवल कुलाचार के साधक उनकी शक्तियां, कुलगुरु और उसकी दूती प्रवेश करते हैं। वहां कुल प्रक्रिया की साधना के अनुकूल विविध मंडलों से सुशोभित एक विशाल मंडप को सजाकर उसके भीतर तांत्रिक प्रक्रिया से पंचमकारमयी रहस्य चर्या के द्वारा शक्ति की उपासना की जाती है जिससे साधकों को सद्यः शिवभाव की अभिव्यक्ति के साथ ही साथ विविध ऐश्वर्यों की भी प्राप्ति होती है । शक्तिपूजा के अनुकूल उस सजे हुए और समस्त उपयोगी सामग्री से युक्त तथा विविध मंडलों से सुशोभित साधना मंडप को कुलचक्र कहते हैं । उसी के भीतर चक्रयाग किया जाता है ।

कुलयाग

संपूर्ण भावजात को शिवशक्ति के स्फार के रूप में अनुभव करना, देखना तथा इसी के अनुसार व्यवहार करना । कुल को परमेश्वर की परमाशक्ति, स्वातंत्र्य, ओज, वीर्य इत्यादि कहा जाता है । समस्त विश्व इसी परमाशक्ति का ही विविध रूपों में प्रसार है । योगी समस्त विश्व को कुल के ही रूप में देखता हुआ जिस व्यवहार को करता है उस व्यवहार को कुलयाग कहते हैं। (तं.आ.आ. 29, 4 से 6) । इस याग की प्रायोगिक प्रक्रिया को रहस्य चर्या कहा जाता है । उसका उपदेश गुरु से अधिकारवान् शिष्य को ही मिलता है ।

कुलाचार

एक विशेष प्रकार का साधना मार्ग । मोक्षप्राप्ति के अनेकों मार्ग माने गए हैं । उनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मार्ग यह हैं – वेदाचार, शैवाचार (सिद्धांत शैव का भक्ति प्रधानमार्ग) वामाचार,दक्षिणाचार, कुलाचार, मताचार, कौलाचार और त्रिकाचार । (तं.आ.वि. 1 पृ. 48,49) । कुलाचार में भी उपासना पंचमकारों की सहायता से की जाती है । उससे त्वरित तन्मयता हो जाती है और सद्यः मुक्ति और मुक्ति दोनों ही फलों का लाभ होता है । कुलाचार का यह उपासना मार्ग एक रहस्य मार्ग है और कोई कोई विरले इंद्रियजयी वीर साधक ही इसको ग्रहण कर सकते हैं । वर्तमान युग में शायद ही कोई उसे अपना सके ।

कौलिकी शक्ति

अकुल परमशिव में ही समस्त कुलों को अभिव्यक्त करनेवाली उसकी नैसर्गिक स्वभावरूपा अभिन्नपराशक्ति । इसी को अनंदशक्ति, विसर्गशक्ति परिपूर्ण स्वातंत्र्यशक्ति आदि कहा जाता है । परमशिव को अकुल कहते हैं क्योंकि उसकी परा संविद्रूपता में समस्त शक्ति समूह, छत्तीस तत्त्व, संपूर्ण सूक्ष्म तथा स्थूल सृष्टि आदि केवल उसकी संवित् के ही रूप में चमकते रहते हैं। वहां किसी भी प्रकार के भेदाभेद या भेदका आभास नहीं होता है । परंतु परमशिव अपने निरतिशय आनंद से उद्वेलित होकर अपने में ही उन बाह्य रूपों में प्रतिबिम्ब न्याय से स्फुटित होता रहता है । यही उसका स्वरूप विमर्शन है । उसके इस अविदुर्घट कार्य को संपन्न करने वाली उसकी स्वभावभूता शक्ति को कौलिकी शक्ति कहते हैं । (तं.आ.आ. 3, 67 से 79)

क्रम

क्रमरुपता का आभास । क्रमरुपता क्रियाशक्ति के व्यापार में प्रकट होती है । वहां वस्तुओं का या घटनाओं का क्रम नियत होता है । अतः क्रियाशक्ति को भी क्रम कहते हैं । (ई.प्र. 2-1-1, 2, 3) ।

क्रम योग

1. क्रियायोग के अभ्यास से किया जाने वाला स्वरूप साक्षात्कार का एक उपाय । इस अभ्यास की परिपक्वता पर साधक को अपने शिवभाव पर आणव

समावेश हो जाता है । दे. आणव समावेश ।

2. क्रियायोग की सहायता से किया जाने वाला वह ज्ञानयोग,जिसमें द्‌वादश महाकालियों की उपासना के द्‌वारा अपने भीतर समस्त प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय रूप विश्व का संहरण किया जाता है और उससे अपने परिपूर्ण शिवभाव का शाक्त समावेश हो जाता है । इसे क्रमनय भी कहते हैं । यह त्रिक साधना का ही एक विशेष अंग है । यद्‌यपि जयरथ ने भक्ति विशेष और रुचि विशेष के कारण इसे पृथक् क्रम दर्शन नाम दिया है ।

क्रमनय

दे. क्रम योग ।

क्रम मुक्ति

क्रम से मुक्ति प्राप्त करने को क्रम मुक्ति कहते हैं । जो साधक सद्‌य: मुक्ति की अपेक्षा लोकांतरों के अभीष्ट ऐश्वर्यों का आस्वाद लेता हुआ ही पूर्ण मुक्ति की इच्छा रखे, वह क्रम से मुक्ति को प्राप्त करता है । ऐसे साधकों में किसी न किसी अंश में बहिर्मुखता के संस्कार बने रहते हैं । इस कारण ये अपने वैभव का आस्वाद भी लेते रहते हैं तथा पूर्ण मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयास भी करते रहते हैं । ऐसे साधक ऊर्ध्व भुवनों में ऐश्वर्य का भोग करते करते ही परमार्थ मुक्ति की ओर आगे बढ़ते जाते हैं ।

क्रियायोग

दे. आणव–उपाय ।

क्रियाशक्ति

परमशिव की पांचवीं अंतरंग शक्ति । उसकी वह शक्ति, जिसके द्‌वारा उसमें 'इदम्' अर्थात् प्रमेय अंश का स्फुट आभास हो जाता है और वह आगे की सृष्टि करने के लिए तैयार हो जाता है । इस शक्ति से अहंता के भीतर इदंता विशेष स्फुटतया चमकने लगती है । (तं.सा.पृ. 6) । यह शक्ति ईश्वर तत्व में अभिव्यक्त होती है । (शि. दृ. वृ. पृ. 37) । परंतु साधना क्रम में उसकी अभिव्यक्ति विद्‌या तत्व में मानी जाती है । (प.सा. 14) ।

क्रिया स्वातंत्र्य

परिपूर्ण परमेश्वरता । स्वेच्छा से अपने ही आनंद के लिए प्रत्येक कार्य को करने में पूर्ण स्वातंत्र्य । दे. क्रिया शक्ति, स्वातंत्र्य शक्ति ।

क्ष

क अर्थात् पृथ्वी तत्त्व एवं ष अर्थात् सदाशिव तत्त्व के संयोग से बनने वाला कूटस्थ बीज । यह मातृका का पच्चासवां वर्ण है ।

क्षण

मनुष्य को पलक झपकने में जितना समय लगता है उसका आठवां अंश क्षण कहलाता है । दो क्षणों को तुटि कहते हैं । (स्व.तं. 11-199,200) । वह सूक्ष्म अवधि, जिसमें एक विचार चित्त में ठहरता है, को भी क्षण कहते हैं । (तं.आ. 7-25) । भिन्न भिन्न स्तरों के प्राणियों के तथा भिन्न भिन्न जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओं में क्षण का परिमाण भिन्न भिन्न ही हुआ करता है । चित्त में क्रम से उदय होने वाले ज्ञानांशों से यही क्षणों की गणना की जाती है ।

क्षोभ

1. ज्ञेयधर्मता, उद्भव, उद्यंतृभाव अर्थात् बाह्य रूप में भासित होने की तीव्र इच्छा । प्रकाश एवं विमर्श की शुद्ध एवं परिपूर्ण सामरस्यात्मक अवस्था के बाद की तथा पूर्ण भेदात्मक विश्व के रूप में प्रकट होने से पूर्व का बाह्य रूप तथा आभासित होने की उत्कट इच्छा । परमशिव जब अपनी विमर्शात्मक आनंद शक्ति से पूर्णतया उद्वेलित होकर अपने ही स्वातंत्र्य से बाह्य रूप में आभासित होने के प्रति तीव्र इच्छायुक्त हो जाता है, तब उसमें उसकी सभी शक्तियां उद्वेलित हो जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि की रचना होती है । उसकी इस सर्वशक्तिविलोलता वाली अवस्था को क्षोभ कहते हैं, यद्यपि वस्तुतः यह क्षोभ न होता हुआ ही उस जैसा कहने मात्र में आता है ।(त.आ.वि. 2, पृ. 93,94) ।

2. प्राण, बुद्धि, देह आदि को अपना वास्तविक स्वरूप समझना । (स्प.वि. पृ. 39) । ऐसा क्षोभ वाणी के व्यवहार में क्षोभ ही कहला सकता है ।

3.	मूल प्रकृति में गुण वैषम्य से पहली हो जाने वाली वह हलचल, जिसके फलस्वरूप प्रकृति महत्तत्त्व में परिणत हो जाती है । यह क्षोभ भी वस्तुतः क्षोभ ही होता है । प्रकृति में यह क्षोभ भगवान श्रीकंठनाथ की प्रेरणा से आता है ।

खेचरी

1.	हठयोग की एक प्रक्रिया जिसके अभ्यास के सिद्‌ध हो जाने पर योगी आकाशचारी बन सकता है ।

2.	प्रबुद्‌ध साधक में जागी हुई शिव की परा शक्ति । यह शुद्‌ध बोध गगन में ही विचरण करती रहती है । शिवसूत्र वार्तिक में खेचरी अवस्था को शिवावस्था कहा गया है क्योंकि सिद्‌ध साधक इस अवस्था को प्राप्त करने पर शुद्‌ध चिदाकाश में विचरण करता रहता है (खे स्वचिद्‌गगनाभोगे चरणात्खेच रीति सा–शि.स.वा. पृ. 34) अर्थात् शुद्‌ध संवित् रुपता के ऐश्वर्य में ही विचरण करता रहता है अतः शुद्‌ध स्वरूप का साक्षात्कार करवाने वाली अवस्था होने के कारण खेचरी अवस्था शिवावस्था कहलाती है । (वही) ।

खेचरी शक्तियां (अपरा)

माया द्‌वारा मोहित साधकों के आनंद का व्यपोहन करते हुए उन्हें शून्यप्रमातृ भूमि में ही टिकाए रखने वाली शिव की शक्तियां । ये शक्तियां ख तुल्य अर्थात् आकाशतुल्य शून्य प्रमाताओं को घेर कर रखती हैं । इनका स्थान तथा कार्य क्षेत्र शून्य जीव तत्त्व ही है । उसी में ये विचरण करती हैं अतः खेचरी कहलाती हैं । (स्प.सं. पृ. 20) ।

खेचरी शक्तियां (परा)

परमेश्वर की शक्तियों का एक वर्ग । खे अर्थात् आकाशतुल्य शुद्‌ध बोधस्वरूप प्रमातृतत्त्व में विचरण करने वाली शिव की विशेष शक्तियां । ये शक्तियां सदैव जीव की संवित्‌रूपता में ही विचरण करती रहती हैं तथा तीव्र शक्तिपात से पवित्र बने हुए सुप्रबुद्‌ध साधकों को उनके सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व से युक्त शुदध संवित्स्वरूपता का बोध करवाती रहती हैं । (स्प.सं. पृ.20) ।

गतोपाय

दे. अनुपाय ।

गुण

शुद्ध संवित् स्वरूप परमशिव में उसकी स्वभावभूत ज्ञान, क्रिया एवं माया नामक तीन सर्वप्रमुख शक्तियां शुद्ध प्रकाश के ही रूप में रहती हैं । इस पूर्ण अभेद की दशा में शक्ति एवं शक्तिमान में अंशमात्र भी भेद नहीं रहता है । परंतु जीवभाव की दशा में आने पर ये शक्तियां जब मायातत्त्व तथा उसके कंचुक तत्त्वों के कारण अत्यधिक संकोच को प्राप्त कर जाती हैं और भेदभाव को लेकर के प्रकट हो जाती हैं तो इन्हें जीव की शक्तियां कहकर उसके गुण कहा जाता है । (ई.प्र. 4-1-4,5) ।

गुण त्रय

सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण का समूह । ये तीनों गुण परमेश्वर की ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, तथा मायाशक्ति के ही क्रमशः अति संकुचित रूप होते हैं । (ई.प्र. 4-1-4) ।

गुण तत्त्व

अंतःकरण एवं इससे आगे के तत्त्वों की सृष्टि होने से पूर्व प्रकृति की उस प्रक्षुब्ध अवस्था को गुणतत्त्व कहते हैं, जिसमें सत्त्व आदि तीनों गुण सामान्य रूप से ऐसे क्षोभ को प्राप्त करते हैं जिससे उनमें विषमता आ जाती है । समता और विषमता के बीच में स्थित क्षोभ की दशा को गुण तत्त्व कहा गया है । गुण तत्त्व के प्रकट होने के अनंतर महत्तत्त्व प्रकट होता है । (तं.सा.पृ. 84,5) । इस गुण तत्त्व के प्रेरक भगवान् श्री कंठनाथ हैं । दे. गुण ।

ज्ञानी और योगी आचार्य । उत्कृष्ट गुरु वह
ौर जिसे योग सिद्धियां भी प्राप्त हुई हों ।
ान देकर बंधन से मुक्त कर सकता है ।

योगसिद्ध गुरु शिष्य को तरह तरह के ऐश्वर्यों का उपभोग करा सकता है । केवल ज्ञानी गुरु को द्वितीय श्रेणी का माना गया है और केवल योगसिद्धियों से संपन्न गुरू को तृतीय श्रेणी का । (तं.आ. 14) ।

गुरुवक्त्र

विसर्ग पद, शक्ति चक्र (दे.) । (प.त्री.वि. पृ. 182) ।

गोचरी

वामेश्वरी शक्ति के वह समूह जो जीवों की बुद्धि, अहंकार और मन की भूमिकाओं में अर्थात् अंतःकरणों में विचरण करते रहते हैं। अंतःकरण में विचरण करने के कारण ये शक्तियां शक्तिपात से पवित्र हुए साधक के अंतःकरण को शुद्ध संकल्पों वाला बनाती हैं तथा शक्तिपात से विहीन साधकों को नीचे ही नीचे टिकाए रखती हैं । (स्प.स. पृ. 20) ।

घूर्णि

उच्चार योग की प्राण धारणा में छः में से किसी भी आनंद की भूमिका में पूर्ण विश्रांति पाने से पूर्व जिन पांच बाह्य लक्षणों का उदय होता है उनमें से अंतिम लक्षण । घूर्णि किसी भी आनंद की भूमिका पर पूर्ण विश्रांति की ही स्थिति होती है । इस स्थिति में पहुंचने पर साधक सभी अनात्म पदार्थो को अपनी संवितरूपता में विलीन करके अपने सर्वात्मक स्वभाव को देखकर तन्मय हो जाता है । इस अवस्था में जो लक्षण प्रकट होता है उसे घूर्णि अर्थात् झूमना कहते हैं । सर्वव्यापक स्वभाव वाला होने के कारण इसे महाव्याप्ति भी कहते हैं । (तं.सा. पृ. 40, तं.आ. 5-105) ।

घोर

भेदाभेद दृष्टिकोण प्रधान सदाशिव, ईश्वर तथा विद्या नाम के तीन तत्त्वों, तीन तत्त्वेश्वरों, उन तत्त्वों में क्रमशः रहने वाले मंत्र महेश्वरों, मंत्रेश्वरों तथा मंत्र नामक प्रमाताओं और यहां की समस्त विशुद्ध सृष्टि को अभिव्यक्त करने वाला परमशिव का परापर रूप । (स्व. तं. उ. 1 प1. 36) । उपनिषदों के मंत्रों में शिव के घोर,अघोर और घोरतर रूपों की स्तुति की गई है ।

घोरतरी शक्तियां

अंबा नामक पराशक्ति के एक रूप वामाशक्ति के अनंत शक्ति समूहों को घोरतरी शक्तियां कहा जाता है । इन्हें अपरा शक्ति भी कहा जाता है । ये शक्तियां जीवों को विषयभोग के प्रति ही प्रेरित करती रहती हैं और जब जीव उनमें अत्यधिक रूप से फंस जाते हैं तो उन्हें और नीचे गिराती रहती हैं । ये परमेश्वर की बंधक शक्तियां हैं । (मा.वि.तंत्र, 3-31) ।

घोर शक्तियां

रौद्री नामक शक्ति के अनंत शक्ति समूह, जिन्हें परापरा शक्तियां भी कहा जाता है । संसार में जीवों की संख्या के अनुसार ही रौद्री अनंत रूपों में प्रकट हो जाती है । ये शक्तियां जीवों को इस संसार में ही टिकाए रखने के लिए विचित्र प्रकार के सांसारिक सुखों को उनके लिए सुलभ बनाती रहती हैं । ये उन्हें धार्मिक कर्मों में भी प्रवृत्त करती रहती है, परंतु वे कर्म सकाम और भोगप्रद और निष्काम नहीं होते हैं । इसी के साथ ये शक्तियां जीवों को मोक्ष मार्ग से हटाती ही रहती हैं । (मा.वि. तं., 3-32) ।

चंद्र

दे. सोम ।

चर्या

सिद्धांत शैव में चर्या मंदिरों में की जाने वाली सेवा को कहते हैं और अट्ठाईस आगम शास्त्रों के चर्यापादों में उसी का सांगोपांग वर्णन मिलता है । परंतु काश्मीर शैव दर्शन में चर्या पदसे पंचमकारों के सदुपयोग वाली तांत्रिक साधना ही को लिया जाता है । चर्यामार्ग एक तलवार की धार पर चलने का मार्ग होता है । लाखों में कोई एक साधक इस पर चल सकता है । (प.त्री.वि. पृ. 281) । चर्या का प्रयोजन विषय भोग न होकर स्वचित्त परीक्षण ही होता है जब चर्या के पांचों अंगों का सेवन करते हुए भी साधक का चित्त तत्त्व से विचलित नहीं होने पाता है तो आगे संसार का कोई भी विषय उसे ज़रा भर भी विचलित नहीं कर सकता है । वह संसार के समस्त व्यवहारों को करता हुआभी अहोरात्र आत्मस्वरूप में ही रमण करता रहता है । भगवान कृष्ण जैसे साधक इस बात के उदाहरण हैं । (तं.आ.वि. 3, पृ. 269) ।

चित् शक्ति

परमशिव की शुद्ध प्रकाशरूपता। उसकी प्रमुख पांच अंतरंग शक्तियों में से प्रथम तथा समीपस्थ शक्ति । यह शक्ति परिपूर्ण, असीम एवं शुद्ध संविद्रूप परमशिव में केवल परिपूर्ण प्रकाशरूपतया ही चमकती रहती हे । उसकी अन्य समस्त शक्तियां भी इस शक्ति में प्रकाशरूपता में ही सदा चमकती रहती है । (तं. सा. पृ.6) । काश्मीर शैव दर्शन के मुख्य ग्रंथों में परमशिव में चित्शक्ति की अभिव्यक्ति मानी गई है । (शि.दृ.वृ. पृ. 23) । परंतु कहीं कहीं साधना के क्रम में उन तत्त्वों की मूल कारणभूत शक्तियों को ही उन उन तत्त्वों का आंतरिक स्वरूप मानते हुए भावना के अभ्यास का उपदेश किया गया है । तदनुसार परमार्थसार, तंत्रसार आदि में शिवतत्त्व के साथ ही चित्शक्ति को जोड़ा गया है । (प.सा.14) ।

चित्प्रतिबिम्बता

परमशिव के परम प्रकाशरूप चित् के भीतर परिपूर्ण संविद्रूप में स्थित समस्त विश्व का प्रतिबिम्ब रूप में बाह्यरूपतया प्रकट होना । संपूर्ण विश्व परमशिव के ही संविद्रूप चित् में प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब, प्रतिबिम्बित होने की क्रिया तथा चित् रूप दर्पण ये सभी उसी की लीला की भिन्न भिन्न भूमिकाएं हैं। अतः संपूर्ण विश्व के वैचित्र्य का उल्लास उसी की शुद्ध विद्रूपता में प्रतिबिम्बतया चमकता हुआ उसी में ठहरता है । इसे ही चित्प्रतिबिम्बता कहते हैं । (तं.आ.वि.खं.2, पृ. 4) ।

चिदानंद

1. दे. चिदाह्लाद ।

2. उच्चार योग की प्राण धारणा में अभिव्यक्त होने वाली आनंद की छह भूमिकाओं में से छठी भूमिका । सभी प्रमाण एवं प्रमेयों से संबंधित संपूर्ण विकल्पात्मक आभासों को उदान नामक प्राण के तेज में पूर्णतया शांत कर देने पर जब सभी आभासों सहित वह तेज भी प्रशमित हो जाता है, तब व्यान नामक प्राण-वृत्ति का उदय हो जाता है, जो व्यापक होने के कारण सभी व्यवच्छेदों से स्वतंत्र तथा सभी उपाधियों से परे होती हैं । इस प्रकार के व्यान नामक प्राण को आलंबन बनाकर जब उस पर विश्रांति प्राप्त कर ली जाती है तो चिदानंद की अनुभूति होती है । (तं.सा.पृ. 38; तं.आ.आ. 5-49) ।

5-19 HRD/99

चिदाह्लाद

परमशिव के प्रकाश एवं विमर्श का पूर्ण संघट्टात्मक स्वरूप । परमशिव का वह स्वभावभूत स्वरूप, जिसमें चित्, निवृति (आनंद), इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया – इन पांचों शक्तियों का परिपूर्ण सामरस्य हो । सभी अवस्थाओं से परे परिपूर्ण परमशिव में ये पांचों शक्तियां एकरस होकर चमकती हैं । परंतु शिवतत्त्व की अवस्था में शुद्ध एवं परिपूर्ण अहं, जिसके प्रकाश तथा विमर्श नैसर्गिक स्वभाव है, उसे ही चित् एवं आह्लाद का अर्थात् आनंद का समरस रूप माना जाता है । दूसरे किसी की भी अपेक्षा न होने के कारण यही पूर्ण स्वतंत्र स्वभाव वाले परमशिव की मुख्य परमेश्वरता है । इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इसी के भिन्न भिन्न रूप हैं ।अत: चित् और आनंद की ही प्रमुखता होने के कारण परमशिव के स्वभावभूत स्वरूप के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है । (शि.दृ. 1–3,4; शि.दृ.वृ., पृ. 6,7) ।

चैतन्य

आत्मा । (शि.सू. 1–9) । शरीर, प्राण, बुद्धि, शून्य आदि से उत्तीर्ण केवल परिपूर्ण तथा शुद्ध आत्मस्वरूप । संपूर्ण ज्ञानों और क्रियाओं में अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से विचरण करने में समर्थ शुद्ध चेतनामय आत्म का ही चैतन्य कहलाता है । (शि.सू.वृ. पृ.1) । चैतन्य चिति रूपसंवेदना है । यह संवेदना ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति रूप स्वातंत्र्य से युक्त होती है । चैतन्य ही भाव का प्राणदायक होता है । चैतन्य वह सारतत्त्व है जिसके कारण वस्तु चेतन होती है । अतएव हर एक भाव की आत्मा, अर्थात् उसकी भावता का मूल–आधार, चैतन्य होता है । समस्त प्रमेय जगत् का वास्तविक स्वरूप यह चैतन्य ही है । (शि.सू.वा. पृ. 3)।

छुम्म (छुम्मक)

कौलप्रक्रिया की साधना में उपयुक्त होने वाले रहस्यात्मक द्रव्यों आदि को जतलाने के वास्ते प्रयुक्त होने वाली रहस्यमयी आगमिक संज्ञाएं । उन रहस्य संज्ञाओं से ही जब उन चर्याक्रम में उपयुक्त होने वाले द्रव्य आदि का निर्देश किया जाता है तो दीक्षित साधक ही उनके तात्पर्य को समझते हैं, जनसाधारण उन्हें समझता नहीं । इस तरह से वह रहस्यचर्यामयी साधनाएं केवल अधिकारियों के ही हाथ में आती हुई दुरुपयोग से सुरक्षित रहा करती है ।

जगदानंद

आणव उपाय के उच्चार योग में प्राण की भिन्न भिन्न धारणाओं पर विश्रांति प्राप्त करने पर अनुभव में आने वाली आनंद की छह भूमिकाओं से उत्तीर्ण अपने परमार्थ स्वरूप का सर्वथा असीम और अनवच्छिन्न आनंद । जगदानंद परमेश्वर की उस अनुपम विशेषता को कहते हैं जिसकी महिमा से वह सदैव सृष्टि आदि पंचकृत्यों की लीला के अवभासन के प्रति उन्मुख बना रहता है । स्वात्म स्वरूप में सर्वथा पूर्ण विश्राांति को ही जगदानंद कहा जाता है । निजानंद, निरानंद आदि आनंद की छहों भूमिकाओं में ओतप्रोत भाव से स्थित, उदय और लय से विहीन, व्यवच्छेद रहित, सर्वव्यापक, शुद्ध, असीम एवं परम अमृत से परिपूर्ण अंतः विश्रांति का परमार्थ रूप ही जगदानंद कहलाता है ।। (तं.सा. पृ. 38,39; तं. आ.आ. 5, 50 से 52) ।

जप

अपने इष्टदेव से तादात्म्य स्थापित करने के लिए मंत्र के बारबार दोहराए जाने को जप कहते हैं । यह तीन प्रकार से किया जाता है - उपांशु, मानस तथा सशब्द ।

जप *उपांशु*

वह जप, जो जप करने वाले को ही सुनाई देता है, पास बैठा कोई व्यक्ति ऐसे जप को सुन नहीं पाता है । यह जप मुख के भीतर ही किया जाता है । (स्व. तं. प. 2-146) ।

जप *मानस्*

ऐसा जप जो जप करने वाले को भी नहीं सुनाई देता है । केवल मन में मानस विचार के द्वारा ही किया जाने वाला जप । (वही) ।

जप *सशब्द*

मुख से बाहर प्रसार करने वाले स्वर में किया जाने वाला जप, जिसे पास बैठे दूसरे व्यक्ति भी सुन सकते हैं । (वही 147) ।

जप (ज्ञानयोग)

शैवी साधना के त्रिक आचार के ज्ञानयोग की वह साधना, जिसमें साधक को यह विमर्श करना होता है कि 'समस्त विश्व में मैं ही व्याप्त हूँ, मैं ही यह सब कुछ हूँ तथा यह सभी कुछ मुझ में ही स्थित है।' इसी प्रकार अपने आपको शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रपू मानने तथा शुद्ध संविद्रूपता को अपना ही वास्तविक स्वरूप मानने के पुनः पुनः अंतः परामर्श को जप कहते हैं। (तं.सा. पृ.26)।

जाग्रत् अवस्था

वह अवस्था, जिसमें प्राणी स्थूल शरीरों के द्वारा बाह्य इंद्रियों और अंतःकरणों से स्थूल विषयों के साथ व्यवहार करते हैं। इस अवस्था में पुरुष अपनी श्रोत्रादि इंद्रियों के द्वारा शब्दादि इंद्रिय-विषयों के प्रति प्रसृत होता हुआ अर्थात् उन्हीं से समस्त व्यवहार को करता हुआ परिस्पंदित होता रहता है। (स्प. वि. पृ. 20)। इस प्रकार समस्त दृश्यमान प्रपंच जाग्रत् संसार है। शैवशास्त्र में जाग्रत् अवस्था को मेयभूमि कहा गया है। (तं.आ. 10-240)। योगी जनों ने इसे पिंडस्थ नाम दिया है।

जाल प्रयोग दीक्षा

त्रिक साधना की एक विशेष प्रकार की दीक्षा, जिसके द्वारा सामर्थ्यवान् गुरु किसी मरे हुए शिष्य को परलोक में ढूंढ निकालकर स्वयं यहां बैठा हुआ ही उसके पाशों का क्षय करता हुआ उसे मोक्ष मार्ग के प्रति प्रवृत्त करता हुआ अंततोगत्वा उसे पाशविमुक्त कर ही देता है। इस दीक्षा से आकृष्ट जीव याग स्थान पर रखी हुई कुशामयी प्रतिमा में या फल में प्रवेश करता है। उस प्रतिमा में स्पंदन भी होता है। उसी में शिष्य को ठहराकर गुरू उसके सभी पाशों को धो डालता है। तदनंतर पूर्णाहुति में उस प्रतिमा का जब होम कर देता है तो शिष्य मुक्त हो जाता है। (तं.सा. पृ. 168)।

जीव

अपने को सीमित और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति माननेवाला मायीय प्रमाता। अपनी प्रकाश रूपता से भिन्न प्रमेय पदार्थ को अर्थात् शून्य, प्राण,

बुद्धि, स्थूल शरीर आदि में से ही किसी एक को अपना वास्तविक स्वरूप माननेवाला प्राणी । आणव, कार्म तथा मायीय नामक तीनों मलों से पूर्णतया आवेष्टित सातवीं एवं सबसे निचली भूमिका का सकल प्राणी । (ई.प्र.वि., 2, पृ. 228, 234–37) ।

जीवन्मुक्त

1. अपनी शुद्ध, असीम एवं शिवरूपता का सतत विमर्श करने के कारण नियत देह आदि धारण करता हुआ ही सभी बंधनों से मुक्त रहने वाला प्राणी । वह समस्त विश्व को तथा इसके समस्त व्यवहार को एक नाट्य के दृश्य के तुल्य मानता है, अथवा इसे अपनी ही परिपूर्ण शक्ति का विलास समझता है । इस प्रकार वह समस्त सांसारिक व्यवहारों को करता हुआ भी उनसे मुक्त ही बना रहता है । (स्प. वि. पृ. 86) । यह ज्ञानी की जीवन्मुक्ति होती है ।

2. शिवभाव के परिपूर्ण समावेश के अभ्यास से उत्कृष्ट शिवयोगी शरीर में ठहरते हुए ही मुक्त हो जाने प, अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता को भी प्राप्त कर लेता है । ऐसी अवस्था में पहुंचने पर उसमें किसी किसी विषय के सृष्टि संहार आदि को कर सकने की शक्ति भी उदित हो जाती है । उससे वह अपनी परमेश्वरता का आनंद लेता रहता है । यह जीवन्मुक्ति ऐश्वर्यमयी होती है और योगसिद्ध ज्ञानी को प्राप्त होती है ।

ज्ञान

सच्चा ज्ञान ही मोक्ष है । अपनी शुद्ध, परिपूर्ण, असीम तथा ऐश्वर्यमयी संविद्रूपता का बोध ज्ञान कहलाता है । ज्ञान को बंधन स्वरूप अज्ञान(दे.) का विरोधी भाव कह कर भी अभिव्यक्त किया गया है । (तं:सा. पृ. 2) । अज्ञान और ज्ञान दोनों दो दो प्रकार के होते हैं 'पौरुष एवं बौद्ध । अपने वास्तविक स्वरूप की पूर्ण प्रत्यभिज्ञा के लिए पौरुष एवं बौद्ध, दोनों प्रकार के ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है । (दे. पौरुष एवं बौद्ध ज्ञान) ।

ज्ञानयोग

शैवी साधना के त्रिकयोग का वह प्रकार, जिसमें साधक परमेश्वर के शुद्ध एवं परिपूर्ण परमेश्वरात्मक स्वरूप का बारबार विकल्पात्मक निश्चय रूपी

ज्ञान का अभ्यास करते करते उस ज्ञान को अपने चित्त पर इतना गहरा अंकित करता है कि आगे बिना वैसे विकल्प ज्ञान अभ्यास के स्वयमेव उसे वैसा ही दीखता है। इस शुद्ध और सच्चे विकल्प ज्ञान के अभ्यास से जन्म जन्मांतरों से रुढ़ बने हुए अशुद्ध विकल्पों का क्षय हो जाता है और शुद्ध विकल्प ज्ञान पक्का हो जाता है। इस ज्ञानयोग को विकल्प संस्कार भी कहते हैं।

ज्ञानोपाय

दे. शाक्त–उपाय।

ज्ञानशक्ति

परमशिव की पांच अंतरंग शक्तियों में से चौथी शक्ति, उसकी आमर्शात्मक शक्ति। उसकी वह शक्ति, जिसके द्वारा वह शुद्ध संवित् स्वरूपता का शुद्ध 'अहं' के रूप में विमर्शन करने लग जाता है। इस विमर्शन में अतीव सूक्ष्म रूप से 'इदम्' अर्थात् प्रमेय अंश का धीमा सा आभास भी उभरने लगता है। इस तरह से शुद्ध चैतन्य के प्रकाश के भीतर प्रमेयांश का आभासन करने वाली परमेश्वर की शक्ति ज्ञान शक्ति कहलाती है। (तं.सा.पृ.6)। इस शक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति सदाशिव तत्त्व में होती है। (शि.दृ.वृ. पृ.37)। परंतु साधना क्रम में इसकी अभिव्यक्ति ईश्वर तत्त्व में मानी जाती है। (प.सा. 1–18)।

ज्ञानी (न्)

शैव साधक दो प्रकार के होते हैं। ज्ञानी (ज्ञानिन्) और योगी (योगिन्)। ज्ञानी अपने चित के संशयों को पूरी तरह से शांत करते हुए वास्तविकता के निश्चय को ठहरा कर उसपर पक्का विश्वास रखते हुए जीवन्मुक्त बन जाते है प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति पर जब उनका शरीर छूट जाता है तो वे शिवभाव में स्थित हो जाते हैं। उन्हें जीते जी शिवभाव के ऐश्वर्यों की अनुभूति नहीं होती है, वह तो योगियों को ही होती है। इस तरह से ज्ञानी सिद्धांत पक्ष के सच्चे निश्चय वाले साधक को कहते हैं।

ज्येष्ठा शक्ति

परमेश्वर की अनुग्रह लीला को चलाने वाली शक्ति। अंबा परमेश्वर की स्वभावभूत शक्ति है। ज्येष्ठा अंबा का ही एक रूप है। यह शक्ति प्राणियों को

उनके मूलभूत परमेश्वर भाव को पुन: पहचानने के लिए सतत प्रेरणा करती रहती है । इसीलिए इसे अनुग्राहिका शक्ति भी कहा जाता है । यह शक्ति जीवों के मोक्ष के सारे व्यवहार को चलाती रहती है । जीवों को शिवभाव पर पहुंचा देने वाली ज्येष्ठा के अनंत शक्ति समूहों को अघोर शक्तियां कहा जाता है । (तं.आ. 6–47; मा.वि.तं. 3–33)

तत्पुरुष

स्वच्छंदनाथ (दे.) के पांच मंत्रात्मक रूपों में से दूसरा रूप । प्रक्रिया मार्ग की दृष्टि से साधना के क्रम में शक्ति तत्त्व को आनंद शक्ति की अभिव्यक्ति का स्थान माना गया है । उस दृष्टि के अनुसार तत्पुरुष को शक्ति तत्त्व तथा उसकी आनंद शक्ति का स्फुट रूप माना गया है । (तं.आ.वि. 1 पृ.36–39) । पंचमुख स्वच्छंदनाथ के पूर्वाभिमुख रक्तवर्णमुख को तत्पुरुष मुख कहा जाता है । यह परमेश्वर का ईश्वर भट्टारक स्थानीय मंत्रात्मक रूप होता है । इस अवस्था को सौषुप्तवत् माना गया है । इसके उपासक साधक श्मशान में वास करने वाले विरक्त कापालिक होते हैं । (मा.वि.वा. 1–206 से 211, 213 से 2176, 230 से 233, 251) ।

184. **तत्त्व**

सामान्य भाव । भिन्न भिन्न पदार्थों में सामान्य रूप से रहने वाला तथा इस कारण उन्हें एक ही वर्ग में लाने वाला तथा उन सभी में व्याप्त होकर ठहरने वाला रूप । भुवन का अनुगामी सूक्ष्म रूप । (तं.सा. पृ. 109; ई.प्र.वि., खं.2, पृ.192)।

तत्त्व (एक)

सभी तत्त्वों से उत्तीर्ण तथा उन सभी का एकाकार सामरस्यात्मक परमशिव तत्त्व ।

तत्त्व (छत्तीस)

शैव दर्शन के रहस्य को समझाने के लिए तथा इस दर्शन के आणवोपाय की तत्त्वाध्वा नामक धारणा में उपयोग में लाने के लिए छत्तीस तत्त्वों की कल्पना की गई है । जो इस प्रकार है – शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया,

कला, विद्या, राग, काल, नियति तथा पुरुष से लेकर पृथ्वीपर्यंत पच्चीस तत्त्व जो सांख्य दर्शन के अनुसार ही हैं। (शि.सू.वा. पृ. 44–45)

तत्त्व–अध्वन्

आणवोपाय की देशाध्वा नामक धारणा में आलम्बन बनने वाला दूसरा तथा मध्यम मार्ग। भुवन अध्वा की भांति तत्त्व अध्वा भी प्रमेय अंशप्रधान ही है परंतु अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप वाला है। इस धारणा में छत्तीस तत्त्वों को क्रम से अपने शुद्ध स्वरूप से भावना द्वारा व्याप्त करते हुए अपने शिवभाव का समावेश प्राप्त किया जाता है। (तं.सा. पृ. 109–111)। एक एक तत्त्व को लेकर के उसे ही भावना के द्वारा सर्वभावमय समझने का पुनः पुनः अभ्यास किया जाता है। उससे सर्वव्यापक परिपूर्ण परमेश्वर भाव का आणव समावेश अपने में हो जाता है।

तत्त्वत्रय

काश्मीर शैव दर्शन में तत्त्वों का वर्गीकरण केवल वास्तविक वस्तुस्थिति को समझाने के लिए और तत्त्व–अध्वा नामक आणव योग की साधना के लिए किया जाता है। सूक्ष्मतर विश्लेषण से तत्त्वों की संख्या में वृद्धि होती है और एकीकरण की प्रक्रियाओं से या अतिस्थूल विश्लेषण से तत्त्वों की संख्या घट भी सकती है। तदनुसार त्रितत्त्व धारणा के अनुसार भी तत्त्व कल्पना निम्नलिखित प्रकारों से की जा सकती है।

1. नर तत्त्व, शक्ति तत्त्व और शिव तत्त्व। (प.त्री.वि. पृ. 1)।

2. आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्व। (मा. वि. तं. 2–4)। यथास्थान दे।

तत्त्वशुद्धि

गुरु दीक्षा द्वारा शिष्य को पाशों से छुटकारा देता हुआ जब उनका शोधन करता है तो पहले पृथ्वी तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक सभी का शोधन करता हुआ उन इकत्तीस तत्त्वों के पाशों से उसे छुड़ाता है। तदनंतर विद्या स्तर के तीनों तत्त्वों से उसे पार ले जाकर शक्ति तत्त्व पर पहुँचाकर शिव तत्त्व के साथ उसका एकीकरण कर देता है। क्रियामयी दीक्षा की इस प्रक्रिया को तत्त्वशुद्धि कहते हैं।

तन्मात्र

शुद्ध प्रकाशरूप प्रमातृ अंश के पारमेश्वरी मायाशक्ति के द्वारा आच्छादित हो जाने पर तमः प्रधान अहंकार से प्रमेयात्मक अति सूक्ष्म पांच विषयों की सृष्टि हो जाती है । वे शब्द, स्पर्श आदि पांच सूक्ष्म विषय पांच तन्मात्र कहलाते हैं । तन्मात्र का शब्दार्थ है 'केवल उतना ही' अर्थात् सर्वथा विभागरहित सामान्याकार सूक्ष्मतर विषय मात्र । जब ये ही सूक्ष्मतर विषय क्षोभ के कारण स्थूलता को प्राप्त करते हैं तो क्रमशः आकाश, वायु आदि पांच महाभूतों के रूपों में प्रकट हो जाते हैं। (तं.सा. पृ. 89-90) ।

तमोगुण

परमेश्वर में भेदावभासन के प्रति जो स्वभावभूत उन्मुखता रहती है उसे उनकी परामायाशक्ति कहते हैं । जब वही मायाशक्ति मायातत्त्व तथा उससे विकसित पांच कंचुकों के प्रभाव से अत्यधिक संकुचित बने हुए भेदमय दृष्टिकोण वाले संकुचित प्रमाता में आकर प्रकट हो जाती है तो उस अवस्था में उसे तमोगुण कहते हैं । शक्ति और शक्तिमान् ऐसा शब्द-प्रयोग अभेद दृष्टि से किया जाता है । मायीय प्रमाता भेद दृष्टि ही रखता है; अतः यहां गुण और गुणी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है । मूर्च्छा, निद्रा आदि अवस्थाओं में संकुचित जीव में जब कभी अपने स्वरूप की सत्ता के आनंद के आभास का भी अभाव बना रहता है, तो उस अवस्था में उसका ऐसा मोह रूपी स्वभाव ही तमोगुण कहलाता है । (ई. प्र. वि. 4-1-4, 6) । इस गुण के शेष स्वभाव सांख्य दर्शन के अनुसार ही माने गए हैं । परंतु सांख्य में इसे एक मात्र प्रकृति का गुण माना गया है । जबकि काश्मीर शैव में यह मूलतः पुरुष का ही गुण है और वही इसे प्रकृति पर संक्रांत कर देता है, जब गुणमय दृष्टिकोण से उसका विमर्शन करता है ।

तीव्र-तीव्र शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा किया जाने वाला अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा का सर्वोत्कृष्ट प्रकार (दे. शक्तिपात) । इस उत्कृष्ट शक्तिपात के माध्यम से जीव को सहजता में ही अपने शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण नैसर्गिक स्वभाव का ज्ञान हो जाता है और वह अपने भौतिक शरीर को तत्काल छोड़ देता है और अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता को प्राप्त कर लेता है । (तं.आ. 13-920; त.सा.पृ. 120) । इस अत्युत्कृष्ट शक्तिपात का पात्र बना हुआ साधक क्षणभर के लिए भी अपने जीवभाव के आभा समान

संकोच को सहन न करता हुआ तत्क्षण सर्वथा मुक्त हो जाता है ।(तं.आ. 13-200) । कभी कभी कोई कोई साधक इस प्रकार के शक्तिपात का पात्र बनकर अपने शिवभाव को पूरी तरह पहचानकर कुछ समय के लिए जीवन्मुक्त दशा में भी ठहरा रहता है । कोई चिरकाल तक भी उस अवस्था में ठहरा रहता है। इस तरह से इस शक्तिपात के भी तीन प्रकार माने गए हैं । (तं.आ. 13-131; तं.सा. पृ. 120) ।

तीव्र-मंद शक्तिपात

यह मंद शक्तिपात का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है । यह परमेश्वर द्वारा किया जाने वाला अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार है, जिसके प्रभाव से प्राणी में अपनी शिवरूपता को प्राप्त करने की अपेक्षा ऐश्वर्यमय भोगों को भोगने की इच्छा अधिक प्रबल होती है । ऐसा प्राणी किसी उत्कृष्ट गुरु द्वारा दी गई दीक्षा के सामर्थ्य से ही इस देह का त्याग करने के पश्चात् अपने अभिमत भोगों को भोगने के लिए तदनुकूल लोक को उत्क्रमण कर जाता है । वहां इच्छित भोगों को भोग लेने के पश्चात् अपनी शिवरूपता को क्रम से पूर्णतया पहचान लेता है । (तं.सा. पृ. 123, 124; तं.आ. 13-245,246; तं.आ.वि. 8, पृ. 152) । तीव्र मंद शक्तिपात वाले साधक को भोगों की इच्छा बहुत अधिक नहीं होती है । अतः थोड़े समय में ही उस इच्छा को सफल बनाकर वह मोक्ष के प्रति अग्रसर हो जाता है । उसे इस लोक के गुरु के अनुग्रह से ही मुक्तिलाभ होता है । पुनः किसी अन्य गुरु के अनुग्रह की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती है ।

तीव्र-मध्य शक्तिपात

यह मध्य शक्तिपात का उत्कृष्ट प्रकार है । इससे साधक को अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रति उत्पन्न हुए संशयों को सर्वथा शांत करने के लिए किसी उत्कृष्ट गुरु के पास जाने की उत्कंठा तो होती है परंतु दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी उसमें इतनी शीघ्रता से अपने शिवभाव का दृढ़ता से निश्चय नहीं हो पाता है । जब उसे बार बार के अभ्यास से अपने शिवभाव का दृढ़तया निश्चय हो भी जाता है तो फिर भी उसे शिवभाव की साक्षात् अनुभूति तब तक नहीं हो पाती जब तक प्रारब्ध कर्मवशात् उसका शरीर टिका रहता है । वह स्फुट अनुभूति उसे देह को त्याग देने पर ही प्राप्त होती है और तभी वह सर्वथा मुक्त हो जाता है । ऐसा साधक पुत्रक दीक्षा का पात्र बनता है । (तं.आ.वि; 8, पृ. 151; तं.सा. पृ. 123; तं.आ. 13-240, 241) ।

त्रुटि

1. दो क्षणों (दे.) को त्रुटि कहते हैं । (स्व.तं. 11-199) ।

2. प्रथम स्पंद । भट्ट कल्लट के अनुसार त्रुटिपात हो जाने से सर्वज्ञता तथा सर्वकर्तृता जैसी शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं । (शि. दृ. 1-8; मा.नि.वा. - 177) । परमशिव में जब सृष्टि के प्रति अति सूक्ष्म सी उमंग उठती है परंतु अभी सृष्टि नहीं हुई होती है उस प्रथम परिस्पंद को भी प्रथम त्रुटि कहते हैं । (शि.दृ.वृ. पृ. 10) । उसी त्रुटि के साक्षात्कार से साधक को सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता की प्राप्ति हो जाती है । परमेश्वर की परमेश्वरता भी अनुत्तर पद की अपेक्षा इस प्रथम त्रुटि में ही अभिव्यक्त होने लग जाती है ।

तुर्यदशा

शुद्ध ज्ञानमयी अवस्था । वास्तविक आत्मसाक्षात्कार की आनंदमयी दशा । यह अवस्था शुद्ध चैतन्यमयी होती है । इस अवस्था में आनंदमयी शुद्ध चेतना को ही प्राणी अपने आप समझता रहता है । उसे शून्य, प्राण, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों के प्रति आत्मता का अभिमान नहीं रहता है । वह इन सभी को तथा बाह्य जगत को भी शुद्ध संविद्रूपता से ही सना हुआ और व्याप्त हुआ देखता है । इस अवस्था के ऊपरी स्तरों पर आत्मा को अपने स्वभावभूत ऐश्वर्य की साक्षात् अनुभूति हुआ करती है । विज्ञानाकल से लेकर अकल प्राणी तक इसका उत्तरोत्तर विकास होता है । ये सभी प्राणी तुर्या की भिन्न भिन्न भूमियों में ठहरते हैं । (ई. प्र. 3-2-15; तं.आ. 10-264,265) । जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में यह अवस्था चैतन्य रूपता से व्याप्त होकर विद्यमान रहती है ।

तुर्यद्वार

तुर्यदशा के अनुभव का स्थान तथा तुर्यातीत दशा में प्रवेश करने के लिए द्वार का कार्य करने वाला ब्रह्मरंध्र ही तुर्यद्वार कहलाता है । (स्व. तं. उ, 2, पृ. 281) । इस तुर्यद्वार को साधना का आलम्बन बनाकर अभ्यास करने वाला योगी तुर्यदशा में प्रवेश कर जाता है, इसी कारण इसे तुर्यदशा का द्वार कहा गया है ।

तुर्यभू/तुरीया

दे. तुर्यदशा ।

तुर्यातीत

तुर्यादशा (दे.) से भी उत्तीर्ण पद । अनुत्तर एवं आनंद का परिपूर्ण सामरस्यात्मक परम पद । तुर्यदशा में शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूपता की अभिव्यक्ति मात्र होती है परंतु तुर्यातीत में तो शिव एवं शक्ति अर्थात् प्रकाश एवं विमर्श के परम समरस रूप परिपूर्ण आनंदात्मक संविद्रूपता की स्फुट अभिव्यक्ति होती है । यहां किसी भी प्रकार का कोई भी भेद संस्कार भी शेष नहीं रहता है, केवल पूर्ण एवं अनवच्छिन्न आनंद पर ही विश्रांति होती है । (तं.आ. 10-278 से 281, 297) । तुर्या में समस्त प्रमेय-प्रमाणात्मक जगत् शिवरूपता से अनुविद्ध हुआ अनुभव में आता है, परंतु तुर्यातीत में जगत् के अवभास से सर्वथा शून्य एकमात्र शुद्ध शिवरूपता ही चमकती है ।

तुर्यादशा

दे. तुर्यदशा ।

तुर्या सृष्टि

शुद्ध अध्वा (दे.) की सृष्टि । विज्ञानाकल से लेकर अकलपर्यंत शुद्ध विद्या दशा और शक्ति दशा के सभी प्राणी इसी सृष्टि के अंतर्गत आते हैं । इस सृष्टि के प्राणी प्रायः संवित् स्वरूप ही होते हैं । इस सृष्टि का संपूर्ण व्यवहार तुर्या दशा में होने वाले व्यवहार की भांति होता है । इस सृष्टि में ठहरने वाले प्राणियों का दृष्टिकोण भेदाभेद या पूर्ण अभेद वाला होता है ।

त्रयोदश तत्त्व धारणा

तेरह तत्त्वों को साधना का आलम्बन बनाकर की जाने वाली आणवोपाय की तत्त्वाध्वा नामक धारणा । इसे त्रयोदशी विद्या भी कहते हैं । साधक इस धारणा में सकल को आलम्बन बनाकर उसी के स्वरूप को अकल, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र (विद्येश्वर) विज्ञानाकल तथा प्रलयाकल नामक छः प्रमाताओं के रूप में और उनकी छह शक्तियों के रूप में सभी को मिलाकर बारह तत्त्वों में तथा आलम्बनभूत

सकल स्वरूप में व्याप्त होकर ठहरे हुए देखता है । इस प्रकार से उसे परिपूर्ण शिवरूपतया देखता हुआ अपने को भी तद्रूप ही देखता है । इस प्रकार के भावनात्मक अभ्यास से उसे परिपूर्ण शिवभाव का आणव समावेश प्राप्त हो जाता है जिसके अभ्यास से उसे पहले जीवन्मुक्ति और फिर विदेहमुक्ति का लाभ होता है ।

त्रिक (अपर)

नर, शक्ति तथा शिव नामक तीन तत्त्व । (प.जी.वि. पृ.2) । यह समस्त प्रपंच इन तीन तत्त्वों के त्रिक से बना हुआ है । यह निचला सांसारिक त्रिक है जिसमें साधक ठहरा है । (तं.आ.वि. 1 पृ. 20) नर जीव और जड़ जगत को कहते हैं । शिव इसका उद्गम-स्थान है । शक्ति इसके अवरोहण का और आरोहण का मार्ग है ।

त्रिक (पर)

प्रकाश, विमर्श तथा इन दोनों की अनुत्तर समरसता । ई.प्र.वि. 1-8-10,11) । परतत्त्व अर्थात् परमशिव का स्वरूप यही परत्रिक है । यह वह सर्वोत्तीर्ण त्रिक है जिसे साधक को प्राप्त करना होता है । (तं.आ.वि., 1, पृ.7) ।

त्रिक (परापर)

परमेश्वर की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नामक तीन सर्वप्रमुख शक्तियां । (शि० दृ० 1-3, 4) । जब साधक इन शक्तियों को अपने में अभिव्यक्त करके देख पाता है तो तभी उसे अपने परमशिवभाव पर पक्का विश्वास स्थिरतया जम सकता है । इस तरह से यह त्रिक नर को शिवपदवी तक पहुँचा देने वाला मध्यम त्रिक है, जिसे परापर त्रिक कहते हैं । (तं.आ.वि. 1, पृ. 16) ।

त्रिक आगम

दे. आगम (त्रिक) ।

त्रिक आचार

यह आचार ज्ञान प्रधान और योग प्रधान साधना मार्ग है । इस आचार में एक उत्कृष्ट अभेदमयी समता की दृष्टि को अपनाना होता है । अतः इसमें

समस्त विधिनिषेधों के प्रपंच ढीले पड़ जाते है । कुल-आचार की चर्यामयी साधना को यहां अत्यंत आवश्यक नहीं माना गया है । परंतु सर्वशिवतामयी दृष्टि के कारण उसका निषेध भी इस आचार में नहीं किया गया है । इस आचार को सर्वोत्कृष्ट आचार माना गया है,क्योंकि इसके उत्कृष्ट स्तर पर न तो मुद्रा, मंडल, होम आदि क्रियाकलापों की आवश्यकता पड़ती है और न ही मकारों के सेवन की । यहां तक कि अष्टांग योग की या हठ योग की भी आवश्यकता नहीं पड़ती । साधक सहज योग के और सच्चे तत्त्व ज्ञान के अभ्यास के द्वारा अनायास ही अपने परमेश्वरात्मक स्वभाव को त्रिक आचार के द्वारा पहचान सकता है । (प.त्री.वि. पृ. 91,92;163)

त्रिक-शास्त्र

दे. आगम (त्रिक) ।

त्रिकोण बीज

ए (दे.) ।अनुत्तर, आनंद तथा इच्छा के संघट्ट से बना हुआ एकार स्वरूप बीज । एकार में अनुत्तर तत्त्व की प्रधानता रहती है तथा इसमें इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया नामक तीन शक्तियां समरस अवस्था में ही रहती हैं । (शि.सू.वि. पृ. 30) । इसको इसलिए भी त्रिकोण बीज कहते हैं कि प्राचीन शारदा लिपि में इसका आकार एक ओर से त्रिकोणात्मक ही होता था । त्रिकोण जैसे आकार के कारण इसका नाम योनिबीज भी है ।

त्रितत्त्व धारणा

1. आणवोपाय की तत्त्व अध्वा की धारणा का वह प्रकार, जिसमें साधक मंत्र महेश्वर को धारणा का आलंबन बनाकर उसी को अकल प्रमाता के रूप में तथा उसकी शक्ति के रूप में तथा उसके अपने स्वरूप में व्याप्त होकर ठहरा हुआ देखा करता है । इससे वह उसे परिपूर्ण परमेश्वरमय देखता हुआ सद्यः अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त करता है । (तं.आ. 10-5, वही वि. पृ. 6; मा.वि. तं. 2-7) ।

2. आणवोपाय में अपने शिवभाव का समावेश प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाई जाने वाली वह धारणा, जिसमें नर, शक्ति तथा शिव को क्रम से आधार बनाया

जाता है । इस धारणा में नरभाव से शिवभाव में पहुंचने के लिए शक्ति ही प्रमुख साधन बनती है ।

3. आणवोपाय की ही एक और धारणा, जिसमें अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त करने के लिए आत्मकला, विद्याकला तथा शिवकला (दे.) को क्रम से अपने ही शुद्ध स्वरूप में देखते हुए भावना द्वारा व्याप्त करना होता है । (तं.सा. पृ.111) ।

त्रिब्रह्म

शाम्भवोपाय की मातृका की उपासना के क्रम में श, ष, और स, ये तीन वर्ण क्रम से शुद्ध विद्या तत्त्व, ईश्वरतत्त्व और सदाशिव तत्त्व के साक्षात्कार की अभिव्यंजना करते है । शुद्ध विद्या के अधिपति भगवान् अनंतनाथ हैं और शेष दो के ईश्वर भट्टारक और सदाशिव भट्टारक । ये तीनों ही इस प्रंपच का बृहंण अर्थात् विकास करते हैं अतः ब्रह्म कहलाते हैं । इनके साक्षात्कार के अभिव्यंजक ये तीन उष्म वर्ण इसीलिए त्रिब्रह्म कहलाते हैं । किसी किसी साधना में इन तीन वर्णो को महामाया, शुद्धविद्या और ईश्वर तत्त्व के अभिव्यंजक माना गया है । तब भी ये तीनों ब्रह्म ही हैं ।

त्र्यंबक मठिका

त्र्यंबकादित्य के द्वारा स्थापित की गई अद्वैत प्रधान शैव शास्त्र की मठिका । पंद्रहवें त्र्यंबकादित्य के पुत्र संगमादित्य के आठवीं शताब्दी में कश्मीर में ही स्थिरवास करने पर यह मठिका कैलास से आकर कश्मीर में ही स्थापित हो गई । (शि.दृ. 7, 114-119) । इस मठिका में भिन्न भिन्न आचार्य, ग्रंथकार और भाष्यकार प्रकट हुए, जिनमें से वसु गुप्त, भट्टकल्लट, सोमानंद, उत्पलदेव और अभिनव गुप्त प्रमुख हैं । अंतिम तीन गुरु अपने अपने समय में इस त्र्यंबकमठिका के प्रधान गुरु भी थे । इस मठिका के गुरु मुख्यतः त्रिक आचार के ही उपासक थे। शैवदर्शन की यह त्र्यंबक शाखा वर्तमान समय में भी किसी न किसी रूप में चल ही रही है ।

त्र्यंबकादित्य

काश्मीर शैव दर्शन के प्रवर्तक । कलियुग में अभेद दृष्टि को लेकर श्रीकंठनाथ की ही आज्ञा से अवताररूप में प्रकट हुए सिद्ध पुरुष । (तं.आ. 36-13) । इन्हें त्र्यंबक भी कहते हैं । आचार्य सोमानंद के अनुसार कलियुग के आगमन पर जिन सिद्ध पुरुषों के पास शैव दर्शन सुरक्षित था, वे कलापि ग्राम आदि अदृश्य स्थानों को चले गए, जिससे इस विद्या का उच्छेद हो गया । तत्पश्चात् अद्वैत शैव दर्शन को जनसाधारण को पुनः सुलभ करवाने के उद्देश्य से कैलास पर्वत पर विचरण कर रहे भगवान् श्रीकंठनाथ की प्रेरणा से मुनीश्वर दुर्वासा ने अपने मानस पुत्र त्र्यंबकादित्य द्वारा इस दर्शन के शिक्षण क्रम को पुनर्जीवित कर दिया । प्रथम त्र्यंबकादित्य कुछ समय तक कैलास पर्वत पर इस विद्या का प्रचार करते रहे । बाद में अपने ही मानस पुत्र द्वितीय त्र्यंबकादित्य को यह कार्य सौंप कर स्वयं सिद्धलोक के प्रति उत्क्रमण कर गए । यही क्रम चौदहवीं पीढ़ी तक इसी प्रकार चलता रहा । पंद्रहवीं पीढ़ी के त्र्यंबकादित्य ने बर्हिर्मुखतावश किसी ब्राह्मण कन्या का वरण कर संगमादित्य नामक पुत्र को उत्पन्न किया । (शि.दृ. 7, 107-119) दे. त्र्यंबकमठिका। इस अद्वैत शैव दर्शन का पूर्ण विकास काश्मीर मंडल में ही होने के कारण इस दर्शन का नाम काश्मीर शैव दर्शन पड़ा है । वस्तुतः इस दर्शन का प्राचीन नाम त्र्यंबक-शैव-दर्शन है ।

दिक्चरी

वामेश्वरी शक्ति के अधीन कार्य करने वाली वे शक्तियां, जो दिक् अर्थात् दिशाओं में या बाह्येन्द्रियों में विचरण करती रहती हैं । ये शक्तियां शक्तिपात से अनुगृहीत साधकों को अभेद भाव का ज्ञान करवाती है और स्वरूप साक्षात्कार करने में उनकी सहायक बनती हैं तथा अंततोगत्वा उन को अभेदी भाव का पूरा ज्ञान करवाती हैं और स्वरूप साक्षात्कार करने में उनकी सहायक बनती हैं परंतु शक्तिपात से विहीन प्राणियों को लोक व्यवहार रूपी भेद भाव में ही टिकाए रखती हैं । (स्प. सं., पृ. 20) ।

दिव्य संबंध

भगवान अनंतनाथ (दे.) के अनुग्रह से शास्त्र तत्त्व का विमर्शन भगवान श्रीकंठनाथ (दे.) और भगवान नंदी को हो जाता है । यह शास्त्र के अवतरण का तीसरा सोपान है । इस गुरु शिष्य संबंध को दिव्य संबंध कहते हैं। श्रीकंठनाथ और नंदी को शंकाएं मध्यमा वाणी से होती हैं और भगवान अनंतनाथ उनके समाधान का उद्‌बोधन उनमें पश्यंती वाणी के स्तर से करा देते हैं । उत्कृष्ट शिवयोगी को भी मध्यमा वाणी के माध्यम से स्वप्नतुल्य चिंतन की दशा में जो शंकाएं उभरती हैं उनका समाधान उसे तुर्यादशा में आरूढ़ हो जाने पर पश्यंती के माध्यम से मिल जाता है । भगवान श्रीकंठनाथ की दशा पर आरूढ़ होकर वे अपने से ही प्रश्न करते हैं और भगवान अनंतनाथ की दशा के समावेश से उन्हें समाधान मिल जाता है । शास्त्र के ऐसे गुरु शिष्यात्मक अवतरण क्रम को दिव्य संबंध कहते हैं। (प.त्री.वि., टि., पृ.12) ।

दिव्यादिव्य संबंध

भगवान् श्रीकंठनाथ अनुग्रहपूर्वक ऋषियों को मध्यमा वाणी द्‌वारा जिस उपदेश को करते हैं उसमें जो गुरु शिष्य संबंध बनता है उसे दिव्यादिव्य संबंध कहते हैं । इस गुरु शिष्य संबंध से शास्त्रतत्व ऋषियों तक पहुंच जाता है ! ऋषि लोग जिस तत्त्व का दर्शन मध्यमा वाणी के माध्यम से करते हैं उसी को आगे वैखरी द्‌वारा दूसरों को सुना देते हैं और लिपिबद्‌ध भी कर लेते हैं । शैवदर्शन के ऋषि प्रायः शिवयोगी ही होते हैं । उन्हें या तो भगवान् श्रीकंठनाथ के दर्शन होते हैं और उनके उपदेशों को वे सुन लेते हैं, नहीं तो भगवान् श्रीकंठनाथ के अनुग्रह से उन्हें उस दशा के समावेश से स्वयं शास्त्र तत्त्वों का उद्‌बोध हो जाता है । इस सीढ़ी पर पहुंचे हुए शास्त्रोपदेश के गुरु शिष्य क्रम को दिव्यादिव्य संबंध कहते हैं । इस संबंध द्‌वारा शास्त्र तत्त्व श्रीकंठनाथ से भी नंदिरुद्र, स्कंद आदि उच्चतर देवगणों को प्राप्त हो सकता है । उसका माध्यम मध्यमा वाणी ही होती है, जिसका प्रयोग इन देवगणों के स्वप्न संसार में होता है । (प.त्री.वि., टि.पृ.12) ।

दीक्षा

अपने शुद्‌ध संवित् स्वरूप का ज्ञान करवाने वाला तथा पशुभाव अर्थात् भेदमय प्रपंच को ही वास्तविक रूप मानकर उसी से लिप्त रहने के भाव को नाश

6-19 HRD/99

करने वाला गुरु कृत उपदेश संस्कार आदि की क्रिया तथा इस प्रकार से ज्ञान का दान । ज्ञान प्राप्ति के उपाय का गुरु द्वारा दिया गया उपदेश । काश्मीर शैव दर्शन में दीक्षा के बहुत से ऐसे प्रकारों का वर्णन मिलता है जिनकी सहायता से गुरु शिष्य के अंतस्तल में जमे हुए मलों को धो डालता है और उसे यथार्थ ज्ञान का उपदेश कराता है । दीक्षा के कुछ प्रकार ये हैं – समयदीक्षा, पुत्रकदीक्षा, निर्वाणदीक्षा, प्राणोत्क्रमणदीक्षा, जालप्रयोगदीक्षा आदि ।

दुर्वासा

वर्तमान कलियुग में अद्वैत शैव दर्शन के शिक्षण क्रम को पुनः प्रचलित करने वाले महामुनीश्वर भगवान् श्रीकंठनाथ के एक साक्षात् शिष्य । सोमानंद के अनुसार अति प्राचीन काल से चली आ रही शैवदर्शन की रहस्य विद्या के कलियुग में लुप्तप्राय हो जाने के कारण श्रीकंठनाथ की आज्ञा से दुर्वासा ने अपने त्र्यंबकादित्य नामक शिष्य के द्वारा इस दर्शन की सिद्धांत विद्या और साधनाक्रम को पुनः प्रवर्तित करवाया । (शि.दृ. 7–107 से 111) । दे. त्र्यंबकादित्य ।

दूती

कौल साधना में कुलगुरु जिस विविध गुण–गणों से विभूषित साधिका को अपनी शक्ति के रूप में अपनाकर उसकी सहायता से चर्याक्रम की साधना का अभ्यास करता है और उस अभ्यास के द्वारा त्वरित गति से ऐश्वर्य और मोक्ष दोनों फलों को अनायास ही प्राप्त करता है वही दूती है । दूती के सहयोग के बिना कौलिक साधना की सिद्धि में बहुत अधिक समय लगता है । अपने परिपूर्ण शिवभाव के ज्ञान को शिष्यों में संक्रांत करने में भी दूती का सहयोग सद्यः फलप्रद बनता है । गुरु उस ज्ञान को दूती में संक्रांत कर देता है और दूती उसे शिष्यों में संक्रांत करती है । स्त्री में ज्ञान को सद्यः ग्रहण करने की सामर्थ्य होती है और उसे दूसरों को सद्यः ग्रहण करवाने की सामर्थ्य भी होती है । अतः कौल गुरु शिष्यों में ज्ञान को स्वयं अपने से संक्रांत करने के बदले दूती के माध्यम से ही ऐसा करता है । (तं.आ.वि. 1 पृ. 32–35) । त्रिक साधना में दूतीयाग किया जाए तो निषेध भी नहीं; न भी किया जाए तो उसके बिना भी शिष्य पर तीव्र अनुग्रह किया जा सकता है ।

दृक्

चेतना । चित्शक्ति । ज्ञान । चेतना सदा स्वयं अपने ही प्रकाश से चमकती रहती है । तभी तो एक अबोध प्राणी भी अपनी सत्ता को अवश्य जानता है और उस पर अटल विश्वास को बनाए रखता है । इस तरह से चेतना का स्वयं अपना दर्शन भी होता है और साथ ही अपने भीतर प्रतिबिंबित विषयों का भी दर्शन उसे होता रहता है । उसके इस दर्शन सामर्थ्य के कारण उसे दृक् कहते हैं । विषय ज्ञान चेतना का ही स्पंदन होता है ।

देवीचक्र

दे. शक्ति चक्र ।

देश-अध्वन्

आणवोपाय में स्थान कल्पना नामक धारणा में आलंबन बनने वाले कला, तत्त्व और भुवन - इन तीन को देशाध्वा कहते हैं । कला तत्त्व के सूक्ष्म रूप तथा एक एक तत्त्व में कई कई भुवन आते हैं । स्थान कल्पना की इस देशाध्वा-धारणा में भुवन, तत्त्व और कला को क्रम से आलंबन बनाते हुए स्थूल रूप को भावना द्वारा सूक्ष्म रूप में विलीन करने की धारणा का अभ्यास किया जाता है । तदनंतर सारे देशाध्वा को अपने ही शरीर में विलीन करने की धारणा का अभ्यास किया जाता है फिर देह को प्राण में, प्राण को बुद्धि में, बुद्धि को शून्य में तथा उसे भी संवित् में विलीन करने के अभ्यास से परिपूर्ण संवित्रूपता का आणव समावेश हो जाता है । (तं.सा. पृ.63) । इस अभ्यास से साधक देशकृत संकोच से मुक्त हो जाता है ।

देशोपाय

दे.देश-अध्वन् ।

देह प्रमाता

दे. सकल ।

दौतविधि

दूतीयाग । रहस्यचर्या । कुल आचार में शिष्यों को अनुग्रह द्वारा सद्यः शिवभाव का साक्षात्कार जिस विधान से किया जाता है उसे दौतविधि या दूतीयाग कहते हैं । कुलगुरु अपनी शक्ति के समेत और समस्त अनुग्राह्य शिष्यों और उनकी शक्तियों के समेत एक गुप्त भवन में याग का प्रबंध करते हैं । उसे कुलचक्र कहते हैं । उस कुलचक्र में शक्तियों की पूजा देवी मानकर की जाती है और उस पूजा में पंचमकारों की भेंट और सेवन किये जाते हैं । गुरु अपने दिव्य ज्ञान को अपनी शक्ति में संक्रांत करता है और उसकी प्रेरणा से शक्ति उस ज्ञान को शिष्यों के अंतःकरण में संक्रांत करती है । इस तरह से शिष्यों को अपने शिवभाव का साक्षात्कार करा देने की विधि को दौतविधि कहते हैं । (तं.आ.आ. 29)

द्वादशकाली

दे. काली (द्वादश) ।

द्वादशांत

प्राणशक्ति के उदय एवं विश्रांति का स्थान । (तं.आ.वि. 4 पृ. 157) ।

द्वादशांत आंतर

अपान नामक प्राण का नासिका छिद्र से बारह अंगुल भीतर हृदय में विश्रांति का स्थान । साधना के क्रम में इस विश्रांति के क्षण में शून्य भाव की भावना की जाती है । (वि.भै. 51) ।

द्वादशांत उर्ध्व

प्राणशक्ति का ब्रह्मरंध्र से बारह अंगुल ऊपर विश्रांति का स्थान । (वि. भै. 22) । इसकी अनुभूति योगियों को ही होती है।

द्वादशांत बाह्य

नासिका छिद्र से बारह अंगुल बाहर प्राणवायु का विश्रांति स्थान ।

द्वैत आगम

शैव आगमों के तीन वर्ग हैं । उनमें से दस आगम, जो दक्षिण भारत में अधिक प्रचलित हैं, शिव आगम कहलाते हैं । इन आगमों का उपदेश ईशान आदि यंत्र शरीरों के द्वारा स्वच्छंदनाथ शिव ने किया है । अवर अधिकारियों के हित के लिए भेदमयी दृष्टि को लेकर के इन आगमों का उपदेश किया गया । इन्हें दक्षिण में भी शिव आगम ही कहते हैं परंतु मालिनी विजया वार्तिक में पृ. 38 इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि ये आगम द्वैतदृष्टि प्रधान हैं । इन आगमों के आधार पर जिस सिद्धांत शैव का विकास तमिल देश में हुआ, उसे द्वैत शैव कहते हैं ।

द्वैत–शैव

1. पाशुपत शैव दर्शन पशु,पति और पाश इन तीन तत्त्वों की स्वतंत्र सत्ता को मानता है और मोक्ष दशा में भी जीव की पृथक् सत्ता को स्वीकार करता है, अतः यह शैव दर्शन द्वैत शैव है ।

2. सिद्धांत शैव में भी मोक्ष दशा में जीव की अपनी पृथक् सत्ता को माना गया है । शिव में जीव के लय को नहीं माना गया है, अतः वह शैवदर्शन भी द्वैत शैव है,यद्यपि द्वैताद्वैत की ओर झुकता है ।

3. कलियुग में भगवान् श्रीकंठनाथ की आज्ञा से शैव शास्त्र के पुनः प्रचार के लिए जो तीन सिद्ध पृथ्वी पर अवतार लेकर प्रकट हुए, उनमें से अमर्दक नामक सिद्ध ने अवर कोटि के अधिकारियों के लिए भेदमयी दृष्टि से जिस शैव दर्शन का उपदेश किया उसे द्वैत शैव कहते हैं । (तं.आ.वि. 1 पृ. 26) । इस समय उसका न तो कोई वाङ्मय ही मिलता है और न कोई संप्रदाय या मठ ही। अभिनवगुप्त के समय उस मठिका के प्रधान गुरु वामनाथ थे । (तं.आ. 37–60) ।

द्वैताद्वैत आगम

भगवान स्वच्छंदनाथ के ईशान आदि मंत्र शरीरों के द्वारा अट्ठाईस रुद्र आगमों का उपदेश किया गया । उन्हें दक्षिण भारत में भी रुद्र आगम ही कहते हैं। काश्मीर शैव शास्त्र के अनुसार इनआगमों का उपदेश भेदाभेदमयी दृष्टि से मध्यम अधिकारियों के लिए किया गया है, अतः ये ही द्वैताद्वैत आगम हैं । इनके नाम तंत्रालोक की टीका में प्रथम खंड के पृ. 40 पर दिए गए हैं । इनमें से बहुत से अब भी दक्षिण भारत में प्रचलित हैं ।

द्वैताद्वैत शैव

1. कलिकाल में इस संसार में शैव दर्शन को पुनः प्रचलित करने के लिए भगवान् श्रीकंठनाथ ने जिन तीन सिद्धजनों को अवतार के रूप में पृथ्वी पर उतार दिया, उनमें से श्रीनाथ नामक सिद्ध ने मध्यम बुद्धि वाले अधिकारियों के हित के लिए द्वैताद्वैतमयी दृष्टि को अपनाते हुए जिस शैवदर्शन का उपदेश किया उसे द्वैताद्वैत शैव या भेदाभेद शैव कहते हैं । उस दर्शन की परंपरा अभिनवगुप्त के युग तक चलती रही । उस समय उस संप्रदाय के प्रधानगुरु महेंद्र राज थे (त.आ. 37-60) । आजकल वह शाखा लुप्त हो चुकी है ।

2. श्रीकंठ शिवाचार्य के अभेदी परिणामवाद को भी द्वैताद्वैत शैव माना जा सकता है क्योंकि वह एक प्रकार का शैव विशिष्टाद्वैत है ।

धी तत्त्व

दे. बुद्धि तत्त्व ।

ध्यान (ज्ञानयोग)

शैवी साधना के ज्ञानयोग के उस उपाय को भी ध्यान कहते हैं जिसमें साधक भावना या इंद्रियों द्वारा देखे गए सभी भावों तथा अभावों को सभी के रूप में अभेद भाव की दृष्टि से देखता है । जिस किसी भी भाव या पदार्थ को जो कोई भी इंद्रिय देखती है इस देखने या भाव ग्रहण करने की प्रक्रिया में शिवता ही लक्षित होती है । इसी प्रकार से प्रत्येक प्रकार की भावना में तथा सभी आभासों में शिवता का ही पुनः पुनः अंतःविमर्शन करना ही ज्ञानयोग वाला ध्यान है । (शि.दृ. 7-78 से 80) ।

ध्यानयोग (आणव योग)

शैवी साधना के आणव-उपाय में बुद्धि को आलंबन बनाकर जिस धारणा का अभ्यास किया जाता है उसे ध्यानयोग कहते हैं । यह आणव उपाय का सर्वोच्च योग है । इस धारणा में साधक को प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय को अपने अनुत्तर संवित् स्वरूप में भावना द्वारा एक रूप करके सारे प्रपंच को उसी परिपूर्ण संवित् के द्वारा सृष्ट, स्थित, संहृत आदि रूपों में देखना होता है (तं.सा. पृ.36) ।

इस योग के अभ्यास से अपने पंचकृत्यात्मक ऐश्वर्य पर साधक को पक्का विश्वास भी हो जाता है और शिव भाव का आणव समावेश भी हो जाता है । वह परिपूर्ण संवित् द्वादश (बारह) काली नामक शक्ति चक्र की स्वामिनी होती है और जलती हुई आग की तरह प्रत्येक प्रमेय विषय को अपने साथ एक कर देती है ।

ध्यामल

अस्फुट । ईश्वर दशा और सदाशिव दशा, दोनों में ही प्रमाता को अपने अहं स्वरूप चित् प्रकाश के भीतर ही इदं अंश रूप प्रमेय का भी आभास हो जाता है और वह 'अहमिदम्' या 'इदमहम्' ऐसा विमर्श करता है । अंतर इतना होता है कि ईश्वर दशा में इदं अंश अतीव स्फुटतया प्रकट हो जाता है जबकि सदाशिव दशा में अहं अंश के प्रकाश के भीतर उसकी एक अस्फुट छाया जैसी झलकती है । प्रमेय तत्त्व के इस अस्फुट आभास को ध्यामल आभास कहते हैं। (ई. प्र.वि. 31–3; ई.प्र. वि. 2, पृ. 196) ।

ध्वनियोग

आणवोपाय में करणयोग के नीचे ध्वनि योग का स्थान है । इसे वर्ण योग भी कहते हैं, क्योंकि इस योग में संपूर्ण वर्णो की सामरस्यात्मक ध्वनि को आलंबन बनाकर साधक शिवभाव का समावेश प्राप्त करता है । इस सामरस्यात्मक ध्वनि को नाद कहते हैं । इस नादात्मक ध्वनि में वर्णो की स्वतंत्र सत्ता पूर्णतया शांत हो जाती है। क से म पर्यंत सभी वर्ण एवं उनसे संबंधित आभासों को समरस रूप में भावना द्वारा देखने के अभ्यास से जब इन्हें अपनी शुद्ध संवित्रूपता में विलीन कर दिया जाता है तो साधक अनुत्तर संवित्स्पर्श का अनुभव करता हुआ शिवभाव के आणव समावेश को प्राप्त करता है । (तं.सा. पृ. 42) ।

नर तत्त्व

त्रिकशास्त्र की त्रितत्त्व कल्पना में जड़ तत्त्व को नर तत्त्व कहते हैं । नर का अर्थ है मायीय प्रमाता । मायीय प्रमाता या तो स्थूल शरीर को, या प्राण को, या बुद्धि को या शून्य को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में अपना आप समझता है । ये सभी पदार्थ जड़ हैं । अतः इस मायीय प्रमाता को जड़ तत्त्व में गिनते हुए नर तत्त्व कहा जाता है । यह सारा जड़ जगत् भी नर तत्त्व में ही गिना जाता है । इस तरह से जीव और उसका जगत् नर तत्त्व कहलाता है । (प.त्री.वि. पृ. 73,74) ।

नरोपाय

आणवोपाय का एक और नाम । जीव के समेत सभी जड़ तत्वों को त्रिक प्रक्रिया में नर तत्त्व कहते हैं । आणव उपाय में इन जड़ तत्त्वों को ही धारणा का आलंबन बनाया जाता है, इस कारण इस उपाय को नरोपाय भी कहते हैं । नर तत्त्व का स्फुट आभास इस भूमिका में होता है । आणव योग को भी प्रारंभ में भेद का आश्रय लेकर ही अभ्यास का विषय बनाया जाता है । इस कारण से भी इसे नरोपाय भी कहते हैं ।भेदोपाय भी इसका एक और नाम है ।

नवतत्त्वधारणा

1. आणवोपाय की तत्त्व-अध्वा नामक धारणा में नौ तत्त्वों को आलम्बन बनाकर की जाने वाली साधना । इस धारणा में विज्ञानाकल को आलंबन बनाकर उसी को अकल, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर तथा मंत्र (विधेश्वर) नामक चार प्रमातृ तत्त्वों के रूप में तथा इनकी चार शक्तियों के रूप में देखना होता है । उससे ये आठ तथा आलंबन का स्वरूप सभी एकमात्र शिवरूपतया चमक उठते हैं । उससे साधक को शिवभाव का आणव समावेश हो जाता है । इस धारणा को नवमी विद्या भी कहते हैं । (तं.आ. 10-110 से 113,125,126) ।

2. आणवोपाय की तत्त्व अध्वा नामक धारणा का ही एक और प्रकार, जिसमें प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव तथा शिव नामक नौ तत्त्वों को क्रम से साधना का आलंबन बनाते हुए साधक अपने शिवभाव के समावेश में प्रवेश पाता है । (तं.सा.टि. पृ.111) ।

नाड़ीत्रय

मेरुदंड में स्थित सुषुम्ना, पिंगला तथा इड़ा नामक तीन नाड़ी स्वरूप मार्ग जिन्हें क्रमशः इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया प्रधान मानां गया है । इन्हें क्रमशः वह्नि, सूर्य तथा सोमात्मक भी माना जाता है। सुषुम्ना मेरुदंड के मध्य में, पिंगला दाईं ओर तथा इड़ा बाईं ओर स्थित होती है । (स्व. तं. प. 2. 250; स्व.तं.उ. प 2. पृ. 133,134) । परंतु स्वच्छंद तंत्र में ही पिंगला को मध्यमा नाड़ी भी माना गया है । (स्व.तं.प. 3-22, 149) । धारणा भेद के कारण ऐसा कहा गया है । ये नाडियां भी तो धारणा का विषय बनती ही हैं ।

नाडी संधान

अपनी शुद्ध स्वरूपता का आवेश प्राप्त करने के लिए साधक जब अपनी द्वैतपरक भिन्न भिन्न मनोवृत्तियों को इडा आदि नाडीत्रय (दे.) में शांत करने से पूर्व जो अभ्यास करता है उसे नाडी संधान कहते हैं । रेचक द्वारा बाह्य द्वाद्वशांत (दे.) में स्थिति होने के पश्चात् कुंभक द्वारा आंतर द्वाद्वशांत (दे.) में स्थिति प्राप्त करके साधक जब अपने हृदय में ही विश्रांति प्राप्त करता है तो उसे नाड़ी संधान कहते हैं । इस अभ्यास से वह नाडीत्रय में प्रवेश पाने के योग्य बन जाता है । (स्वत्रतं.प. 3-52,53; वही उ.प. 3 पृ. 180) ।

नाडीसंहार

इडा, पिंगला एवं सुषुम्ना नामक तीन नाडियों का आधार प्राण, अपान नामक प्राणवायु को माना गया है तथा इस प्राणवायु के आधार को चिद्विभु कहते हैं । इस प्रकार चिदाकाश को तीनों नाडियों का मुख कहा जाता है । साधक भिन्न भिन्न अभ्यासों द्वारा प्राणवायु से उद्भूत सभी वृत्तियों को इन नाडियों में लीन करता है । इस अभ्यास में स्थिति हो जाने पर तीनों नाडियों को शांत हुई वृत्तियों समेत चिदाकाश में विलीन कर देने को नाडी संहार कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 48) ।

नाद

1. अव्यक्त ध्वनि । हकारात्मक अवाहत ध्वनि । पर बीज । भ्रूमध्य में अभिव्यक्त होने वाला हंस स्वरूप बीज। (स्व.तं.उ. खं. 2, पृ. 161, 164; तं.आ. वि. 2 पृ. 193) ।

2. अपने शुद्ध संवित् स्वरूप में ही अभेद रूप से होने वाले समस्त प्रपंच के परामर्श को भी नाद कहते हैं ।

3. परिपूर्ण स्वातंत्र्य से युक्त तथा परिपूर्ण कर्तृत्व लक्षणों वाले शुद्ध विमर्श को भी नाद कहते हैं । (तं.आ.वि. 5 पृ. 194) ।

4. नाद वाणी का निर्विकल्पक रूप होता है । (स्व.तं.प. 4 पृ. 162) ।

5. हकारात्मक शक्ति को भी नाद कहते हैं । (तं.आ.वि. 2, पृ. 193) ।

6. सदाशिव दशा से भी परे रहने वाले स्वात्म विमर्श को भी नाद कहते हैं ।

7. प्रणव उपासनारूपी योग की सातवीं कला को भी नाद कहा जाता है। इस प्रकार से नाद शब्द का प्रयोग शैव शास्त्र में अनेकों अर्थों में हुआ है। नाद का विशेष अर्थ स्वात्म विमर्श है। उसी को इस शास्त्र में शब्द तत्त्व कहा गया है।

नाद (प्रणव कला)

त्रिकयोगमयी प्रणव की उपासना में अकार,उकार, मकार, बिंदु, अर्धचंद्र के अनंतर योगियों के साक्षात्कार में अभिव्यक्त होने वाली (प्रणवकी) सातवीं कला का नाम भी नाद है। बिंदु का उच्चारण काल आधी मात्रा, अर्धचंद्र का एक चौथाई मात्रा, निरोधी का 1/8 मात्रा और नाद का 1/16 मात्रा होता है। शिवयोगियों की अवधानमयी दृष्टि इतनी पैनी बन जाती है कि प्रणव की ध्वनि की गूंज का इतना सूक्ष्म विश्लेषण कर पाती है। (स्व.तं.प. 4-258, 259)।

नासा

अंतर्द्वाद्वशांत। नासिका के द्वार के बाहर अंगुल भीतर अपान का विश्रांति स्थान। (शि.सू.वा. पृ. 86)। दे. द्वाद्वशांत (आंतर)।

निग्रह कृत्य

विधान कृत्य। शुद्ध स्वरूप को छिपा लेने की पारमेश्वरी लीला। दे. विधान कृत्य।

निजानंद

आणव उपाय के उच्चार योग में प्रथम भूमिका का आनंद। उच्चार योग की प्राण धारणा में जब उस प्राणशक्ति को आलंबन बनाकर अभ्यास किया जाता है जो कि प्राण के उद्गम की अवस्था होती है तो उस प्राणशक्ति पर स्थिति हो जाने से जो आनंद अभिव्यक्त होता है, उसे निजानंद कहते हैं। (तं.सा.पृ. 38)। उच्चार योग की इस प्रथम भूमिका में प्राणशक्ति के रूप में प्रमातृ तत्त्व अथवा पुरुष तत्त्व पर ही विश्रांति होने पर निजानंद की अभिव्यक्ति होती है। (तं.आ. 5-44)।

निद्रा

उच्चार योग में अनुभव में आने वाली छः आनंद की भूमिकाओं में से किसी भी भूमिका में प्रवेश करने से पूर्व जिन पांच बाह्य लक्षणों का उदय होता है, उनमें से चौथा लक्षण। आनंद, उद्भव (प्लुति) तथा कंप इन तीनों लक्षणों के स्फुट होने के पश्चात् जब बहिर्मुखी सभी वृत्तियां शांत हो जाती हैं, तब परिणामस्वरूप ज्यों ही अपने अंतर्मुखी स्वभाव पर विश्रांति होने लगती है, तो जिस लक्षण का उदय होता है उसे निद्रा कहते हैं । साधक अभी अपनी संवित्‌रूपता में रूढ़ नहीं हुआ होता है अपितु अभी उसमें प्रवेश ही नहीं पा रहा होता है। इसी स्थिति में लगता है जैसे बहुत ही आनंददायक नींद आ रही हो । (तं.सा. पृ. 40; तं.आ. 5-104) ।

निमेष

1. क्षेमराज के अनुसार वह अवस्था, जिसमें समस्त प्रपंच शांत हो जाता है तथा शिवभाव पूर्णतया चमकने लगता है । उनके अनुसार जब शिवभाव का उन्मेष (दे.) हो जाता है तो संपूर्ण जगत् का बाह्य रूप शांत हो जाता है और सभी कुछ प्रकाश के ही रूप में चमकने लगता है । (स्व.सं. पृ.5, 9, 11) ।

2. भट्टकल्लट एवं रामकंठ के अनुसार शिवभाव के बहिर उन्मेष से जगत् का उदय होता है तथा अंतः निमेष से जगत् का संहार होता है । (स्प. वृ. पृ.1; स्प. वि. पृ. 7) । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा के आगमाधिकार में ईश्वर तत्त्व की अवस्था को बहिर् उन्मेष और सदाशिव तत्त्व को अंतर निमेष कहा गया है । (ई.प्र. 3-1-3) ।

नियति तत्त्व

नियत कार्यकारण भाव, नियत ज्ञातृज्ञेय भाव, नियत कार्यकर्तृत्व भाव, नियत कर्मफल भोग, नियम आदि को अभिव्यक्त करने वाला संकोचक तत्त्व । माया तत्त्व से विकास को प्राप्त हुए पांच कंचुक तत्त्वों में से यह चौथा कंचुक तत्त्व है । इस तत्त्व के प्रभाव से पशु प्रमाता की संकुचित ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति और भी संकुचित हो जाती हैं जिसके कारण वह किसी नियत वस्तु को किसी नियत सीमा तक ही जान सकता है और किसी नियत कार्य को किसी नियत सीमा तक ही कर सकता है । इस प्रकार सभी कुछ के विषय में सभी

कुछ न जान सकने और सभी कुछ न कर सकने की अति संकुचित अवस्था तक जो तत्त्व पहुँचाता है तथा किसी ही वस्तु या भाव के प्रति प्रमाता की आसक्ति या अनासक्ति के भाव को भी जो तत्त्व किसी विशेष अवधि में ही बांधकर रखता है और इस तरह से माया प्रमाता की कला के विधा के और राग के क्षेत्रों को भी सीमित बना देता है, उसे नियति तत्त्व कहते हैं । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 209; तं.सा. पृ. 83) ।

निरानंद

आणव उपाय में प्राण धारणा की भिन्न भिन्न स्थितियों के आनंद की छः भूमिकाओं में दूसरी भूमिका का आनंद । पुरुष तत्व या प्रमातृ-तत्त्व पर विश्रांति हो जाने के अनंतर जब उसकी विषय शून्यता पर भी भावना द्वारा सतत अभ्यास किया जाता है तो निरानंद नामक आनंद की दूसरी भूमिका की अभिव्यक्ति होती है । (तं.सा.य पृ. 38; तं.आ.5-44) । यहां विषयशून्यता से प्रमातृ तत्त्व संबंधित सभी विषयों के अभाव से है । इस भूमिका में ऐसी ही शून्यता पर पुनः पुनः अभ्यास करना होता है । जिसकी परिणति निरानंद में होती है ।

निराशंस

किसी भी प्रकार की आकांक्षा से रहित शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संवित्-स्वरूप परमशिव । किसी भी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से रहित शुद्ध चैतन्य तत्त्व । आकांक्षा द्वैत भाव में ही संभव है । परमशिव शुद्ध प्रकाशात्मक शिव तथा शुद्ध विमर्शात्मक शक्ति का परिपूर्ण सामरस्यात्मक अनुत्तर संवित्स्वरूप है, जो पूर्ण अभेद की दशा है । समस्त प्रपंच उसी में उसी के रूप में स्थित है । परमशिव को इसी परिपूर्णता की दृष्टि से निराशंस कहा जाता । (ई.प्र.वि. 1-1) ।

निरोधी/निरोधिनी

प्रणव की सूक्ष्मतर उपासना में अवधान दृष्टि में उसकी अत्यंत सूक्ष्म बारह कलाओं को लाना होता है । उनमें से निरोधी छठी कला है । इसका काल एक मात्रा का आठवां भाग होता है । बिंदु से आगे की आठों कलाएं बिंदु का अनुरणन मात्र होती हैं । उस अनुरणन के भीतर अर्धचंद्र, निरोधी आदि कलाओं को अवधान की दृष्टि से साक्षात् पृथक् पृथक् अनुभव में लाना होता है । ऐसी अवधान दृष्टि का उन्मेष शिवयोगियों ही को होता है ।

निर्वाण दीक्षा

इस दीक्षा के द्‌वारा शिष्य के अंतस्तल में गुरु अपनी अनुग्रह शक्ति के द्‌वारा वास्तविक स्वरूप बोध की ज्योति को जगा देता है । इस दीक्षा को सूक्ष्मा दीक्षा भी कहा जाता है । इसमें न तो बाह्‌य साधन अर्थात् मंत्र, मंडल, मुद्रां,द्रव्य आदि का ही उपयोग होता है और न ही प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का अभ्यास ही करना पड़ता है । समय दीक्षा (दे.) के बाह्‌य आचारकी भी यहां आवश्यकता नहीं रहती है । एक मात्र अनुग्रह ही यहां अपने प्रभाव से शुद्‌ध स्वरूप साक्षात्कार को जगा देता है । इस दीक्षा से साक्षात् शिवभाव की अभिव्यक्ति होती है ।

निर्वृत्ति शक्ति

दे. आनंद शक्ति ।

निवृत्ति कला

तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं । एक एक कला कई एक तत्त्वों को व्याप्त कर लेती है । पृथ्वी तत्त्व को व्याप्त करने वाली कला को निवृत्ति कला कहते हैं । पृथ्वी तत्त्व तक पहुँचने पर ही परमेश्वर की तत्त्वों को विकास में लाने की प्रक्रिया निवृत्त होती है और इसके आगे किसी भी अन्य तत्त्व की सृष्टि नहीं होती है । (तं.सा. पृ. 109) । निवृत्ति कला को पार्थिव अंड भी कहते हैं । (तं. सा.पृ. 110) ।

निष्कल जप

प्रणवांग अर्थात् ऊँ का परामर्श । जप (दे.) चार प्रकार का होता है - निष्कल, हंस, पौद्‌गल तथा शाक्त । निष्कल को सर्वप्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट जप माना गया है । यह न तो सशब्द होता है और न उपांशु । पूर्णतया मानस जप होने के ही कारण इसे निष्कल जप कहा जाता है । ऐसा होने के कारण ही इसकी अधिक महत्ता है । (शि.सू.वा. पृ. 68-9)

पंच कला

दे. कला (पंचक) ।

पंचकला विधि/धारणा

आणवोपाय की कलाध्वा नामक धारणा में छत्तीस तत्त्वों को व्याप्त करने वाले पंच कला वर्ग को आलंबन बनाकर की जाने वाली साधना को पंचकला विधि या धारणा कहते हैं । इस धारणा में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या,शांता तथा शांत्यातीता नामक पांच कलाओं को क्रम से धारणा का आलंबन बनाते हुए उन्हें अपने ही स्वरूप से भावना द्वारा व्याप्त करके अपने शिवभाव के समावेश में प्रवेश किया जाता है । (तं.सा. पृ. 110-111) । एक एक कला को भावना द्वारा परिपूर्ण स्वात्म-रूपतया पुनः पुनः देखते रहने से भी कलाविधि का अभ्यास त्रिकयोग में किया जाता है । उससे भी साधक को आणव समावेश हो जाता है ।

पंच कारण

दे. कारण पंचक ।

पंच कृत्य

परमेश्वर की पारमेश्वरी लीला के पांच अंग । वे हैं – सृष्टि, स्थिति,संहार, विधान (निग्रह) और अनुग्रह । इन्हीं कृत्यों की लीला को करते रहने से वह परमेश्वर है । ये कृत्य ही उसकी परमेश्वरता की अभिव्यक्ति के पांच अंग हैं । मूलतः ये पांचों कृत्य उसी के हैं । उसी की इच्छा के अनुसार इन कृत्यों को इस स्थूल जगत् में क्रम से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पांच कारण आगे आगे निभाते रहते हैं । (दे.ना.वि. 4-18; शि.स्तो. 1-3) ।

पंच तत्त्व धारणा

पांच तत्त्वों को आलंबन बनाकर की जाने वाली आणवोपाय के तत्त्वाध्वा में एक विशेष धारणा । इसे पंचमी विद्या भी कहते हैं । इस धारणा में अकल तथा मंत्र महेश्वर नामक दो प्रमातृ तत्त्वों तथा इनकी दो शक्तियों को मिलाकर सभी चार तत्त्वों को धारणा का आलंबन बनाते हुए उन्हें मंत्रेश्वर के स्वरूप में देखते हुए और इन्हें उसी के शुद्ध रूप का विस्तार समझते हुए भावना द्वारा व्याप्त किया जाता है । इस अभ्यास से मंत्रेश्वर परिपूर्ण परम शिवरूप में ही अभिव्यक्त हो जाता है और उसकी ऐसी अभिव्यक्ति के अभ्यास से परिपूर्ण शिवभाव का आणव समावेश साधक को हो जाता है । (तं. आ. 10-112,113,125 से 127) ।

पंचदश तत्त्व धारणा (पांच दशी विद्या)

पृथ्वी तत्त्व को साधना का आलंबन बनाकर सातों प्रमातृ वर्गो और उनकी सात शक्तियों का उसी के भीतर भावना से देखने के अभ्यास को पंचदश तत्त्वधारणा या पांचदशी विद्या कहते हैं। पृथ्वी के स्वरूप में ही शेष चौदह तत्त्वों को विलीन करने वाली यह आणवोपाय के तत्त्वाध्वा की एक विशेष धारणा है। इसमें अकल, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र (विद्येश्वर), विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल नामक सात प्रमाताओं को और उनकी सात शक्तियों को भी साधनाकाय आलंबन बनाया जाता है। इस अभ्यास की दृढ़ता पर साधक अपनी शिवता के आणव समावेश में प्रवेश करता है। (तं.आ. 10-6 से 17; वही वि. वृ. 79, 80; मा.वि.तं. 2-2)

पंच मंत्र

स्वच्छंदनाथ के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव तथा अघोर (यथास्थान दे.) नामक पांच मंत्रात्मक शरीरों को पंचमंत्र कहते हैं। (दे. पंच वक्त्र)। स्वच्छंदनाथ के ये पांच शरीर मंत्र अर्थात् विद्येश्वर स्तर के देवता होते हैं। उनके इन शरीरों में प्रकट होकर संसार का कल्याण करने के स्वभाव को ही उनके पांच मुख अभिव्यक्त करते हैं। सभी शिव आगमों, रुद्र आगमों और भैरव आगमों का उपदेश इन्हीं पंचमंत्रों ने विविध रूपों में ठहर कर किया है। (मा.वि. वा.0 1-251-257)।

पंच वक्त्र

परमेश्वर के पर स्वरूप को अभिव्यक्त करने वाली तथा संसार का त्राण करने वाली उसकी चित्, निर्वृत्ति (आनंद), इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नामक पांच अंतरंग शक्तियां ही उसके पांच मुख कहे जाते हैं। (स्व.तं.उ. प 2, पृ. 54)। उसकी ये पांच शक्तियां या मुख जब अभेदात्मक, भेदाभेदात्मक तथा भेदात्मक शैवशास्त्र का उपदेश करने के लिए क्रमशः ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव तथा अघोर नामक पांच मुख वाले स्वच्छंद नाथ के रूप में प्रकट हो जाती हैं तब स्वच्छंदनाथ के उस पांच मुखों वाले शरीर को भी पंचवक्त्र कहते हैं। इन सशरीर पांच रूपों को पंचमंत्र भी कहते हैं। (तं.आ.वि. 1-18)।

पंच शक्ति

परमशिव की चित् निर्वृत्ति (आनन्द), इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया (यथास्थान दे.) नामक पांच मूलभूत अंतरंग शक्तियां । इन्हीं पांच शक्तियों से परमेश्वर अपनी परमेश्वरता को निभाता रहता है । ये शक्तियां उसका स्वभाव हैं । इन्हीं के बल से वह परमेश्वर है । परमशिव के इस पांच शक्तियों की अभिव्यक्ति से युक्त रूप को पंच वक्त्र (दे.) भी कहा जाता है । (स्व. तं. उ. 92, पृ.54, तं.सा. पृ.6) ।

पति प्रमाता

समस्त प्रपंच को अभेद दृष्टिसे देखने वाला प्रमाता । पूर्ण अभेद एवं भेदाभेद दृष्टिकोण वाले दोनों प्रकार के प्रमाता । इनमें से कोई प्रमेय तत्त्व को आत्मरूपतया ही देखते हुए केवल 'अहं' इसी का सतत विमर्श करते हैं और कोई उसे स्वशरीर तुल्य समझते हुए 'अहमिदम्' या 'इदमहम्' इस प्रकार का विमर्श करते हैं । दोनों प्रकार के शुद्ध प्राणी पति कोटि में गिने जाते हैं । इस प्रकार शिवतत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक के अकल, मंत्रमहेश्वर और मंत्रेश्वर इन सभी प्राणियों को पति प्रमाता कहा जाता है । ये समस्त विश्व को अपने ही शुद्ध संवित् रूप में देखते हैं तथा इन्हें अपनी ही ज्ञान, क्रिया नामक शक्तियों का प्रसार मानते हैं । (ई. प्र. 3-2-3; 4-1-4) ।

पद-अध्वन्

आणवोपाय की कालाध्वन् नामक धारणा में आलंबन बनने वाला तीसरा मार्ग । इस धारणा में प्रमाण अंश की प्रधानता रहती है । इस उपाय में साधक मंत्रों के समाहार रूप तथा प्रमाणस्वरूप पद को अपनी धारणा का आलंबन बनाते हुए इसके समस्त स्वरूप को दृढ़तर भावना द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप से व्याप्त कर लेता है । इसके सतत् अभ्यास से साधक को अपने शिवभाव का आणव समावेश हो जाता है । (तं. सा. पृ. 47, 61, 112) । काल एक अमूर्त काल्पनिक तत्त्व है । इसे क्रिया क्षणों द्वारा मापा जाता है । उनमें भी सूक्ष्मतर क्रिया क्षण जानने की क्रिया में प्रकट होते हैं । जानना सदा सशब्द होता है क्योंकि शब्द के माध्यम से ही जानने का आभासन होता है । शब्द के तीन रूप होते हैं । उसके सूक्ष्मतर रूप को वर्ण, सूक्ष्म रूप को मंत्र और स्थूल रूप को पद कहते हैं । पद का ही आश्रय पदाध्वन् योग में लिया जाता है ।

पदस्थ

1. प्राण से एकरूपता प्राप्त कर लेने पर योगी की दशा । अपने वास्तविक शुद्ध एवं परिपूर्ण संविदात्मक स्वरूप को पहचानने के प्रत्येक प्रमेयात्मक अध्वन् अर्थात् मार्ग का आधार मूलतः प्राण ही बनता है । इस प्रकार सभी संकल्पों एवं विकल्पों का आश्रयस्थान भी प्राण ही है । संकल्पों और विकल्पों को इस प्रकार जानने तथा इनके आश्रयस्थान प्राण से एकरूपता प्राप्त करने को पद कहते हैं । ऐसी एकरूपता पर स्थिति हो जाने पर योगी को पदस्थ कहते हैं । इस प्रकार प्राण से एकात्मकता प्राप्त कर लेने पर संकल्पों से भी एकात्मकता प्राप्त हो जाती है । तं.आ. आ. 1.-254, 255) ।

2. योगियों की शाब्दी परंपरा में स्वप्न दशा में ठहरे हुए योगी को भी पदस्थ कहते हैं और स्वप्न दशा का भी एक नाम पदस्थ है ।

पर तत्त्व

छत्तीस तत्त्वों (दे.) से उत्तीर्ण तथा इन सभी का परिपूर्ण सामरस्यात्मक अनुत्तर तत्त्व । (दे. परम शिव) । इसे सैंतीसवें तत्त्व के रूप में माना गया है । छत्तीस तत्त्वों का उदय इसी में से होता है और उनका लय भी इसी के भीतर होता है । वह इसी की स्वभावभूत इच्छा के बल से उसी के अनुसार होता है । इसी को परिपूर्ण परमेश्वर कहा जाता है ।

परब्रह्म

बृहत् होने के कारण असीम तथा बृहंक होने के कारण संपूर्ण विश्व को विकास में लाने वाला तथा व्याप्त करने वाला पर तत्त्व। सूक्ष्म रूप से सब कुछ को व्याप्त करते हुए अनंत चित्र विचित्र रूपों में स्वयं चमकने वाला परमेश्वर । भैरव । दे. भैरव । परब्रह्म शुद्ध चिन्मय है । परंतु उसके भीतर समस्त विश्व की सृष्टि करने वाला वीर्य सदा विद्यमान रहता है । उस वीर्य की उच्छलन क्रिया से वह विभोर होकर रहता है । उसकी उसी क्रिया से शिव से पृथ्वी तक के तत्त्वों के उदय और लय हुआ करते हैं । अतः वह आकाश की तरह सर्वथा शांत न होकर चिच्चमत्कार से भरा रहता है । उसी से वह विश्व का बृंहण या विकास करता है और यही उसकी ब्रह्मता है । (प.त्री.वि. पृ. 221) ।

पर भैरव

दे. भैरव (1) ।

परम–अद्वैत

परा‌द्वैत । महाद्वैत । परमाद्वय । वह दृष्टि, जिसमें किसी भी प्रकार का द्वैत शेष रह ही नहीं सकता। इसके अनुसार द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत, बंधन, मुक्ति, जड़, चेतन आदि प्रत्येक प्रकार की भेदमय अवस्थाएं एकमात्र परिपूर्ण शुद्ध संवित् रूप में ही चमकती हैं। भेद केवल कल्पना मात्र है । परम शिव ही परिपूर्ण शुद्ध संवित् स्वरूप है । उसी के स्वातंत्र्य से एवं उसके अपने ही आनंद की लीला से उसी में सभी कुछ उसी के रूप में चमकता है । (तं.आ. 2–16 से 19) । शिवदृष्टि के अनुसार सभी कुछ शिवमय है । एक जड़ पदार्थ एवं परमशिव में स्वभावत: कोई भेद नहीं है । जो कुछ भी जिस भी रूप में है वह सभी शिवमय ही है । एक जड़ पदार्थ भी उतना ही परिपूर्ण परमेश्वर है जितना स्वयं परमशिव है । सब कुछ पूर्ण परमेश्वर ही है । उससे भिन्न या अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । ऐसा सिद्धांत ही परा‌द्वैत या परम–अद्वैत है । (शि.दृ. 5–105 से 109) ।

परमशिव

अनुत्तर संवित् । प्रकाश और विमर्श का परम सामरस्यात्मक परतत्त्व । वह सैंतीसवां तत्त्व, जिसमें शिव से लेकर पृथ्वी पर्यंत सभी छत्तीस तत्त्वों का उसी की स्वेच्छा से समय समय पर लय और उदय होता रहता है तथा ऐसा होने पर भी जो सर्वथा एवं सर्वदा शुद्ध, असीम तथा परिपूर्ण ही बना रहता है । परशिव । परमेश्वर । प्रकाशात्मक ज्ञानस्वरूपता तथा विमर्शात्मक क्रियास्वरूपता का परिपूर्ण सामरस्य । (म.म.प. पृ. 34–37, ई.प्र.वि. 4–1–14) ।

पर शिव

दे. परम शिव ।

परा देवी

1. पराशक्ति, कौलिकी शक्ति, आनंदशक्ति, पराविसर्गशक्ति, हृदय । संपूर्ण परापरा तथा अपरा शक्ति समूहों को अभिव्यक्त करने वाली निरतिशय स्वातंत्र्य के

ऐश्वर्य से परिपूर्ण तथा इस ऐश्वर्य के चमत्कार को उल्लसित करने वाली तथा इस उल्लास से संपूर्ण शुद्ध तथा अशुद्ध सृष्टि को अभिव्यक्त करने वाली परमशिव की नैसर्गिक स्वभावरूपा अनुत्तराशक्ति। (तं.आ.आ. 3-66 से 70)।

2. अभेदमयी शक्ति दशा में जिस शक्ति के द्वारा परमेश्वर समस्त प्रमातृ गणों और प्रमेय समूहों को धारण करता हुआ वहां के समस्त प्रमातृ व्यापारों की कलना को निभाता है उसकी उस शक्ति को भी परा देवी कहते हैं। द्वादश महाकाली देवियों में इस परादेवी का उल्लेख आता है। यह भी कई एक कालियों के रूपों में प्रकट होती हुई प्रमातृ-प्रमेय-प्रमाणमय व्यापारों की कलना को चलाती रहती है।

पराद्वैत

दे. परम-अद्वैत।

परानंद

आणव उपाय के उच्चार योग में भिन्न भिन्न स्थितियों में विश्रांति के हो जाने पर अभिव्यक्त होने वाली आनंद की छह भूमिकाओं में से तीसरी भूमिका। उच्चार योग की प्राण धारणा में जब साधक को अपने जीवस्वरूप की विषयशून्यता की स्थिति पर पूर्ण विश्रांति हो जाती है तब उसे प्राण और अपान पर विश्रांति का अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास में अनंत प्रमेयों को अपान द्वारा प्राण में ही विलीन करना होता है। इसके सतत अभ्यास से साधक जिस आनंद का अनुभव करता है, उसे परानंद कहते हैं। (तं.आ.आ. 5-45,46)।

परापरा देवी

ज्ञान शक्ति शुद्धशुद्ध मार्ग को प्रकाशित करने वाली तथा घोरा मातृ मंडली अर्थात् घोर शक्तियों (दे.) के अनंत समूहों को अविरत रूप से प्रकट करते रहने वाली पारमेश्वरी शक्ति। ये शक्ति समूह मुक्ति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाले हैं तथा मिश्रित कर्मफल के प्रति आसक्ति उत्पन्न करते हुए जीव को संसार के प्रति ही आसक्त रखने की पारमेश्वरी लीला को निभाते हैं। (तं.आ.आ. 3-74, 75 मा.वि.तं. 3-32)। भेदाभेदमयी विद्या भूमिका के भीतर समस्त

प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेयमय व्यापारों की कलना करने वाली तथा इस भूमिका के समस्त प्रपंचों को धारण करने वाली वह पारमेश्वरी शक्ति, जिसके कई एक रूप द्वादश कालियों में गिने जाते हैं ।

परापरावस्था/दशा

भेदाभेद की अवस्था । वह दशा, जिसमें इदंता का पृथक् विकास नहीं हुआ होता है परंतु उसके प्रति अत्यंत सूक्ष्म उन्मुखता उभर चुकी होती है। इस अवस्था में सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्ध विद्या और इन तत्त्वों में रहने वाले मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर तथा विद्येश्वर नामक प्राणी एवं उनका भेदाभेदमय दृष्टिकोण आता है । इस अवस्था में परमशिव का चित्, निर्वृत्ति (आनंद) आदि शक्ति पंचक विकासोन्मुख होता है । (शि.दृ.वृ. पृ. 6,7; ई.प्र.वि. 2, पृ.199)

पराभक्ति

ऐसी प्रेममयी और ज्ञानमयी भक्ति जिसमें उपास्य और उपासक का भेद सर्वथा विगलित हो जाता है और उपासक अपने को उपास्य के ही रूप में जानने लगता है । यह शैव दर्शन की समावेशमयी भक्ति है। इसी भक्ति की प्रशंसा उत्पल देव आदि आचार्यो ने की है । इसको 'ज्ञानस्य परमा भूमि' ज्ञान की सर्वोच्च भूमि और 'योगस्य परमादशा' योग की सर्वोच्च दशा कहा गया है । (ई.प्र. 1-1-1) ।

परा भट्टारिका

पारमेश्वरी पराशक्ति को परा भट्टारिका कहा जाता है । भट्टारक पारमैश्वर्य से संपन्न अधिकार देवाधिदेवों को कहते हैं, जैसे ईश्वर भट्टारक,सदाशिव भट्टारक, शिवभट्टारक । तदनुसार भगवती पराशक्ति, जो शक्ति तत्त्व पर शासन करती है, उसे परा भट्टारिका कहा जाता है । ज्येष्ठा, रौद्री और वामा नामक भट्टारिकाएं उसकी अपेक्षा अपर अर्थात् निचली कोटि की देवियां हैं। उच्चतम स्थान की देवी परा भट्टारिका ही है । इसी को क्रमनय में काली कहा जाता है और श्रीचक्र के उपासक इसी को ललिता त्रिपुर सुंदरी कहते हैं ।

परामायाशक्ति

दे. महामाया(परा); मायाशक्ति (परा) ।

परावस्था/दशा

शुद्‌ध, असीम एवं परिपूर्ण 'अहम्' की अवस्था । पूर्ण अभेद की अवस्था । वह अवस्था, जिसमें परमेश्वर का समस्त शक्ति समूह तथा संपूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच परिपूर्ण सामरस्यात्मक संविद्रूपता में ही चमकता रहता है । इस पूर्ण अभेद की दशा में सभी कुछ परमशिव के ही रूप में परमशिव में ही निर्विभागतया चमकता है । इस अवस्था में विश्व रचना के प्रति किसी भी प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म उन्मुखता भी उभरी नहीं होती है, केवल परिपूर्ण चिन्मात्र प्रकाशरुपता शुद्‌ध विमर्शात्मकतया असीम और अनवच्छिन्न 'अहं' के रूप में चमकती रहती है । (शि.दृ.वृ., पृ.7) । हां समस्त सृष्टि–संहार–लीला का बीज उसी में अनभिव्यक्तता से विद्‌यमान रहता है ।

परावाच् (वाणी)

शुद्‌ध तथा परिपूर्ण अहमात्मक परामर्शरुपिणी, असीम, शुद्‌ध तथा सूक्ष्मतर वाणी । अपनी परिपूर्ण शुद्‌ध संविद्रूपता का निर्विभागतया सतत प्रत्यवमर्श । जिस वाणी में पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी नामक तीनों वाणियां सामरस्य रूप में स्थित रहती हैं तथा जिसमें से अपने भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती हैं । इस प्रकार यह तीनों वाणियों की पूर्ण सामरस्य की दशा है तथा शिव शक्ति के संघट्ट रूप परासंवित् में ही चमकती रहती हैं । (तं.आ.वि. 2 पृ. 225) ।

पराशक्ति

दे. परादेवी ।

परा शुद्‌ध विद्‌या

सदाशिव तत्त्व तथा ईश्वर तत्त्व में रहने वाली मंत्रमहेश्वर तथा मंत्रेश्वर प्राणियों के भेदाभेदमय दृष्टिकोण को शुद्‌ध विद्‌या या परा शुद्‌ध विद्‌या कहते हैं । इन तत्त्वों में रहने वाली प्राणियों में क्रमशः 'अहम् इदम्' अर्थात् 'मैं यह हूँ' तथा 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूं' ऐसा भेदाभेदमय दृष्टिकोण बना रहता है । (ई. प्र. वि. 2, पृ. 196,7) ।

परा संवित्

अनुत्तर संवित् । प्रकाश एवं विमर्श का शुद्ध, एकघन सामरस्यात्मक परस्वरूप । छत्तीस तत्त्वों से उत्तीर्ण तथा छत्तीस तत्त्वों का संघट्टात्मक शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण स्वरूप । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जो कुछ भी,जहां कहीं भी, जिस किसी भी रूप में आभासित होता है, वह सभी कुछ संवित स्वरूप ही है और संविद्रूप में संविद्रूप बनकर ही चमकता रहता है । परमशिव के ऐसे अनुत्तर स्वरूप को परासंवित् कहते हैं ।

पराहंभाव परामर्श

दे. अहम्परामर्श ।

परिपूर्ण

जो सर्वथा, सर्वतः और सर्वदा शुद्ध एवं असीम बना रहता हुआ प्रत्येक प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म भावों, अवस्थाओं एवं पदार्थों से पूरी तरह से भरा रहता है । जिसमें किसी भी प्रकार का देशकृत एवं आकारकृत कोई भी संकोच नहीं होता है । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार संपूर्ण बाह्य जगत् संविद्रूप परमशिव में संविद्रूप में ही सदैव स्थित रहता है । जो कुछ भी आभासित होता है, वह उसी संविद्रूपता का ही बाह्य प्रतिबिंब होता है; उससे भिन्न कुछ भी नहीं हो सकता है । अतः विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण दोनों ही रुपों का एकघन स्वरूप अनुत्तर परमशिव ही परिपूर्ण होता है । (म.म.प..पृ. 37-38) । समस्त विश्व उसमें है अतः वह विश्व से पूर्ण है । फिर समस्त विश्व को वही सत्ता प्रदान करता हुआ विश्व का पूरक भी है । दोनों ही प्रकार की दृष्टियों को लेकर के उसे पूर्ण कहा गया है । परिउपसर्ग उस पूर्णता के सर्वतोमुखी विस्तार का द्योतक है ।

परिस्पंद

दे. स्पंद ।

परोक्ष दीक्षा

शिष्य सामने न हो, देशांतर में हो, परलोक में हो, या अगला जन्म ले चुका हो तो उसे जो दीक्षा दी जाती है उसे परोक्ष दीक्षा कहते हैं । जालप्रयोग दीक्षा

(दे.) की तरह यही परोक्ष दीक्षा की जाती है । केवल जीव का आकर्षण और दर्भमयी प्रतिमा में प्रवेशन इस दीक्षा में नहीं किया जाता है । (तं.सा.पृ. 166) ।

पशु

माया और कंचुकों से मलिन बना हुआ, क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से घिरा हुआ तथा समस्त प्रपंच को भेद दृष्टि से देखने वाला प्रमाता । वस्तुतः अपने ही स्वातंत्र्य से अपने आनंद के लिए अपनी मायाशक्ति तथा उसी से विकसित कला विद्या आदि पांच आवरक तत्त्वों से घिरा हुआ शुद्ध संवित् स्वरूप परम शिव ही पशु कहलाता है । इस भूमिका पर उतरकर उसकी समस्त ऐश्वर्यशालिनी शक्तियां संकोच को प्राप्त कर जाती हैं । इस प्रकार की संकुचित संवित् जब पुर्यष्टक रूप सूक्ष्मतर देह में प्रविष्ट हो जाती है तो उसे ही पशु कहा जाता है । (तं.सा.पृ. 82-3) । इस स्थिति में पहुंचने पर वह कर्मानुसार फल भोग से कलुषित होता रहता है । (ई.प्र. 3-2-3) ।

पशुमातरः

पशुओं को अर्थात् बद्ध जीवों को विविध प्रकार की प्रेरणा देने वाली परमेश्वर की शक्तियां । ये शक्तियां पशु प्रमाता को अर्थात् जीव को अपने शुद्ध स्वरूप के प्रति अभिमुख करने वाली, उसमें सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करने वाली तथा उसका अधःपतन करने वाली क्रमशः अघोर, घोर तथा घोरतरी शक्तियों के तीन वर्गों में विभक्त हैं । शक्तियों के ये तीन वर्ग ही एक-एक जीव के साथ ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि आठ मातृकाओं के रूप में लगकर उसके समस्त व्यवहारों में उसे चलाती रहती हैं । परमेश्वर की ज्येष्ठा, रौद्री और वामा नामक शक्तियों के अधीन रहकर ये 'पशुमातरः' काम करती रहती हैं ।

पश्यंती वाच्/वाणी

परावाच् (दे.) ही अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से बाह्यरुपतया अभिव्यक्त होने की अतिसूक्ष्म इच्छा से प्रेरित होकर जिस भेदाभेदात्मक रूप में प्रकट होती है उसे पश्यंती वाच् कहते हैं। इस वाणी में अभी तक वाच्य और वाचक के पार्थक्य के स्फुट उदय के न होने से उनके भेद की भी अभिव्यक्ति स्पष्टतया नहीं हुई होती है । इसमें संविद्रूप परावाक् ही प्रधानतया शुद्धाशुद्ध प्रमातृ रूप में प्रकट होती है ।

(तं.आ.वि. 2 पृ. 225) । परंतु इस वाणी में समस्त वाच्यों और वाचकों का क्रमरहित आभास होता है । यह परा में और इसमें भेद है । आगे मध्यमा में समस्त भेद का क्रमरुपतया स्फुट आभास बुद्धि के क्षेत्र में हो जाता है, जो पश्यंती में नहीं होता । अतः पश्यंती को अविभागा और संहृतक्रमा कहा गया है । इस वाणी की स्पष्ट अभिव्यक्ति मुख्यतया सदाशिव दशा में हुआ करती है। (स्व.वृ., पृ. 149) ।

पारमार्थिक सत्ता

व्यावहारिक सत्ता का मूल, शुद्ध एवं स्थिर रूप । संपूर्ण व्यावहारिक सत्ता मूलतः अनुत्तर संवित् में संवित् के ही रूप में रहती है । पारमार्थिक सत्ता परमशिव की शक्तिता का अंतः रूप है । आभासमान समस्त विश्व वस्तुतः सर्वथा असत्य नहीं है, क्योंकि यह अपने पारमार्थिक रूप में सदैव शुद्ध संवित् रूप में तो आभासित होता ही रहता है । वही उसकी पारमार्थिक सत्ता है । पारमार्थिक सत्ता काल्पित व्यावहारिक सत्ता का ही अकल्पित एवं शुद्ध रूप है ।

पार्थिव अंड

दे. प्रतिष्ठा कला ।

पाश

परमशिव की शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूपता से भिन्न जो कुछ भी आभासित होता है, वह सभी कुछ बंधन स्वरूप होता हुआ पाश कहलाता है । वस्तुतः संवित् से भिन्न कुछ भी नहीं है, वही परमशिव है । परंतु जब वही अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से अपनी परमाद्वैत संविद्रूपता को अपने ही आनंद के लिए छिपाता हुआ और अपने आपको संकुचित रूप में प्रकट करता हुआ अनंत रूपों में अभिव्यक्त होता है तो वे सभी संकुचित रूप तथा सारे का सारा प्रपंच पाश कहलाते हैं । (तं.आ. आ. 8–292) । अपनी परिपूर्ण शुद्ध संविद्रूपता का अज्ञान । (वही 293) । दे. मल ।

पिंडस्थ

जाग्रत् आदि दशाओं के भिन्न भिन्न नाम जो योगियों की परंपरा में प्रचलित हुए हैं उनमें जाग्रत् दशा को पिंडस्थ कहते हैं । पिंड स्थूल शरीर का नाम है । जाग्रत्

में सारा व्यवहार स्थूल शरीर में ही ठहरता हुआ देखने में आता है । अतः इसे ऐसा नाम दिया गया है । शैवदर्शन में पिंडस्थ के चार भेद माने गए हैं और वे हैं – अबुद्ध (साधारण बद्ध प्राणी), बुद्ध (शास्त्रज्ञान वाला योगाभ्यासी साधक), प्रबुद्ध (योगज अनुभूतिवाला साधक) और अप्रबुद्ध (परिपक्व ज्ञानवाला सिद्ध योगी) । (तं.आ.आ. 10-241, मा.वि.तं. 2-43) ।

पिधान कृत्य/विलय कृत्य

निग्रह कृत्य/परमेश्वर के सृष्टि, स्थिति आदि पांच कृत्यों में से एक कृत्य । इसे परमेश्वर के स्वरूप को भुला डालने या छिपा देने की पारमेश्वरी लीला कहते हैं । इस कृत्य के प्रभाव से प्राणी अज्ञान के गर्त में और नीचे चला जाता है, शिष्य दीक्षा को प्राप्त करके भी निष्ठा और विश्वास को खो देता है; गुरु की, शास्त्र की, मंत्र आदि की अवहेलना, निंदा आदि करने लग जाताहै । ऐसी प्रवृत्तियों का मूल कारण परमेश्वर का पिधान कृत्य होता है ।

पुंस्तत्त्व

पुरुष तत्त्व, मायीय प्रमाता, शून्य, जीव तत्त्व आदि । छत्तीस तत्त्वों के अवरोहण क्रम में बारहवें स्थारन पर आने वाला तत्त्व । शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित्स्वरूप परमशिव ही जब अपने स्वातंत्र्य से अपने ही आनंद के लिए माया तत्त्व एवं उससे विकसित पांच कंचुकों से पूर्णतया आवेष्टित होता हुआ अतीव संकोच को प्राप्त कर जाता है तो उस अवस्था में पहुँचे हुए उसके संवित् को ही पुरुष तत्त्व कहते हैं । इस प्रकार अतीव संकुचित 'संवित्' या सीमित 'अहं' ही पुरुष तत्त्व कहलाता है । (ई..प्र. 3-1-9, 1-6-4,5) ।

पुत्रकदीक्षा

यह दीक्षा साधक को सद्यः आगे ले चलने वाली उत्कृष्ट प्रकार की क्रिया –दीक्षा होती है । इसमें बाह्य आचार के नियम ढीले पड़ जाते हैं और आंतरयोग का अभ्यास स्थिर होने लग जाता है । इस दीक्षा का पात्र बना हुआ शिष्य पुत्रक कहलाता है । ऐसा शिष्य उस गुरु के पुत्र तुल्य माना जाता है । (इसी दृष्टि से आ. अभिनव गुप्त ने लक्ष्मण गुप्त को उत्पलज अर्थात् उत्पन्न देव का पुत्र,

और उत्पल देव को सोमानंदात्मज कहा है) । यह दीक्षा सभी पाशों से छुटकारा दिलाने वाली है तथा एकमात्र प्रारब्ध कर्म को छोड़कर शेष सभी भूत और भविष्यत् कर्मों का भी शोधन कर देती है । (तं.सा., 155–160) ।

पुरुष तत्त्व

दे. पुंस्तत्त्व ।

पुर्यष्टक

सूक्ष्म शरीर । पांच तन्मात्र तत्त्वों तथा बुद्धि, मन एवं अहंकार की क्रमशः सत्त्व, रज तथा तम – इन तीन वृत्तियों को मिलाकर आठ के समष्टि रूप सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर को पुर्यष्टक कहते हैं । स्थूल शरीर में भी इन आठ की इस समष्टि की समानता होने के कारण इसे भी कहीं कहीं पुर्यष्टक कहा जाता है । (स्प. वि. पृ. 155, 156; ई.प्र.वि. खं. 2 पृ. 237)

पूजन (ज्ञानयोग)

शैवी साधना के ज्ञानयोग का वह उपाय, जिसमें साधक पुनः पुनः विमर्शन करता है कि पूजक, पूजन तथा पूज्य, इन तीनों रूपों में वस्तुः शिव ही व्याप्त होकर ठहरा हुआ है, वह स्वयं शिव से किसी भी अंश में भिन्न नहीं है, अतः भिन्न भिन्नरूपों में सर्वत्र उसी की पूजा होती रहती है । इस प्रकार के भान से वह सदातृप्त होता रहता है । सभी अवस्थाओं में अपना ही रूप देखने के कारण पूजन न होने से न तो उसे खेद ही होता है और न ही पूजन होने से उसे तुष्टि होती है । इस प्रकार के शुद्ध विकल्पों के अंतः परामर्श को पूजन कहते हैं । (शि.दृ. 7–92 से 95) ।

पूर्ण (पूर्णता)

दे0. परिपूर्ण।

पूर्णाहंताविमर्श

दे. अहम्परामर्श ।

पौरुष अज्ञान

अपनेआपको परिपूर्ण शिव न समझकर कवल अल्पज्ञ तथा अल्पकर्तृत्व वाला जीव मात्र ही समझना पौरुष अज्ञान कहलाता है । इसे मलरूप अज्ञान भी कहते हैं क्योंकि इसी के आधार पर प्राणी में आणव, मायीय तथा कार्म नामक तीनों मलों की अभिव्यक्ति हो जाती है । इस प्रकार से पौरुष अज्ञान स्वरूप संकोच को कहते हैं । (तं.आ., 1-237,38) ।

पौरुष ज्ञान

चित्तवृत्ति से सर्वथा असम्पृक्त अपनेमूल स्वरूप को स्वयं अपने ही चित्प्रकाश से परिपूर्ण परमेश्वर ही समझना । अपने में स्वाभाविकतया परमेश्वरता का अनुभव करना । पौरुष ज्ञान बौद्ध ज्ञान के भी मूल में ठहरा रहता है । इसे अपने शिवभाव की साक्षात् अनुभूति कह सकते हैं । पौरुष ज्ञान में पूर्ण स्थिरता के लिए बौद्ध ज्ञान का होना बहुत आवश्यक माना गया है । (दे. बौद्ध ज्ञान) ।

प्रकाश

चेतना का सतत-चमकता हुआ ज्ञानात्मक स्वरूप । चेतना का अपना स्वाभाविक अवभास। ज्ञान । शुद्ध संविद्रूपतत्त्व । शुद्ध अहं रूप चेतना या आत्मा का अनुत्तर स्वरूप । जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तथा सुख, दुःख आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं एवं भावों में अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हुए भी इन सभी अवस्थाओं एवं भावों से उत्तीर्ण तुर्या में स्फुटतया चमकने वाला शुद्ध ज्ञान स्वरूप संवित् । (स्प.का. 3,4,5) । शिव का नैसर्गिक स्वरूप । (ई.प्र. 1-32, 33, 34) । प्रकाश वह तत्त्व है जो स्वयं अपने ही स्वभाव से चमकता हुआ अन्य सभी वस्तुओं को, शरीरों को, अंतःकरणों को, इंद्रियों को, विषयों को,भुवनों को, भावों को अर्थात् समस्त संसार को ज्ञान रूप प्रकाश से चमका देता है ।

प्रकाशविश्रांति

अपनी शुद्ध प्रकाशरूपता का ही आश्रय लेकर उसी से सर्वथा कृतकृत्य हो जाना । प्रकाश विश्रांति का अभ्यास करने वाले योगी को उस अभ्यास में सतत गति से अपने असीम, शुद्ध और परिपूर्ण चिद्रूपता का अपरोक्ष साक्षात्कार होता रहता है । उसे प्रकाश के स्वभावभूत ऐश्वर्य की भी साक्षात् अनुभूति होती रहती

है । उसे अपने से भिन्न किसी उपास्य देव का ध्यान नहीं रहता है और न ही किसी सुख, दुःख आदि आभ्यंतर विषय का तथा न ही किसी नील, पीत आदि बाह्य विषय का आभास ही शेष रहता है । न ही उसे अपने संकुचित जीव भाव का ही कोई संवेदन शेष रहता है । वह इन सब से ऊपर चला जाता है । इस अभ्यास से साधक में शिवभाव का समावेश हो जाता है ।

प्रकृति तत्त्व

मूल प्रकृति । प्रधान तत्त्व । छत्तीस तत्त्वों के क्रम में तेरहवां तत्त्व । परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा ही संकोच की अवस्था में माया तत्त्व के रूप को धारण करती है । भगवान अनंतनाथ इस माया तत्त्व को प्रक्षुब्ध करके पांच कंचुक तत्त्वों को प्रकट करते हैं । उनके संकोच के भीतर घिरा हुआ चिद्रूप प्रमाता पुरुष तत्त्व के रूप में प्रकट होता है और उसका सामान्याकार प्रमेय तत्त्व सामान्यतः 'इदं' इस रूप में प्रकट होता हुआ प्रकृति तत्त्व या मूल प्रकृति या प्रधान तत्त्व कहलाता है । इस सामान्याकार 'इदं' में आगे सृष्ट होने वाले सभी तेईस तत्त्व समरस रूप में स्थित रहते हैं । सत्त्व आदि तीन गुण भी इस अवस्था में साम्य रूप से ही स्थित रहते हैं । इसे गुण साम्य की अवस्था भी कहते हैं । (तं.सा. पृ.83) । दे0 गुण तत्त्व ।

प्रणव कला

प्रणव परमेश्वर का वाचक है । प्रणव की उपासना में परमेश्वरता की सूक्ष्म सूक्ष्मतर विशेषताओं का साक्षात्कार होता है । प्रणव की ध्वनि की उत्तरोत्तर गूंज के अभ्यास के साथ ही साथ योगी उन सभी विशेषताओं का साक्षात्कार क्रम से करता जाता है । उस क्रम में सूक्ष्मतर उच्चारण काल के विभाग की कलना भी होती है । परब्रह्म की उन विशेषताओं का साक्षात्कार कराने वाली प्रणव की ध्वनि की गूंज की उन सूक्ष्मतर कलाओं को प्रणव की कलाएं कहा जाता है । वे कलाएं बारह हैं जो क्रम से - अकार,उकार, मकार,बिंदु, अर्धचंद्र, निरोधी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी,समता और उन्मना हैं । बिंदु का काल आधी मात्रा है और उससे आगे वाली कलाएं उत्तर उत्तर आधे-आधे काल की होती हैं । इस प्रकार के सूक्ष्म सूक्ष्मतर काल-विश्लेषण के सामर्थ्य का उदय शिवयोगी में ही होता है । अंतिम कला उन्मना ब्रह्म की वह विशेषता है जहां काल की कलना ही सर्वथा विलीन हो जाती है और अकालकलित शिवतत्त्व ही चमकता हुआ शेष रह जाता है । (स्व. तं. 9.4-255, 256) ।

प्रतिबिंब/वाद

वह वाद, जिसके अनुसार संपूर्ण विश्व परमशिव की शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूपता में दर्पण प्रतिबिम्ब न्याय से चमकता हुआ ठहरता है । जो कुछ भी जिस भी रूप में आभासित होता है वह उसी संविद्रूपता में आभासित होता है । इस प्रकार उससे भिन्न रूप में बाह्यरुपतया कुछ भी स्थित नहीं है । (तें.आ.वि. खं. 2, पृ. 32) । जिस प्रकार दर्पण में कोई भी प्रतिबिंब विपरीत रूप में प्रकट होता है,अर्थात् दायां बायां दिखाई देता है तथा बायां दायां दिखाई देता है, उसी प्रकार यह संपूर्ण विश्व भी परमशिव के प्रकाश रूप दर्पण में प्रतिबिंबित होता हुआ विपरीततया ही प्रकट होता है । यह वस्तुतः शुद्धि 'अहं' स्वरूप चिद्रूपप्रमाता है, परंतु 'इदं' के रूप में अचिद्रूपतया और प्रमेयरूपतया दीखता है । यही इस प्रतिबिंब की प्रतीयता या उल्टापन है । यही भेदावभासन की प्रक्रिया है । समस्त विश्व को उसी के प्रतिबिंब के रूप में समझना मोक्ष है तथा भेद के रूप में समझना बंधन है । वस्तुतः दर्पण में प्रतिबिंबित हो रही वस्तु के प्रतिबिंब की दंर्पण से भिन्न कोई अलग सत्ता नहीं है । उसी प्रकार परमशिव की संविद्रूपता में प्रतिबिंबित हो रहे समस्त विश्व की संविद्रूपता से भिन्न कोई अलग सत्ता नहीं है । दर्पण एक जड़वस्तु है, परंतु संवित् चेतना है., प्रकाश और विमर्श का परिपूर्ण सामरस्य है । दर्पण किसी बिंब रूप वस्तु के सामने आने पर ही प्रतिबंब को ग्रहण कर सकता है; उसके बिना नहीं । परंतु संवित् एक चिद्रूप तथा स्वतंत्र दर्पण है,अतः अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिंबों को अपने ही भीतर प्रकट करता रहता है । उसी की शक्तियों के प्रतिबिंब छत्तीस तत्त्वों के रूप में प्रमेयतया प्रकट होते रहते हैं और उसी की इच्छा से ऐसा होता रहता है । (वही पृ. 30; तं.आ. 3-4 से 8) । इस प्रकार शैव दर्शन के अनुसार परमशिव ही इस प्रतिबिंब न्याय से अपनी परिपूर्ण स्वातंत्र्य शक्ति द्वारा बिम्ब एवं प्रतिबिंब आदि के चित्र विचित्र रूपों में सतत रूप से अवभासित होता रहता है । (वी पृ.12) । इस तरह से जगत की सृष्टि प्रतिबिंब न्याय से ही हुआ करती है । ऐसा सृष्टि सिद्धांत ही शैवदर्शन का प्रतिबिंबवाद है ।

प्रतिष्ठा कला

तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं । एक एक कला कई एक तत्त्वों को व्याप्त कर लेती है । जलतत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक की समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म सृष्टि को व्याप्त करने वाली कला को प्रतिष्ठा कला कहते हैं । इस कला पर समस्त

स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपंच प्रतिष्ठित हो कर रहता है। (तं.सा.पृ. 109)। प्रतिष्ठा कला को प्राकृत अंड भी कहते हैं। (तं.सा. पृ. 110)।

प्रतिष्ठित स्पंद

दे. सामान्य स्पंद।

प्रत्यक्षाद्वैत

वेदांत आदि अद्वैत शास्त्रों की प्रक्रियाओं में या तो समाधि की अवस्था में अद्वैतता का साक्षात्कार होता है या शरीर के छूट जाने पर अशरीर मुक्ति की दशा में। परंतु शैवशास्त्र की प्रक्रियाओं में इन दो दशाओं के अतिरिक्त सांसारिक व्यवहार की इस जगत्रुपिणी दशा में भी अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। तदनुसार एक उत्कृष्टतर शिवयोगी अपनी बाह्य इंद्रियों से सर्वत्र एकमात्र शिवरूपता को ही देखता है। जिस तरह से एक योग्य स्वर्णकार की पैनी दृष्टि बीसों प्रकारों के अलंकारों में एकमात्र स्वर्ण की ही शुद्धि के स्तरों की दशाओं को देखा करती है, अलंकारों के बाह्य आकारों की ओर उसकी अवधान दृष्टि जाती ही नहीं, उसी तरह से ऐसा योगी सांसारिक विषयों के बाह्य आकार की ओर अपने अवधान को न लगाता हुआ सर्वत्र एकमात्र शुद्ध और परिपूर्ण शिवता को ही अपने अवधान की दृष्टि से देखा करता है। इस प्रकार से देखे जाने वाले अद्वैत को आ० अभिवनगुप्त के पिता आ. नरसिहंगुप्त ने प्रत्यक्षाद्वैत कहा है। (मा.वि.वा. 1-760 से 764)।

प्रत्यभिज्ञा

पहले जाने हुए, पर आगे विस्मृत हुए अपने परिपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त संविदात्मक शुद्ध स्वरूप का पुनः स्मरणात्मक ज्ञान। परमेश्वर अपने स्वातंत्र्य से अपने ही आनंद के लिए जीव रूप में प्रकट होता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को भुला डालता है। ऐसी अवस्था में आने के अनंतर जीव को जब कभी पुनः अपने परिपूर्ण आनंदात्मक शुद्ध स्वरूप की पहचान हो जाती है तो उसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। समस्त व्यावहारिक ज्ञान बहिर्मुखी होता है, परंतु प्रत्यभिज्ञा अपने अंतर्मुखी स्वस्वरूप का साक्षात्कार करवाने वाली होती है। यही इसकी प्रतीपता है जो प्रति उपसर्ग से द्योतित होती है। (ई.प्र.वि. खं. 1, पृ. 19-20)।

प्रत्यवमर्श

अपने शुद्ध एवं परिपूर्ण स्वरूप का विमर्श । अपने परिपूर्ण अहं के बारे में किया गया परामर्श । शिवशक्ति की परिपूर्ण सामरस्यात्मक अपनी संविद्रूपता का विमर्शन । अह्मात्मक असांकेतिक पर परामर्श । (तं.आ. 3–235; वही वि.पृ. 224) । व्यवहार में अवमर्श प्राय: बाह्य विषयों का या अधिक से अधिक सुख दुःख आदि आभ्यंतर भावों का ही हुआ करता है । जैसे यह नील है, यह पीत है, मैं सुखी हूं, मुझे आश्चर्य हो रहा है इत्यादि । परंतु चेतना की अंतर्मुखी गति से उसे उल्टा (प्रतीय) अपने ही स्वरूप का अहंरुपतया भी विमर्शन होता ही रहता है । इसी अंतर्मुखी स्वात्म विमर्शन को प्रत्यवमर्श कहते हैं ।

प्रधान तत्त्व

दे. प्रकृति तत्त्व ।

प्रबुद्ध

जब देहात्मवाभिमान रूपी द्वैतपरक अज्ञान (दे.) का साधना द्वारा नाश हो जाता है तो साधक अपने पशुभाव को भूलकर अपनी शुद्ध संविद्रूपता का आवेश लेने लगता है। ऐसी अवस्था में पहुंच जाने पर वह प्रबुद्ध कहलाता है ।(स्व.तं.प. 3–128, 129) । ऐसी अवस्था ईश्वर के शक्तिवात से ही सुलभ होती है । ईश्वर के शक्तिपात से ही जीव में सद्गुरू के पास जाने की प्रेरणा प्राप्त होती है । गुरु की आज्ञा के अनुसार सतत अभ्यास से उसके मोहपाशों का क्षय हो जाता है। इस प्रकार वह प्रबुद्ध की अवस्था को प्राप्त करता हुआ आगे सुप्रबुद्ध बनने के योग्य बन जाता है । (स्व.वि.पृ. 8,9,56) । प्रबुद्ध ज्ञानी को और सुप्रबुद्ध पूर्णज्ञानी को कहते हैं ।

प्रभुशक्ति

परमशिव की सर्वत्र अखंडित रूप से चमकने वाली परिपूर्ण स्वातंत्र्य शक्ति । (शि.सू.वा. यपृ. 48; तं.आ.0 6–53) । दे. स्वातंत्र्य शक्ति ।

प्रमा

प्रमाण के फल को प्रमा कहते हैं । प्रमाण प्रकाश रूप होता है और उसी की विमर्शरूपता को प्रमा या प्रमिति कहते हैं । शैव दर्शन में इसे स्वात्मविश्रांति के रूप में ठहराया गया है । तदनुसार प्रमाण के द्वारा जब प्रमाता प्रमेय के विषय में निश्चय कर लेता है कि यह अमुक वस्तु है और अमुक स्वभाव की है तो तदनंतर उसे एक या संतोषमयी विमर्शात्मिक स्वात्मविश्रांति का उदय हो जाता है जिसमें प्रमेय और उसका निश्चय दोनों ही प्रमाता के स्वरूप में ही समा जाते हैं । उसका आकार यह होता है – अमुक वस्तु को मैंने जान लिया या अमुक वस्तु के विषय में मैं ज्ञानवान हो गया । प्रमाण के व्यापार में प्रमेय के स्वरूप और स्वभाव के निश्चय की प्रधानता होती है कि यह अमुक वस्तु है । परंतु प्रमा की अवस्था में उस निश्चयात्मक ज्ञान के स्वामी अहंरूपी आत्मा ही की प्रधानता होती है; प्रमेय की या प्रमाण की नहीं । ऐसी प्रमातृ विश्रांति को प्रमा कहते हैं । प्रमा तभी तक प्रमा बनी रहती है जब तक किसी अन्य प्रमाण से उसकी यथार्थता बाधित न हो जाए । बाधित हो जाने पर उसका प्रमाभाव पूर्वकाल से लेकर ही उखड़ जाता है । (दे. प्रमाण)

प्रमाण

1. दे. सूर्य ।

2. लौकिक – उस ऐंद्रियिक संवेदन, मानस बोध, अनुमान,शाब्द बोध आदिवस्तुको व्यवहार में प्रमाण कहते हैं जिसके द्वारा किसी प्रमेय के स्वरूप की व्यवस्था हो जाए कि यह अमुक वस्तु है या उसके स्वभांव की व्यवस्था हो जाए कि यह ऐसी या वैसी वस्तु है । प्रमाण रूप ज्ञान क्षणिक होता है । उसका प्रति क्षण उदय और लय होता रहता है । उसके संस्कार प्राणी में अंकित होकर रहते हैं । एक एक प्रमाण रूप ज्ञान का विषय एक एक वस्तु होती है जिसके लिए एक एक शब्द का प्रयोग किया जाता है । प्रमाण तभी तक प्रमाणरूपतया स्मृति के क्षेत्र में ठहरता है जब तक उसकी अपनी मान्यता किसी और बलवान् प्रमाण से बाधित न होने पाए । बाधित हो जाने पर उसकी प्रमाणता पूर्वकाल से ही उखड़ जाती है । प्रमाण वस्तु के और उसकी विशेषताओं के प्रकाश को कहते हैं और उनके विमर्श को प्रमा कहते हैं ।

माया क्षेत्र में ही प्रमाण का प्रशासन चलता है । माया से ऊपर जो परमेश्वर रूप मूल तत्त्व है वह कभी भी लौकिक प्रमाणों का विषय नहीं बन सकता है । वह तो स्वयं अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान बना रहता है । शास्त्रज्ञान और योगाभ्यास भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते। ये उपाय साधक को उस स्थिति पर पहुंचा सकते हैं जहां वह स्वयं अपने वास्तविक स्वभावभूत परमेश्वरता के रूप में स्वयं अपने ही प्रकाश से चमकता रहता है ।

प्रमाता (तृ) (पारमार्थिक)

समस्त प्रमाओं में स्वातंत्र्यपूर्वक विहरण करने वाला तथा उनके उदय और लय को करने वाला, समस्त प्रमारूपी नदियों का एकमात्र विश्रांति स्थान रूपी समुद्रकल्प परिपूर्ण संवित्स्वरूप परमेश्वर । प्रमातृ पद में तृ प्रत्यय कर्तृत्व का द्योतक है और कर्तृत्व स्वातंत्र्य का नाम है । परिपूर्ण स्वातंत्र्य एकमात्र परमेश्वर में ही है। अतः वही वस्तुतः एकमात्र प्रमाता है । शेष सभी लौकिक तथा अलौकिक प्रमातृगण उसी के आकार भेद हैं ।

प्रमाता (तृ) (व्यावहारिक)

शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित ही जब अपने स्वातंत्र्य से प्रमाण तथा प्रमेय के भेद का दहन करने वाली चिद्रूप वह्नि (दे.) का रूप धारण करती है तो उस अवस्था में पहुंचने पर उसके इस परिमित रूप को ही प्रमाता कहते हैं । (तं.आ. 3-123,124) । शैवदर्शन में सात प्रकार के प्रमाता माने गए हैं : अकल, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर, मंत्र (विद्येश्वर) विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल । (यथास्थान दे.) । ये प्रमाता प्रमेयों को विविध दृष्टियों से देखते हैं, जानते हैं और उनके विषय में निश्चय करते हैं। मंत्र,मंत्रेश्वर आदि उनका विमर्शन मात्र करते हैं । दर्शन, निश्चय आदि माया के क्षेत्र में ही होते हैं । शुद्ध विद्या में और शक्ति क्षेत्र में केवल विमर्शन ही होता है ।

प्रलय

पारमेश्वरी लीला की वह भूमिका, जिसमें समस्त बाह्य प्रपंच माया में पूर्णतया विलीन हो जाता है । (तं.सा. पृ.55) । इस प्रलय के करने वाले अधिकारी भगवान् अनंतनाथ हैं ।

8-19 HRD/95

प्रलय अवांतर

पारमेश्वरी लीला की वह भूमिका, जिसमें सारी त्रिगुणात्मक सृष्टि, समस्त कार्यतत्त्व और करण तत्त्व मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। (तं.सा. पृ. 54-5) इस प्रलय को भगवान् श्रीकंठनाथ करते हैं ।

प्रलय महा

पारमेश्वरी लीला की वह भूमिका, जिसमें सदाशिव तत्त्व (दे.) तक का समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म प्रपंच शक्ति में विलीन हो जाता है तथा अंततः शक्ति का भी शिव में लय हो जाता है । (तं.सा.पृ. 55-6) । इस प्रलय को अनाश्रित शिव ही स्वयं करते हैं ।

प्रलयाकल

प्रलयकेवली । प्रलयकाल तक ही अकल अर्थात् कला से और उसके विस्तार से रहित रहने वाले प्राणी । सुषुप्ति में ठहरने वाले प्राणी । इन प्राणियों में आणवमल के दोनों प्रकारों की अभिव्यक्ति होने के कारण इनके प्रकाशात्मक स्वरूप तथा विमर्शात्मक स्वभाव, दोनों में ही संकोच आ जाता हे । परिणामस्वरूप ये प्राणी शून्य, प्राण, बुद्धि आदि जड़ पदार्थे में से किसी एक को अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगते हैं । अपने क्रिया स्वातंत्र्य के अत्यधिक संकोच हो जाने के कारण ये शून्य गगन की जैसी स्थिति में तब तक सुषुप्त होकर पड़े रहते हैं जब तक भगवान् श्रीकंठनाथ इन्हें नई प्राकृत सृष्टि के समय जगाते नहीं । इनमें कार्ममल भी सुषुप्त होकर ही रहता है । सवेद्य सुषुप्ति में रहने वाले प्राणियों में मायीय मल का भी प्रभाव रहता है । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 225) ।

प्राकृत अंड

दे. निवृत्ति कला ।

प्राण

1. प्राण, अपान आदि पांच प्राणों में से प्रथम प्राण । विषयों का उत्सर्ग करने वाली जीवनवृत्ति जो जाग्रत् और स्वप्न दशाओं में चलती रहती है । हृदय

से उठकर बाह्य द्वादशांत तक संचरण करने वाली प्रश्वास वायु । (ई.प्र. वि.सं. 2 पृ. 244–245) ।

2. खात्मा अर्थात् शून्य प्रमाता (दे.) भेद की ओर उन्मुख होता हुआ जिस प्रथम परिणाम को प्राप्त होता है उसे ही प्राण, स्पंदी, ऊर्मिक, स्फुरता आदि कहा जाता है। सृष्टि क्रिया के प्रति उन्मुख बने हुए संवित् तत्त्व के प्रथम परिणाम को प्राण कहा जाता है । इसे प्राणन शक्ति और जीवन शक्ति भी कहा जाता है इसी शक्ति से युक्त पदार्थ को प्राणी कहा जाता है । प्राण, अपान आदि पांचों प्राणों में यही प्राणशक्ति स्पंदित होती है । इस प्रकार इन पांच प्राणों को व्याप्त करके ठहरने वाला मूल प्राण । (तं.आ.आ. 6–11 से 14) । यह जीवनशक्ति अकल से लेकर सकल तक सभी प्राणिवर्गों में भिन्न भिन्न प्रकारों से जीवन व्यापारों को चलाती है ।

प्राणउच्चार/धारणा

दे. उच्चार योग ।

प्राण प्रमाता

माया से संकुचित संवित् को अपना वास्तविक स्वरूप मानने वाला प्रमेय, प्रमाण आदि के प्रपंच के आभास से रहित प्रमाता । आकाश तुल्य शून्य प्रमाता ही अपनी शून्यता को दूर करने के प्रति उन्मुख होता हुआ और अपने को ग्राह्य विषय से भरना चाहता हुआ जब सुखमयता, भारीपन, हल्कापन आदि भावों का अत्यंत अस्फुट अनुभव करता हुआ आभासित होता है तो ऐसी अवस्था में उसी को प्राण प्रमाता कहा जाता है । इसे प्राण प्रलयाकल भी कहते हैं । यह सवेद्य सुषुप्ति का प्राणी होता है । (तं.आ.वि. खं. 4 पृ. 10) ।

प्राण प्रलयाकल

प्राण में ही विश्रांत भाव से ठहरने वाले प्राणी । दे. प्रलयाकल ।

प्राण योग (उच्चार/ध्वनि)

दे. उच्चारयोग एवं ध्वनि योग ।

प्राण सुषुप्ति

दे. सवेद्य सुषुप्ति ।

प्राणोत्क्रमण दीक्षा

यह दीक्षा शिष्य को सद्यः शिव के साथ एक कर देती है । शिष्य के मरणक्षण को गुरु अपने ज्ञान बल से जान लेता है । तब मरणक्षण से ज़राभर पहले ब्रह्मविद्या के मंत्रों का उच्चारण करते करते शिष्य के प्राणों का पादांगुष्ठ से लेकर ब्रह्मरंध्र तक क्रम से पहुंचाकर उस द्वार से उनका उत्क्रमण करा देता है । तदनंतर शिष्य की आत्मा को मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति, कंचुक आदि पाशों में से ऊर्ध्व संक्रमण करवाता हुआ ब्रह्म विद्या के उन्हीं मंत्रों की सहायता से उसे माया के भी पार ले जाकर तथा शुद्ध विद्या के क्षेत्र से पार करा कर शिवशक्ति स्वरूप परमेश्वर के साथ उसे एक कर देता है । इस दीक्षा का विधान तंत्रालोक के तीसवें आह्निक विस्तारपूर्वक बताया गया है । इस दीक्षा को सद्योनिर्वाणदीक्षा या समुत्क्रमणदीक्षा भी कहते हैं । (स्व.तं., खं. 2, पृ. 94) ।

प्रातिभ ज्ञान

बिना शास्त्र अध्ययन के, बिना दीक्षा के और बिना योगाभ्यास के स्वयमेव अनायास ही उदय होने वाला ज्ञान । ऐसा ज्ञान प्रायः मध्य तीव्र शक्तिपात का पात्र बने हुए साधक में स्वयमेव उदित होता है । उसे समय दीक्षा, अभिषेक,याग, व्रत आदि की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसे न तो शिष्य ही कहा जा सकता है और न गुरु ही । उसके लिए एक और ही परिभाषा है – 'शिष्ट' । कभी तो प्रातिभ ज्ञान सद्यः सुदृढ़ हो जाता है, परंतु कभी गुरु और शास्त्र की सहायता से ही दृढ़ता को प्राप्त कर जाता है । प्रातिभ ज्ञान के पात्र के विषय में यह माना जाता है कि शिव की शक्तियां उसे स्वयमेव उत्कृष्ट ज्ञान की दीक्षा देती हैं । उसी से उनमें ज्ञान का उदय हो जाता है । परंतु वह दीक्षा एक अंत:प्रेरणामयी दीक्षा होती है, कोई वैधी दीक्षा नहीं होती है । अतः उन्हें भी उस बात का कुछ पता ही नहीं चलता है ।

प्रोल्लास भूमि

आत्म चैतन्य के परिपूर्ण उन्मेष की दशा । इसे निरानंद नामक आनंद को अभिव्यक्त करने वाली भूमिका भी कहा जाता है । (शि.सू.वा. पृ.21) । दे. निरानंद ।

प्लुति

दे. उद्भव ।

बंधन

अपने स्वरूप तथा स्वभाव को क्रमशः शुद्ध प्रकाश रूप तथा शुद्ध विमर्श रूप न समझकर केवल शून्य, प्राण, बुद्धि, देह आदि जड़ पदार्थों को ही अपना वास्तविक स्वरूप तथा अल्पज्ञता आदि को अपना स्वभाव समझना बंधन कहलाता है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 252-3) । वस्तुतः बंधन और मोक्ष में कोई भी अंतर नहीं है । दोनों का आधार केवल अभिमनन मात्र ही है । ये दोनों पारमेश्वरी लीला के मात्र दो प्रकार हैं । इसमें शिवभाव का अभिमनन मोक्ष तथा जीव भाव का अभिमनन बंधन कहलाता है। (वही पृ. 129-30, बो. पं. द. 14) ।

बाह्य/बाह्यता

जो जो वस्तु संविद्रूपी अहं के साथ अभिन्नतया आलासित होती है उसे आंतर कहते हैं और जो जो उससे भिन्नतया प्रकट होती है उसे बाह्य कहते हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में स्पष्टतया कहा गया है कि प्रमाता के साथ अभेद ही आंतरता है और उससे भेद ही बाह्यता है । (ई.प्र0 1-8-8) ।

अज्ञानवश शरीर आदिको प्राणी अहं रूपतया जानता है । इसी कारण आणवयोग की स्थानकल्पना में बुद्धि को, प्राण को और शरीर को बाह्य न कहकर केवल ग्राह्य कहा गया है और देशरूप तथा कालरूप छः अध्वारूप आलंबनों को ही बाह्य कहा गया है । बुद्धि आदि केवल ग्राह्य ही हैं, परंतु देश और काल ग्राह्य होते हुए साथ ही बाह्य भी हैं ।

बाह्य द्वादशांत ।

दे. द्वादशांत ।

बिंदु

1. भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से अभिव्यक्त होने वाली ज्योति । (स्व.तं.खं. 2, पृ. 163) ।

2. बिंदु – ईश्वर । यह पद भिदिर अवयवे से बनता है । ईश्वर भट्टारक ही प्रमातृता और प्रमेयता का स्रष्टृटता और स्रक्ष्यमाणता का भेदमयतया विमर्शन करता है । इस तरह से अवयवन अर्थात् विश्लेषण का श्रीगणेश उसी से होता है । अतः वह बिंदु कहलाता है और शुद्ध विद्या को उसका नाद कहा जाता है । उससे ऊपर शिवभट्टारक को विंदु कहते हैं। विंदु का अर्थ होता है इच्छु : अर्थात् इच्छा शक्ति से आविष्ट । सदाशिव दशा को इसीलिए उस विंदु का नाद कहते हैं । विंदु, पर – प्रकाश, परमेश्वर, शिव । अमा कला। पराजीव कला । (वही पृ. 168) । दे. विंदु ।

बीज

1. संपूर्ण विश्व की मूलभूता शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित् । (शि.द1.वा. पृ. 57,61) ।

2. अ से लेकर विसर्ग पर्यंत संवित्स्वरूप सोलह स्वरों का समूह । इन स्वरों में आगे के समस्त वर्ण बीज रूप में स्थित रहते हैं । इस प्रकार सारा वाचक–वाच्य आदि योनि वर्ग (दे.) इन स्वरों में संवित्स्वरूप में ही रहता है । सभी व्यंजनों आदि की सृष्टि इन्हीं स्वरों से होती है । स्वरों के वर्ण को साक्षात् परसंवित्स्वरूप भैरव भी कहा जाता है । (स्व.तं.उ. 1 पृ. 27, 28)।

बुद्ध

सामान्य ज्ञान को धारण करने वाला प्राणी । ऐसे प्राणी में अपने स्वरूप के साक्षात्कार के लिए किसी भी प्रकार की तीव्र उत्कंठा नहीं होती जैसा कि प्रबुद्ध (दे.) में हुआ करती है परंतु अबुद्ध (दे.) की तरह इनका ज्ञान अतीव संकुचित भी नहीं होता है । इनमें इतंना सा सामान्य ज्ञान होता है कि भक्ति और ज्ञान के माध्यम से वे अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकते हैं । प्रयास करने पर ये प्रबुद्ध की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं । जाग्रत् अवस्था में ठहरे जीवों का यह द्वितीय प्रकार होता है ।

बुद्धि तत्त्व

सत्त्वगुण प्रधान महत्–तत्त्व । मूल प्रकृति में स्थित गुणों में विषमता के आ जाने पर सर्वप्रथम प्रकट होने वाला प्रमुख अंतःकरण । करण, ज्ञान तथा

क्रिया के साधन को कहते हैं । बुद्धि तत्त्व प्रमेय को प्रकाशित करने के कारण तथा नाम रूप की कल्पना करने के कारण पुरुष के लिए क्रमशः ज्ञान और क्रिया का साधन बनता है । सुख, दुःख तथा मोह का सामान्य रूप से निश्चय करने वाला तत्त्व । (ई. प्र. वि. 2, पृ. 205, 212; शि. सू. वि. पृ. 44) । व्यवहार में समस्त आंतर और बाह्य विषयों का निश्चयात्मक अध्यवसाय कराने वाला पुरुष का मुख्य अंतःकरण बुद्धि तत्त्व कहलाता है ।

बुद्धि धारणा

दे. ध्यान योग ।

बुद्धि प्रमाता

बुद्धि को ही अपना स्वरूप समझने वाला प्राणी । स्वप्न अवस्था में शरीर और बाह्य इंद्रियां सभी निष्क्रिय पड़े रहते हैं । फिर भी सारे उपादान, परित्याग आदि व्यापार तीव्रतर गति से चलते रहते हैं । उनको चलाने वाला तथा उनके चलाने के अभिमान को करने वाला सूक्ष्म शरीर रूपी प्राणी ही बुद्धिप्रमाता कहलाता है । यह प्रमाता अन्य सभी करणों के सूक्ष्म रूपों का उपयोग तो करता रहता है और प्राणवृत्तियों का भी उपयोग करता रहता है । फिर भी बुद्धिकृत संकल्प विकल्प आदि की ही इसमें प्रधानता रहती है, अतः इसे बुद्धि-प्रमाता कहते हैं । देहांतरों को यही प्रमाता धारण करता है और स्वर्ग नरक आदि लोकों की गति इसी की हुआ करती है । देवगण सभी बुद्धि प्रमाता ही होते हैं।

बृंहक

परब्रह्म, परमेश्वर, परमशिव । परमेश्वर में जो विश्व बीजरूपतया अर्थात् शक्तिरूपतया सदा विद्यमान रहता है उसी को वह दर्पण नगर न्याय से प्रतिबिंब की तरह अपने से भिन्न रूपता में प्रकट करता रहता है । वही विश्व का विकास कहलाता है । ऐसे विकास को बृंहण कहते हैं । इस बृंहण को करने वाला विश्वबृंहक या विश्वविकासक स्वयं परमेश्वर ही है । इसी बृंहणसामर्थ्य के कारण उसे शास्त्रों में ब्रह्म कहा गया है । (सा.वि.व.) 1-253) ।

बौद्ध अज्ञान

मायाआदि छः कंचुकों से घिर कर पशुभाव की अवस्था में आने पर अशुद्ध विकल्पों द्वारा संकुचित ज्ञातृता तथा कर्तृता का आत्माभिमान होना तथा अपने पशुभाव का बुद्धि के स्तर पर निश्चय होना बौद्ध अज्ञान कहलाता है । (तं.आ., 1-39,40) । अपने तात्त्विक स्वभाव का ज्ञान न होने के कारण अनात्म वस्तुओं पर आत्माभिमान का निश्चय होना भी बौद्ध अज्ञान कहलाता है । (तं.सा, पृ. 3) । इस तरह से बौद्ध अज्ञान बुद्धि के स्तर पर होने वाले अयथार्थ और सीमित तथा विकल्पात्मक निश्चय ज्ञान को कहते हैं ।

बौद्ध ज्ञान

बुद्धि के स्तर पर अपने तात्त्विक स्वभाव का निश्चयात्मक ज्ञान बौद्ध ज्ञान कहलाता है । (त.सा. पृ.2) । बौद्ध ज्ञान के बिना पौरुष ज्ञान में स्थिति प्राप्त करना अतीव कठिन है, क्योंकि पौरुष ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी यदि बुद्धि के भीतर किसी प्रकार के संशय रह जाएं तो पौरुष ज्ञान सफल नहीं हो पाता है । अतः पौरुष ज्ञान से पूर्व बौद्ध ज्ञान का होना आवश्यक माना गया है । (तं.आ. 1.48, 49) ।

ब्रह्म

परतत्त्व । परमशिव तत्त्व । पंचकृत्यों द्वारा विश्वलीला का विकासक परमेश्वर । बृहत् अर्थात् असीम और सर्वव्यापक चैतन्यात्मक प्रकाश, जो संपूर्ण जगत् का बृहंक अर्थात् विकासक है । समस्त प्रपंच कां बृंहण अर्थात् विकास करने के कारण ही परमेश्वर को ब्रह्म कहते हैं । (प.जी.वि. पृ. 221) । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पांच कारणों को भी पंच ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि ये ही इस विश्व विकास के कार्य को स्फुटतया आगे आगे चलाते रहते हैं ।

ब्रह्म त्रि

श, ष और स – मातृकाके ये तीन वर्ण ।

ब्रह्म पंच

1. श, ष, स, ह, क्ष – मातृका के ये पांच वर्ण ।

2. ब्रह्मा आदि पांच कारण ।

ब्रह्मानंद

उच्चार योग की प्राण धारणा में भिन्न भिन्न स्तरों पर अभिव्यक्त होने वाली आनंद की छः भूमिकाओं में से चौथी भूमिका । अपान द्वारा प्राण में अनंत प्रमेयों को विलीन कर देने की स्थिति में सहज स्थिरता आ जाने पर साधक प्राण योग में समान प्राण पर विश्रांति का अभ्यास करता है । इस अभ्यास में वह कोई भी आकांक्षा न रखते हुए सभी प्रमेय पदार्थों को भावना द्वारा समरसतया संघट्ट रूप में देखता है । इसके लिए वह समान नामक प्राण वृत्ति को ही आलंबन बनाता है । इस प्रकार समान प्राण पर विश्रांति के सतत अभ्यास से जो आनंद की भूमिका अभिव्यक्त होती है, उसे ब्रह्मानंद कहते हैं । (त.सा. पृ. 38, तं.आ. 5-46, 47) ।

भक्ति

काश्मीर शैव दर्शन में उत्कृष्ट पराद्वैत ज्ञान के, समावेशात्मक उत्कृष्ट योग के और पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए प्रेम के समन्वयात्मक स्वरूप को ही भक्ति कहा गया है । दे. परा भक्ति ।

भावना

भावनोपाय, ज्ञानयोग, शाक्त उपाय, ज्ञानोपाय, शाक्तयोग । ज्ञानयोग का वह अभ्यास, जिसमें साधक शुद्ध विकल्पों के माध्यम से यह अंतः परामर्श करता रहता है कि समस्त प्रपंच के संपूर्ण भावों एवं पदार्थों में एक ही पर तत्त्व विद्यमान है; सारा प्रपंच उसी परतत्त्व में संवित् रूप में ही रहता है; पर तत्त्व और उसमें (साधक में) मूलतः कोई भेद नहीं है; जो कुछ भी है वह उसी पर तत्त्व का अंतः या बाह्य रूप है; इत्यादि । इस प्रकार के शुद्ध विकल्पों द्वारा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय में कोई भी भेद न मानकर उन्हें विकल्प बुद्धि के द्वारा ही संवित् रूप समझने तथा इस तरह से स्वात्मशिवता को ही सर्वत्र देखने के अभ्यास को भावना या भावनोपाय कहा जाता है । (शि.दृ. 7.-5,6) । दे0 शाक्त उपाय ।

भुवन

तत्त्वों के स्थूल रूपों को भुवन कहते हैं । भुवनों को लोक भी कहा जाता है । भुवनों की संख्या भिन्न उपासना क्रमों में भिन्न भिन्न मानी गई है जो सूक्ष्मतर तथा स्थूलतर विश्लेषणों के आधार पर ठहरी रहती है । त्रिकशास्त्र के विशिष्ट गुरुओं ने इस संख्या को एक सौ अठारह माना है । तंत्रालोक आदि ग्रंथों में भुवन अध्वा की धारणा में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है । (तं.सा. पृ. 66-68)।

भुवन अध्वन्

आणवोपाय की देशाध्वा नामक धारणा का वह मार्ग, जिसमें प्रमेय अंश प्रधान भुवन नामक स्थूलतर देश को साधना का आलंबन बनाकर अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त करने के लिए अभ्यास किया जाता है । छत्तीस तत्त्वों के भीतर ही एक सौ अठारह भुवनों की कल्पना की गई है । भुवन अध्वा के अभ्यास में तत्त्वों के इन्हीं स्थूल रूपों को क्रम से आलंबन बनाना होता है । (तं.सा. पृ. 111) । इस योग से उन उन भुवनों को अपने ही भीतर देखने का अभ्यास करना होता है ।

भूचरी

वामेश्वरी शक्ति से अधिष्ठित वे शक्तियां, जो भू अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप आदि पंचात्मक मेयपद पर ही विचरण करती रहती हैं । इस पंचात्मक मेयपद का आभोग करती हुई आश्यानीभाव से तन्मयता प्राप्त करती रहती हैं । ये शक्तियां प्रबुद्ध साधक के लिए चित्प्रकाशरुपतया आभासित होती रहती हैं और सामान्य साधक के लिए सभी ओर से भेद का ही प्रसार करती रहती हैं। (स्प.सं. पृ. 20, 21) ।

भूतकंचुकी

पृथ्वी आदि से बने हुए इस स्थूल शरीर रूपी चोले (कंचुक) को धारण करने वाला ज्ञानी साधक जब तक प्रारब्ध कर्म के भोगों को पूरा नहीं कर पाता है तब तक वह इस संसार से छुटकारा न पाता हुआ यहीं जीवन्मुक्त की अवस्था में निवास करता रहता है परंतु उसे यह निश्चय हुआ होता है कि वह शुद्ध और परिपूर्ण संवित्स्वरूप ही है तथा यह पंच भौतिक शरीर उसका एक चोला मात्र ही है, वास्तविक स्वरूप नहीं है । इस तरह से शरीर को कंचुकवत् मानने वाला जीवन्मुक्त योगी । (शि.सं.वा. पृ. 84) ।

भूतकैवल्य

पंचभौतिक सृष्टि के सभी प्रकार के प्रभाव से मुक्त होकर केवल अपने शुद्ध चिदानंद स्वरूप में स्थिति । शैवी साधना के क्रम में नाडी संहार (दे.) कर लेने पर भूतजय (दे.) हो जाता है । भूतजय से साधक पंचभौतिक सृष्टि पर स्वातंत्र्य प्राप्त करके उसमें स्वेच्छा से विचरण करने की सामर्थ्य को प्राप्त कर लेता है । परंतु जब वह भूतजय से प्राप्त ऐश्वर्य को भी छोड़कर केवल अपनी शुद्ध संविद्रूपता में सहज ही प्रवेश कर जाता है तो उसकी उस अवस्था को भूत कैवल्य कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 48; वही टि. पृ. 47) ।

भूतजय

पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेना । साधक शैवी साधना के अभ्यास से सभी वृत्तियों को इडा आदि तीन नाडियों में शांत करने के पश्चात् शांत हुई वृत्तियों सहित तीनों नाडियों को ब्रह्मरंध्र रूपी चिदाकाश में विलीन करके नाडी संहार (दे.) करता है । नाडी संहार हो जाने पर पृथ्वी आदि धारणाओं का अभ्यास करता हुआ पंच भौतिक सृष्टि पर विजय प्राप्त कर लेता है । इसे ही भूतजय कहते हैं । इससे साधक पंच भैतिक विश्व में स्वच्छंद रूप से विहार करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है । (शि.सू.वा. पृ. 48; वही टि. पृ. 47) ।

भूतपृथक्त्व

सभी तत्त्वों पर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाने पर उन्हें स्वतंत्र रूप से संयोजन तथा वियोजन करने की सामर्थ्य का प्राप्त होना । शैवी साधना के अभ्यास से नाडी संहार (दे.), भूतजय (दे.) तथा भूतकैवल्य (दे.) में स्थिति हो जाने पर साधक अपने शुद्ध स्वरूप में आनंदाप्लावित होकर रहता है । इस स्थिति में स्थिरता आने से छत्तीस तत्त्वों पर तथा उनकी भिन्न भिन्न प्रकार की पदार्थ रचना पर उसे स्वातंत्र्य प्राप्त हो जाता है । इस स्वातंत्र्य से वह किसी भी पदार्थ या तत्त्व का संघटन या विघटन कर सकता है तथा सभी तत्त्वों को अपनी शुद्ध संविद्रूपता में समरस करके पारमेश्वरी अखंडित स्वातंत्र्य को प्राप्त कर सकता है । छत्तीस तत्त्वों पर उसकी ऐसे सामर्थ्य को भूतपृथक्त्व कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 48) ।

भेदाभेदोपाय

दे. शाक्त उपाय ।

भेदोपाय

दे. आणव उपाय ।

भैरव

1. विश्व का भरण, रमण एवं वमन करने वाला तथा ऐसा करने पर भी अपने अखंडित संवित्स्वरूपता में ही सतत रूप से आनंदाप्लावित रहनेवाला पर-भैरव परमशिव (शि.सू.वा. पृ.8) ।

2. भाव, उद्योग, उन्मेष आदिशब्दों से इंगित सतत स्फुरणशील शार्व तत्त्व । (वही पृ.9) ।

3. संसरणशील प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला । (स्व.तं.उ. 1 पृ.3) ।

4. संसार का संहार करने के कारण त्रास का कारण बना हुआ तथा इस त्रास से उत्पन्न हुए क्रंदन से जो अत्यधिक भयानक घोष वाला है और इस प्रकार के भयावह घोष से जो सतत रूप से चमकता रहता है । (वही) ।

5. सांसारिक प्राणियों को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करवाने वाली खेचरी, गोचरी आदि संवित्स्वरूपा शक्तियों का स्वामी । (वही. पृ.4) ।

6. संसार का संहार करते रहने के कारण भीषण बने हुए रूप वाला ।

7. चौसठ अभेद प्रधान आगमों के उपदेश करने वाले मंत्र कोटि के देवता। (भा.वि.तं. 1-390,391) ।

भैरव-आगम

अभेद दृष्टि को लेकर भैरवों द्वारा कहे गए चौंसठ अभेद प्रधान शैव आगम । (मा.वि.वा. 1-390 से 92) । पंच मंत्रों की विविध प्रकार से सम्मिलित दृष्टियों को लेकर के दिव्य शरीरों में प्रकट होकर अभेद दृष्टि की प्रधानता को अपना कर शैवदर्शन के सिद्धांतों और प्रक्रियाओं का उपदेश करने वाले मंत्र स्तर के स्वच्छंदनाथ के चौंसठ अवतार शरीर भैरव कहलाते हैं। उन्हीं के द्वारा उपदिष्ट आगम शास्त्र भैरव आगम हैं जिनकी संख्या चौसठ है तथा जो आठ आठ के आठ

वर्गों में बंटे हैं । वर्तमान युग में उनमें से एक स्वच्छंद आगम ही शेष रहा है; रुद्रयामल के अनेकों खंड मिल रहे हैं; शेष सभी लुप्तप्राय हैं । उनके केवल नाम मिलते हैं और किसी किसी से उद्धृत पंक्तियां मिलती हैं ।

भैरवी

पर संवित्स्वरूप भैरव की पराशक्ति । क से लेकर क्ष पर्यंत समस्त योनि स्वरूपा शक्ति वर्गों की अधिष्ठात्री तथा इन सभी का संहार करने पर भैरव में अभिन्न रूप से ठहरने वाली परादेवी । माहेश्वरी, ब्राह्मी आदि आठ शक्तियों का मातृवर्ग इसी पराशक्ति का रश्मि रूप प्रसार माना गया है । ये आठ शक्तियां अ से लेकर क्ष पर्यंत भिन्न भिन्न मातृका वर्गों की अधिष्ठात्री शक्तियों के रूप में विश्व का समस्त व्यवहार चलाती हैं । इन सभी के संघट्ट रूप परम सामरस्य को भैरवी कहते हैं । (स्व.तं. 1-32 से 36; मा.वि.तं. 3-14) ।

मंत्र

1. मनन और त्राण स्वभाव वाला वर्ण समुदाय । (स्व.तं.उ.0 प. 2, पृ. 39) । अर्थात् मनन करने वाले का त्राण करने वाला तथा मनन स्वभाव और त्राणकारी तत्त्व ।

2. पारमेश्वरी शक्ति स्वरूप वर्ण समूह । (स्व.तं., प. 2-63) ।

3. चित् शक्ति का स्वभावस्वरूप वर्ण समूह जिसके सतत अभ्यास से साधक अपने शिवभाव में प्रवेश करता है । (शि.सू.वा. पृ. 31) ।

4. चित् ही निरूपाधिक एवं अकालकलित शिव है । इस प्रकार के शिव को अपनी शक्तिस्वरूप आनंदरूपता का सतत परामर्श करते रहने के कारण या ऐसा स्वभाव होने के कारण मंत्र कहते हैं । (वही. पृ. 30)

5. आराध्य देवता को अपने ही शुद्ध स्वरूप में अनुभव करने के लिए तथा अभ्यास से अपनी उत्कृष्ट शुद्ध स्वरूपता में प्रवेश के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला वर्ण समुदाय । (स्व.वि. पृ. 80, 82, स्व. 26, 27) ।

मंत्र (पंच)

दे. पंच मंत्र ।

मंत्र-अध्वन्

आणवोपाय की कालाध्वा नामक धारणा में आलंबन बनने वाला दूसरा तथा मध्यम उपाय । पद के सूक्ष्म रूप को मंत्र कहते हैं । मंत्र वर्णो के संयोग से बनता है । काल गणना ज्ञान क्षणों के आधार पर की जाती है । जितनी देर में एक क्षणिक ज्ञान ठहरता है उतने काल को क्षण कहते हैं । ज्ञान विमर्शात्मक होता है । विमर्श अभिलापात्मक होता है । अभिलाप शब्दों द्वारा होता है । शब्द तत्त्व के तीन प्रकार होते हैं । सूक्ष्मतर, (या पर), सूक्ष्म और स्थूल । उन्हीं को क्रम से वर्ण, यंत्र और पद कहते हैं । इस तरह से सूक्ष्म अभिलापमय शब्द ही जिस साधना में चित्त का आलंबन बनता है उस साधना को मंत्राध्वा कहते हैं । प्रमाणात्मक पदाध्वा परस्थिति हो जाने के पश्चात् क्षोभ को प्राप्त हुई प्रमाण स्वरूपता को शांत करने के लिए मंत्र अध्वा की धारणा का अभ्यास किया जाता है । साधक मंत्रात्मक समस्त प्रपंच को भावना के द्वारा अपने एक एक श्वास प्रश्वास में विलीन करता हुआ भावना द्वारा ही उसे व्याप्त कर लेता है । इससे उसे अपने परिपूर्ण और असीम शिवभाव का आणव समावेश भी हो जाता है तथा वह वर्णाध्वा के योग्य भी बन जाता है । (तं.सा., पृ. 47, 61,112)

मंत्र प्राणी

दे. विद्येश्वर प्राणी ।

मंत्र महश्वेर

सदाशिव तत्त्व में ठहरने वाले भेदाभेद दृष्टिकोण से युक्त प्रमाता । अकल (दे.) प्रमाता की तरह ही मंत्र महेश्वर भी शुद्ध संवित् को ही अपना स्वरूप समझते हैं, परंतु इनमें प्रमेय भाव का अत्यंत धीमा सा आभास उभरने को होता है । इसी कारण ये प्राणी 'अहम् इदम्' अर्थात् मैं ही यह प्रमेय पदार्थ हूँ, मुझ से भिन्न कुछ नहीं – इस प्रकार का विमर्श करते हैं । इस विमर्श में 'अहं' अंश की ही प्रधानता रहती है तथा 'इदं' अंश का अत्यधिक धीमा सा आभास उन्मीलित होने को होता है । इस दशा में 'इदं' अंश का आभास अस्फुट रूप में

ही चमकता रहता है । इस प्रकार का भेदाभेद दृष्टिकोण होने के कारण इन्हें शुद्धाशुद्ध प्राणी (दे.) भी कहा जाता है । इन प्राणियों में अभी अंतःकरण, शरीर आदि का उदय नहीं हुआ होता है । इनका स्वरूप शुद्ध संवित् ही होता है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 192–3) ।

मंत्रवीर्य

महामंत्रवीर्य । पूर्ण अहंता परामर्श । (स्व.तं.उ. 1, पृ.37) । परावाक् परामर्श । मंत्र अर्थात् अ से लेकर क्ष पर्यंत संपूर्ण शब्द राशि को स्फुटतया अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली शुद्ध संविद्रूपता के विमर्श से प्रादुर्भूत वीर्य अर्थात् सामर्थ्य या अपने शुद्ध स्वरूप का परामर्श । किसी आराध्य देवता को अपने स्वरूप में आत्मसात् करने के लिए प्रयुक्त किए गए बीज मंत्रों के सतत अभ्यास से देवता से समरसता प्राप्त कर लेने पर अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, जिसे स्वरूप परामर्श कहते हैं । यही स्वरूप परामर्श मंत्रवीर्य कहलाता है । (शि. सू. वि. पृ. 21; शि.सू. वा. पृ. 27) ।

मंत्रेश्वर

ईश्वर तत्त्व में रहने वाले भेदाभेद दृष्टि युक्त प्रमाता । मंत्रेश्वरों में सदाशिव तत्त्व में रहने वाले मंत्रमहेश्वरों (दे.) की अपेक्षा 'इदं' का अंश स्फुटतया चमकने लगता है । इसी कारण मंत्रेश्वरों का दृष्टिकोण 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह प्रमेय पदार्थ मैं हूँ' – इस प्रकार का हो जाता है । ये प्राणी अपने आपको शुद्ध संवित्स्वरूप ही समझते हैं । स्फुटतया आभासमान प्रमेय तत्त्व के प्रति उनका दृष्टिकोण अभेद का ही बना रहता है । इनमें आणवय आदि तीनों मल नहीं होते हैं परंतु इस दशा में प्रमेयता के आभास के स्फुट होने से इन्हें पूर्णतया शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता है । इस कारण इन्हें भेदाभेद दृष्टिकोण वाले शुद्धाशुद्ध प्राणी (दे.) कहा जाता है । (ई. प्र. वि. 2 पृ. 192,197) ।

मंद–तीव्र शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार, जिसके प्रभाव से प्राणी में अपने शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रति उत्पन्न हुए संशयों का सर्वथा उच्छेद करने के लिए सर्वतत्त्ववेत्ता किसी उत्कृष्ट गुरू के पास जाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है । गुरु इस शक्तिपात के पात्र मुमुक्षु के सभी

संशयों को केवल दृष्टि द्वारा ही या स्पर्श द्वारा या कुछ संवादों द्वारा तथा इस प्रकार के भिन्न-भिन्न दीक्षा क्रमों द्वारा शांत कर देता है । संशयों के दूर हो जाने पर ऐसा मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है तथा देह त्याग देने पर अपनी शिवस्वरूपता को पुनः प्राप्त कर लेता है । (तं.सा. पृ.122,123; तं. आ. 13-216 से 220, 225, 226) ।

मंद-मध्य शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार, जिसके प्रभाव से प्राणी में अपने शिवभाव के प्रति सभी संशयों का 'उच्छेद' करके अपनी शिवता को प्राप्त करने की इच्छा तो बनी रहती है परंतु भोगों को भोगने की इच्छा अपेक्षाकृत तीव्र होती है । अतः इस जन्म में सद्गरु द्वारा बताए हुए योगाभ्यास के बल से किसी अन्य उत्कृष्ट तत्त्व या लोक में उपयुक्त देह धारण करके इच्छित भोगों का भोग करता है और अंत में वहां के उस दिव्य देह को भी त्याग देने पर अपनी शिवस्वरुपता को प्राप्त कर लेता है । (तं.सा. पृ. 123; तं.आ. 13-243, 244) ।

मंद-मंद शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अनुग्रहात्मक अंतःप्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार, जिसके प्रभाव से प्राणी में अपनी शुद्ध प्रकाश स्वरूपता को पहचानने की अपेक्षा भिन्न भिन्न प्रकार के भोगों को भोगने की तीव्रतर इच्छा होती है । इस कारण ऐसा प्राणी देहपात के पश्चात् अपने अभिमत लोक में क्रम से सालोक्य, सामीप्य एवं सायुज्य नामक भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करके स्वेच्छित भिन्न भिन्न भोगों को बहुत समय तक भोगता रहता है । अंत में वहीं पर पुनः दीक्षा प्राप्त करके बार बार के अभ्यास से अपने आपको शुद्ध संवित् मानता हुआ शिवता को प्राप्त कर लेता है । (तं.आ. 13-245,246; तं.आ.वि 8 पृ. 152-153) ।

मठिका

शैव दर्शन की भिन्न भिन्न शाखाओं को मठिका कहते हैं । वर्तमान युग में शैव दर्शन को तीन गुरुओं ने अभिनवतया चालू कर दिया। वे तीन गुरु भगवान श्रीकंठनाथ की प्रेरणा से ऊर्ध्व लोकों से इस भूलोक पर अवतार बनकर प्रकट हो

गए । उनमें से अमर्दक नामक सिद्ध ने द्वैतदृष्टि से शैवदर्शन का उपदेश किया । उसकी मठिका को आमर्द मठिका या आमर्द संतति कहा गया है दूसरी मठिका का प्रवर्तन श्रीनाथ ने किया । वह मठिका भेदाभेद प्रधान शैव मठिका थी । तीसरे गुरु त्र्यंबक ने अभेद दृष्टि प्रधान दो मठिकाओं को चलाया । उनमें से एक मठिका काश्मीर शैव दर्शन की त्रिक आगम प्रधान अद्वैत मठिका है, जिसे त्र्यंबक मठिका कहा गया है । इसे त्र्यंबक ने अपने पुत्र के द्वारा चलाया । चौथी मठिका को उसने अपनी कन्या के द्वारा चलाया । उसका अर्धत्र्यंबक मठिका नाम पड़ा । इन्हें शैव शास्त्र में साढ़े तीन मठिकाएं कहा जाता है ।

मताचार

कुलाचार से उत्कृष्ट और त्रिक आचार से एक सीढ़ी नीचे वाले योग मार्ग को काश्मीर शैव दर्शन में मताचार कहा गया है । इस आचार की साधना सर्वथा अभेद दृष्टि को अपनाकर ही की जाती थी । इसमें भी त्रिक आचार की तरह विधि निषेधों के लिए कोई मान्य स्थान नहीं । इस समय इस आचार के न तो कोई अनुयायी ही कहीं मिलते हैं और नही इसका कोई वाङ्.मय ही मिलता है । काश्मीर शैव दर्शन के त्रिकाचार के ग्रंथों में इसके सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है । तंत्रालोक की टीका में जयरथ ने चौसठ भैरव आगमों को गिनते हुए जो श्रीकंठी संहिता के श्लोक उद्धृत किए हैं उनमें मताष्टक नाम के आठ भैरव आगमों के नाम दिए गए हैं । बहुत संभव है कि इन्हीं आठ आगमों द्वारा प्रतिपादित साधना मार्ग मताचार कहलाता है । (तं.आ. 4-261 से 263;त.आ.वि.खं. 1 पृ. 47) ।

मत्स्योदरी

दे. स्पंद ।

मध्य-तीव्र शक्तिपात

पारमेश्वरी अनुग्रहात्मक अंत:प्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार, जिसके प्रभाव से जीव के सभी प्रकारों के संशयों का पूर्णतया उच्छेद हो जाता है । इस प्रकारके शक्तिपात के पात्र बने जीव को अपनी शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण प्रकाशरुपता का ज्ञान किसी शास्त्र या गुरु की सहायता के बिना स्वयं ही अपनी प्रतिभा से ही हो जाता है । वह उसे समयाचार आदि के तथा योग के अभ्यासों के बिना ही होता है । इसे यदि अपनी शुद्ध शिवरुपता के प्रति कभी कोई संशय हो भी जाए तो उसका

निवारण किसी श्रेष्ठ गुरु के संवादमात्र से ही हो जाता है। (तं.आ. 13-131, 132; तं.सा. पृ. 120,121)। ऐसे प्राणी में शिव के प्रति सुनिश्चित शक्ति उत्पन्न हो जाती है, मंत्र सिद्धि प्राप्त होती है, छत्तीस तत्त्वों पर स्वामित्व प्राप्त होता है, कवित्व एवं सभी शास्त्रों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। (तं.आ. 13-214, 215; मा.वि.वा. 2-13 से 16)। शरीर को छोड़ने पर वह अपनी परमेश्वरता को पूरी तरह से प्राप्त करता हुआ परमेश्वर से अभिन्न हो जाता है।

मध्य-मध्य शक्ति

परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अनुग्रहात्मक अंत:प्रेरणा (दे. शक्तिपात) का वह प्रकार जिसके प्रभाव से प्राणी में अपनी शिवस्वरूपता को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा के साथ साथ उत्कृष्ट सिद्धियों के माध्यम से भोगों को भोगने की वासना भी बनी रहती है।अत: उसे सद्गुरु से प्राप्त हुए ज्ञान का योगाभ्यास द्वारा दृढ़तर अभ्यास करना होता है। वह योगाभ्यास से प्राप्त हुए भिन्न भिन्न दिव्य लोकाचित भोगों को इसी लोक में भोग करके अंत में देह त्याग कर देने पर शिवरुपता को प्राप्त कर लेता है। (तं.सा. पृ.123, तं.आ. 137-242, 243)।

मध्य-मंद शक्तिपात

परमेश्वर द्वारा की जाने वाली अनुग्रहात्मक अंत:प्रेरणा (दे.शक्तिपात) का वह प्रकार, जिसके प्रभाव से प्राणी को अपने वस्तुभूत स्वरूप को पहचानने की अपेक्षा भोगों को भोगने की इच्छा बहुत अधिक होती है। इसलिए योगाभ्यास के बल से एवं भोगों को भोगने की तीव्र इच्छा से देहपात के बाद किसी या उपयुक्त लोक में जाकर कुछ समय तक वहीं अभिमत भोगों का भोग करता है तथा वहीं उसी लोक के अधिष्ठाता से पुन: दीक्षा प्राप्त करके सतत अभ्यास करने पर अपनी शिवरुपता को प्राप्त कर लेता है। (तं.आ. 13-245, 246; तं.आ. वि. 8, पृ. 152)।

मध्यमा वाच् (वाणी)

संविद्रूपा परावाक् ही जब एकमात्र बुद्धि में ही स्थित होती हुई द्रष्ट तथा दृश्य अर्थात् प्रमातृ तथा प्रमेय के बीच की दशा के रूप में प्रकट होती है तो उसे मध्यमा वाणी कहते हैं। इस वाणी के माध्यम से प्रमाता अपने से भिन्न प्रमेयों का पृथक् पृथक् विमर्शन करता है। यह सोच समझ की वाणी है। इस

अवस्था में आकर वाच्य तथा वाचक की एवं उनमें परस्पर भेद की अभिव्यक्ति हो गई होती है परंतु वह पूर्णतया स्फुट भी नहीं होती है और बुद्धि के स्तर पर भेद की अभिव्यक्ति के कारण इसे स्फुट भी माना गया है । मानस पूजा में, मनन,स्वप्न तथा इस प्रकार के अंतः विमर्श में इसी वाणी का प्रयोग होता है । (तं.आ. वि. 2, पृ. 225) ।

मनस्

प्रक्षुब्ध अवस्था को प्राप्त हुए गुणतत्त्व से प्रकट होने वाला तीसरा अंतःकरण मन । सत्त्वगुण प्रधान अहंकार से प्रकट होने वाला तीसरा अंतःकरण । प्रमेय पदार्थों के विषय में कल्पित तथा संभाव्यमान अनेकों नाम रूपों को अस्फुट रूप से प्रकट होने वाली जीव की मनन तथा संकल्प करने वाली शक्ति को मन कहा जाता है । (ई.प्र.वि. 2,पृ. 212) । मन को इंद्रियों में भी गिना जाता है । इंद्रियों द्वारा या स्वयं गृहीत विषयों के विषय में मन अनेकों अविरुद्ध और अनुकूल नाम रूपों की कल्पना करता है, परंतु निश्चय नहीं करता । निश्चय बुद्धि करती है ।

मरीचि

शक्ति प्रवाह । सत्त्व, रज तथा तम नामक तीन गुणों के स्पंद का मूलभूत शक्ति स्वरूप प्रवाह । परमेश्वर की ज्ञान, क्रिया तथा माया नामक तीन नैसर्गिक शक्तियां जब माया आदि छः कंचुक तत्त्वों से घिर कर क्रमशः सत्त्व, रज तथा तम गुणों के रूप में आकर उन्हीं के रूप में प्रवाहित होती हैं तब इसी गुण रूप प्रवाह या प्रसार को मरीचि कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 14)

मरीचि निचय

तीन गुणों से उत्पन्न होने वाला इंद्रिय समूह । (वही) ।

मल

अज्ञान । समस्त बंधन एवं संसृति का मूल कारण बननेवाला सीमित ज्ञान । (मा.वि. तं. 1-23) । अज्ञान को ज्ञान का पूर्ण अभाव नहीं माना गया है । एक निर्जीव पदार्थ संसार में अज्ञ होता हुआ भी संसृति के चक्कर में नहीं आता है । जगत को भेदमयी दृष्टि से देखने के, अपने को जड़, देह, प्राण आदि समझने के

तथा समस्त कर्मबंधन के मूल में वही संकुचित ज्ञान रूपी मल कार्य करता है, इस प्रकार शुद्ध स्वरूप को आच्छादित करने वाले संकुचित ज्ञान को ही मल कहा जाता है। (तं.आ. 1-25,26)।

मल त्रय

मल के आणव, मापीय तथा कार्म नामक तीन प्रकार। (यथास्थान दे.)।

महादेव

सतत गति से सृष्टयादि कृत्यों द्वारा विश्वमयी क्रीड़ा का अभिनय करने वाला परमेश्वर। देवाधिदेव। परमशिव। महेश्वर। परमशिव सर्वदा, सर्वतः एवं सर्वथा शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूप ही है और अपनी इसी संविद्रूपता के कारण वह समस्त प्रपंच को स्वतंत्रतापूर्वक अपने में ही लय और उदय की क्रीड़ा का अभिनय करता रहता है। यही उसके स्वातंत्र्य का विलास है। इसी विलसनशील या क्रीडनशील स्वभाव के कारण उसे महादेव कहा जाता है। (सि.म.र. 38)। प्रायः कैलासवासी शिव के लिए महादेव शब्द का प्रयोग किया जाता है।

महाद्वैत

दे. परम अद्वैत।

महानंद

उच्चार योग के अभ्यास से अभिव्यक्त होने वाली आनंद की छः भूमिकाओं में से पांचवी भूमिका का आनंद। सभी प्रमेय पदार्थों को पूर्ण संघट्टात्मक रूप से शुद्ध प्रकाश रूप में ही देखने के लिए साधक जब समान प्राण पर विश्रांति प्राप्त करके ब्रह्मानंद की अनुभूति प्राप्त कर लेता है तब उसे उदान प्राण पर विश्रांति का अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास में वह सभी प्रमाण एवं प्रमेयों से संबंधित सभी विकल्पात्मक आभासों को उदान के तेज में विलीन करके उदान प्राण पर विश्रांति प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में उसे जिस आनंद की अनुभूति होती है उसे महानंद कहते हैं। इसकी अभिव्यक्ति तुर्या की अवस्था में होती है। (तं.सा. पृ. 38; तं.आ. 5-47, 48)

महान संबंध

जिस दर्शन तत्त्वं का स्फुरण परावाणी द्वारा तुर्या के उत्कृष्टतम सोपान पर शिव शक्तिमय प्रकाश विमर्श की उत्कृष्ट स्फुरता के भीतर हुआ, उसी तत्त्व का स्फुरण शिवभट्टारक की अनुग्रहमयी प्रेरणा से सदाशिव भट्टारक को हुआ। शिव भट्टारक की स्फुरता में परावाणी द्वारा स्फुरण हुआ परंतु सदाशिव भट्टारक ने उसका विमर्शन पश्यंती वाणी द्वारा किया। इस तरह प्रश्न रूपी शंका योगी को पश्यंती वाणी में हुई और उसका समाधान उसे उसकी परावाणी के समावेश में हो गया। इस तरह से उत्कृष्टतर योगी ने पश्यंत दशा में प्रश्न की शंका की और परादशा में आरूढ़ होकर समाधान रूप उत्तर के द्वारा उस शंका को शांत किया। शिव और सदाशिव के ऐसे गुरु शिष्य संबंध को महान् संबंध कहते हैं। (प.त्रिं.वि.टि. पृ. 12)।

महाप्रलय

दे. प्रलय (महा)।

महामाया

1. शुद्ध विद्या तत्त्व से नीचे तथा माया तत्त्व से ऊपर विद्या तत्त्व के ही दो अवांतर प्रकार हैं जिन्हें महामाया कहा जाता है। महामाया का पहला पकार शुद्ध विद्या के अधिक पास है तथा दूसरा माया तत्त्व के पास। शुद्ध विद्या से कुछ ही नीचे की महामाया के प्राणी मंत्र या विद्येश्वर प्राणी कहलाते हैं इन प्राणियों को अपने स्वरूप और स्वभाव के विषय में कोई विपर्यास नहीं होता है; परंतु फिर भी संसार के प्रति इनकी भेद दृष्टि बनी ही रहती है। ये अपने आपको शुद्ध और स्वतंत्र संवित् स्वरूप तो समझते हैं परंतु परमेश्वर को अपने से भिन्न मानते रहते हैं तथा अन्य प्राणियों और प्रमेय तत्त्व के प्रति भेदमय दृष्टिकोण रखते हैं। (ई.प्र. 3-1-6, ई.प्र.वि. 2 पृ. 199-200)।

2. अपने आपको क्रियाशक्ति के चमत्कार से रहित केवल शुद्ध प्रकाशभाव ही समझने वाले विज्ञानाकल प्राणियों के दृष्टिकोण या विश्रांति स्थान को भी महामाया कहते हैं। यह माया का ही अपेक्षाकृत अविकसित रूप होता है। (प.त्रि. वि. पृ. 118-9)।

महामाया परा

परमेश्वर की अतिदुर्घट कार्यों को क्रियान्वित करने वाली पराशक्ति को भी महामाया कहा जाता है ।

महाविद्या

परमेश्वर की पराशक्ति का वह रूप जो अपनी स्वातंत्र्य लीला से समस्त विश्व के विविध व्यवहारों को चलाने के लिए विद्या और अविद्या को, या शुद्ध विद्या तथा अशुद्ध विद्या को अभिव्यक्त करता रहता है । पराशक्ति का यही रूप ज्ञान, अज्ञान, बंधन तथा मोक्ष के व्यवहारों को भी समस्त सृष्टि में चलाता रहता है । इन्हीं विशेषताओं के कारण पराशक्ति को महाविद्या कहा जाता है । इसे महामाया भी कहते हैं । (आ.वि. 4-1) ।

महाव्याप्ति

दे. घूर्णि ।

महाशक्ति

परादेवी, पराशक्ति । दे. परादेवी ।

महाशून्य

अनुत्तर संवित् तत्त्व । अपनी स्वभावभूत पराशक्ति सहित परमशिव का शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण सामरस्यात्मक स्वरूप । वह स्वरूप, जहां शिव से लेकर पृथ्वी पर्यंत सभी छत्तीसों ही तत्त्वों, अकल, मंत्र महेश्वर आदि सातों प्रमाताओं, इन तत्त्वों में स्थित सभी एक सौ अट्ठारह भुवनों, इसी प्रकार समस्त भाव जगत् तथा शक्ति चक्र इत्यादि का सूक्ष्मतर भाव भी संविद्रूपता में ही विलीन होकर रहता है । (स्व.तं.खं. 2, पृ. 131) । इसे अनाश्रित शिवदशा कहते हैं ।

महासत्ता

1. व्यावहारिक सत्ता एवं व्यावहारिक असत्ता दोनों का एकघन रूप । ये दोनों भाव महासत्ता की ही दो प्रकार की अभिव्यक्तियां हैं । व्यावहारिक सत्ता उसकी

बाह्य अभिव्यक्ति है तथा पारमार्थिक सत्ता इसी अभिव्यक्ति का अंत: स्थिर एवं शुद्ध रूप है । इस प्रकार छत्तीस तत्त्व महासत्ता में ही समरस बनकर संविद्रूपता में ही ठहरते हैं ।

2. परमशिव का नैसर्गिक स्वभाव । उसकी पराशक्ति । स्फुरत्ता । दे. महास्फुरत्ता ।

महास्फुरत्ता

परस्पंद । अचल परमशिव में एक विशेष प्रकार की हलचल तथा उसकी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी उभयाकर फड़कन या सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतिशीलता । यही उसकी परमेश्वरता का मूलभूत कारण है । इसी के माध्यम से वह अपने परिपूर्ण एवं शुद्ध स्वरूप को अपने अभिमुख लाता हुआ स्वात्मानंद से ओतप्रोत बना रहता है । (ई.प्र.वि. 1:6-14) । दे. स्पंद । शुद्ध चेतना की एक प्रकार की टिमटिमाने की सी क्रिया ।

महाह्रद

चिदात्मा । परमशिव । शुद्ध प्रकाश एवं विमर्श के संघट्टात्मक शुद्ध तथा समरस रूप को ही परमशिव या परतत्त्व कहते हैं । समस्त शक्ति समूहों का मूल स्रोत होने के कारण उसे ही शक्तिमान् कहा जाता है । समस्त विश्व उसी की अनंत शक्तियों का बहि: प्रसार है । अत: सभी प्रकार के सूक्ष्म एवं स्थूल भावों तथा पदार्थों का मूल वही है । वह देश एवं काल की कल्पना से परे है । इस प्रकार सागर के समान अनवगाह्य स्वभाव वाला होने के कारण परमशिव को ही महाह्रद कहा जाता है । (शि.सू.वा. पृ. 26) ।

माता (तृ)

अपने आप का तथा आंतर और बाह्य विषयों का अवभासन करने वाला संवित्तत्त्व । यह तत्त्व प्रत्येक प्राणी के भीतर 'अहं' इस रूप में सदैव प्रकाशमान होता रहता है । प्रमेयों के प्रति समस्त प्रमाणों के व्यापारों को स्वतंत्रतया चलाने वाला तत्त्व प्रमातृतत्त्व कहलाता है । प्रमाता सुषुप्ति में भी चमकता रहता है । माया से अवच्छिन्न 'अहम्' को अशुद्ध प्रमाता और उससे उत्तीर्ण को शुद्ध प्रमाता कहते हैं । (तं.आ. 3-125,126; वही पृ. 129) ।

माता (तृ) अपर

देह, प्राण, बुद्धि और शून्य को ही अपना आप समझने वाला मायीय प्रमाता। यह प्रमाता बद्ध प्रमाता होता है। इसको पशु कहते हैं। जीव इसी का नाम है। इसे ही कृशता, स्थूलता आदि का, सुख–दुःख आदि का, भूख प्यास आदि का तथा सर्वशून्यता का अभिमान होता रहता है, परंतु शुद्ध संविद्रूपता का अभिमान नहीं होने पाता।

माता (तृ) पर

'अहम् अस्मि' अर्थात् समस्त प्रमाण एवं प्रमेय के विभागात्मक भेद से रहित केवल संविद्रूप शुद्ध प्रकाश के ही प्रति 'मैं हूँ' इस प्रकार के शुद्ध विमर्श की स्थिति वाला प्रमाता। स्वरूपनिष्ठ। अपने शुद्ध प्रकाशस्वरूप के प्रति सतत रूप से पर अहं परामर्श करने वाला प्रमाता पर प्रमाता कहलाता है। इसको शुद्ध प्रमाता भी कहा गया है (तं.आ. 3–125,126; वही पृ. 129)।

मातृका

अ से लेकर ह तक या क्ष तक की वर्णमाला को मातृका कहते हैं। इसे अक्षमाला भी कहा गया है। (प.त्री.वि.टि. पृ. 194)। जिस प्रकार माला से जाप किया जाता है उसी प्रकार मातृका योग का साधक वर्णमाला के एक एक वर्ण पर अवधान को केंद्रित करता हुआ समस्त विश्व को शिव संवित् से परिपूर्ण देखता है। प्रायः अ से लेकर ह पर्यंत वर्णों को ही मातृका में गिना जाता है परंतु कई आचार्यो ने क्ष को भी मातृका में गिना है, जिसे कूट बीज कहा जाता है। (शि.सु.वि. पृ. 31)। (दे. क्ष)। परात्रिशका विवरण में मातृका को पराभगवती, परावाक्, भैरवी इत्यादि नामों से भी अभिहित किया गया है। (प.त्री.वि. पृ. 212, 213)। शिवसूत्र वार्तिक में मातृका को शक्ति, देवी, रश्मि, कला, योनिवर्ग तथा माता कहा गया है। (शि.सू.वा. पृ. 7) मातृका का एक एक वर्ण परमशिव की भिन्न भिन्न शक्तियों का द्योतक माना गया है। इसलिए मातृका को विश्वजननी और परमशिव की परा क्रियाशक्ति माना गया है। (वही पृ. 35; तं.आ. 3–232, 233)। शाम्भव योग का अभ्यासी एक ओर से क से लेकर क्ष तक के वर्णों को

अपने में प्रतिबिंबित होता हुआ देखता है और साथ ही साथ ऐसा भी अनुभव करता है कि पृथ्वी तत्त्व से लेकर शक्तितत्त्व तक का सारा विश्व ही उसकी अपनी ही शक्तियों का प्रतिबिंब है, जो उसके प्रकाश स्वरूप अपने आप में ही दर्पण नगर न्याय से प्रकाशित हो रहा है । यह मातृका उपासना का रहस्य है । छत्तीस तत्त्व मानो अर्थ (रूप) हैं और मातृका के वर्ण उनके नाम हैं ।

माया तत्त्व

छत्तीस तत्त्वों के अवरोहण क्रम में छठा तत्त्व । भेद दृष्टि का स्फुट आभास कराने वाला तथा संविद्रूपता को आच्छादित करने वाला आवरक तत्त्व। कला से लेकर पृथ्वी पर्यंत संपूर्ण जड़ सृष्टि का उपादान कारण बनने वाला प्रथम जड़ तत्त्व । शैवदर्शन में इसे भी एक वस्तुभूत तत्त्व माना गया है। (तं.सा. पृ. 77) । इस तत्त्व के प्रभाव से जीव अपने आपको शुद्ध संविद्रूप न समझता हुआ शून्य आदि जड़ पदार्थों को ही अपना आप समझता है तथा प्रमाता और प्रमेय में, एक प्रमाता और दूसरे प्रमाता में, एवं एक प्रमेय और दूसरे प्रमेय में भी भेद दृष्टि रखता है । (ई. प्र.वि. खं.1, पृ. 110) ।

माया दशा

सर्वथा भेद की भूमिका । सृष्टि एवं संहार आदि के क्रम में यह तीसरी एवं अंतिम भूमिका होती है । इस भूमिका में महामाया से नीचे माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक सभी इकत्तीस तत्त्व आते हैं । सर्वथा भेद की भूमिका होने के कारण इस भूमिका के प्राणियों में समस्त विश्व एवं अपने प्रति 'अहम् अहम्' अर्थात् 'मैं मैं हूं' तथा 'इदम् इदम्' अर्थात् 'यह यह है' इस प्रकार की पूर्ण भेदमयी दृष्टि उत्पन्न हो जाती हे । इतना ही नहीं, इस भूमिका में तो प्रमाता प्रमाता में तथा प्रमेय प्रमेय में भी उत्तरोत्तर भेद बढ़ता ही जाता है । (ई.प्र.वि. 1 पृ. 110) । परमशिव इस सर्वथा भेदमयी भूमिका में समस्त प्रपंच को अपनी अपरा देवी नामक शक्ति के द्वारा धारण करता है । (तं.सा. पृ. 28) ।

माया प्रमाता

जीव, अणु, पशु । मायादशा नामक पूर्णभेद की भूमिका में ठहरने वाला प्रमाता । दे. माया दशा । यह प्रमाता तीन मलों से बंधा रहता है, जड़ पदार्थों को

अपना आप समझता है, अपने को सीमित और अल्पज्ञ तथा अल्पशक्ति समझता है तथा समस्त विश्व को भेदमयी दृष्टि से देखता है । इसे कर्म संस्कार और कर्म वासनाएं घेर कर रखती हैं । यह संसृति चक्कर में फंसकर गोते खाता रहता है और पूर्ण बंधन का पात्र बना रहता है ।

माया भूमिका

शुद्ध विद्या से नीचे माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के समस्त सूक्ष्म तथा स्थूल प्रपंच को माया भूमिका कहते हैं । इस भूमिका में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इन तीनों में परस्पर सर्वथा भेद ही अभिव्यक्त होता रहता है । इसीलिए इसे भेद भूमिका भी कहते हैं । इसके विपरीत शुद्ध विद्या क्षेत्र के तीन तत्त्वों वाले भेदाभेदमय प्रपंच को विद्या भूमिका और शक्ति तत्त्व तथा शिव तत्त्व के अभेदमय विस्तार को शक्ति भूमिका कहते हैं ।

माया मल

मायीय मल । प्रमाता के अपने प्रति तथा प्रमेय जगत् के प्रति भेदमय दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करने वाला संकुचित ज्ञान । आणवमल (दे.) के दोनों प्रकारों द्वारा अभिभूत होने पर प्रमाता में जिस संकुचित ज्ञान से प्रमाता प्रमाता के प्रति, प्रमेय प्रमेय के प्रति तथा प्रमाता प्रमेय के प्रति पूर्णभेद दृष्टि अभिव्यक्त हो जाती है उसे माया मल या मायीय मल कहते हैं । (ई.प्र.वि. 3-2-5; वही, 1 पृ. 110; शि.स.वि. पृ. 6) । शुद्ध विद्या की दशा में भेदाभेद के दृष्टिकोण का कारण भी माया मल ही बनता है । वस्तुतः आणव, मायीय तथा कार्म नामक तीनों मल पारंमेश्वरी माया शक्ति के उत्तरोत्तर विकास हैं परंतु ज्ञान संकोच की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के कारण इन्हें ये नाम दिए गए हैं । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 221) । आणव मल के प्रथम प्रकार से शुद्ध प्रमाता के परिपूर्ण प्रकाशात्मक स्वातंत्र्य में संकोच आ जाता है । जब यही संकोच अधिक स्थूलता को प्राप्त करता हुआ बहिर्मुखी हो जाता है तो इसी भेदप्रथात्मक बहिर्मुंखता को मायीय मल कहा जा सकता है । (दे. आणव मल) ।

मायाशक्ति

1. परमेश्वर की परिपूर्ण एवं अनिरुद्ध स्वातंत्र्य शक्ति । इसे पराशक्ति या परा मायाशक्ति भी कहा जाता है । यह परमश्वेर की स्वभावभूत परमेश्वरता ही है । समस्त प्रपंच एवं इसे चलाने वाला सारा शक्ति समूह इसी पराशक्ति में तथा इसी शक्ति के द्वारा परमश्वेर में शुद्ध संविद्रूप में चमकता रहता है तथा इसी शक्ति के सामर्थ्य से बाह्य प्रसार को भी प्राप्त करता है । इसी शक्ति को शिव तत्त्व से लेकर शुद्ध विद्या तत्त्व तक की संपूर्ण शुद्ध सृष्टि का साक्षात् कारण माना गया है । (आ.वि. 4-1, 24) ।

2. परमेश्वर की ज्ञान, क्रिया तथा माया नामक तीन सर्वप्रमुख शक्तियों में से तीसरी शक्ति । (ई.प्र.वि. 4-1-4) । ये ही तीन् शक्तियां पशु भूमिका में तीन गुणों के रूप में प्रकट हो जाती हैं । इस तरह से तमोगुण का मूल स्वभाव भूत पारमेश्वरी शक्ति को भी मायाशक्ति कहते हैं । (चही 2, पृ. 254; 3-1-6,7) ।

3. पशुभाव में भी स्वभावभूत ऐश्वर्य को प्रकाशित करने वाली पराशक्ति ही जब शुद्ध स्वरूप को आच्छादित करने वाली बन जाती है तो उसे भी मायाशक्ति कहते हैं । इस शक्ति से प्रभावित जीव पूर्ण भेद दृष्टि वाला बन जाता है, अपने-आपको शुद्ध संविद्रूप न समझता हुआ शून्य, बुद्धि या शरीर रूपी जड़ पदार्थ को ही अपना आप समझने लग जाता है । यही शक्ति माया तत्त्व नामक प्रथम जड़ तत्त्व को अवभासित करने वाली मानी गई है । (वही 3-1-7,8) । माया शक्ति की उत्तरोत्तर अभिव्यक्तियों में इस तत्त्व में रहनेवाले प्राणियों में भेद दृष्टि इतने अधिक विस्तार को प्राप्त कर जाती है कि वे एक प्रमाता और दूसरे प्रमाता में और एक प्रमेय तथा दूसरे प्रमेय में भी पूर्ण भेद दृष्टि रखने लगते हैं । (वही 1 पृ. 110) । इस तरह से काश्मीर शैव दर्शनमें 'माया' शब्द के कई अर्थ लिए गए हैं ।

मायीय अंड

दे. विद्या कला ।

मायीय मल

दे. माया मल ।

मालिनी

प्रक्षुब्ध वर्णमाला को मालिनी कहते हैं । मालिनी न से आरंभ होकर फ पर समाप्त हो जाती है । इसके भीतर स्वर और व्यंजन एक प्रक्षुब्ध क्रम में ठहर कर अपना अपना स्थान लेकर बैठे हैं। वर्णमाला के सभी वर्ण न और फ के बीच में प्रक्षुब्ध क्रम से आते हैं। (प.त्री.वि. पृ. 121,122) । संपूर्ण विश्व का स्वरूप धारण करने के कारण भी न से फ पर्यंत क्षुब्ध वर्णमाला को मालिनी कहा गया है । (तं.आ. वि. 2 पृ. 192) । मातृका (दे.) की अपेक्षा मालिनी के अभ्यास से साधक को शांभव समावेश में सद्यः ही स्थिरता प्राप्त हो जाती है और सभी दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्य उसमें अभिव्यक्त हो उठते हैं ।

मुक्तशिव

अकल, मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर तथा मंत्र (विद्येश्वर) भूमिकाओं के प्राणी । भेद दृष्टि प्रधान, भेदाभेद दृष्टि प्रधान तथा अभेद दृष्टि प्रधान क्रमशः शिव, रुद्र एवं भैरव नामक शुद्ध सिद्ध पुरुष (भा.वि.वा, 1-391,392) । ये प्राणी अपने को शुद्ध और ऐश्वर्यवान् संवित् स्वरूप तो समझते हैं परंतु फिर भी कुछ समय के लिए शिव के साथ सर्वथा अभेदभाव को प्राप्त नहीं करते हैं । अभेदभाव में सर्वथा शिवमय बन जाने तक ये प्राणी मुक्तशिव कहलाते हैं ।

मुक्ति

अपने विषय में शिवभाव का दृढ़तापूर्वक अभिमनन ही मुक्ति है । निश्चयपूर्वक और विश्वासपूर्वक यह ज्ञात हो जाना कि मैं वस्तुतः शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण परमेश्वर ही हूँ । संपूर्ण विश्व को अपनी ही शक्तियों का विलास समझना । (नो.पं.द., 11-13; ई.प9.वि. 2 पृ. 129,130) ।

मुक्ति अशरीर

दे. विदेह मुक्ति ।

मुक्ति जीवन

दे. जीवनमुक्ति ।

मुक्ति विदेह

अशरीर मुक्ति । अपने शिवभाव का दृढ़तापूर्वक पूर्ण निश्चय हो जाने के अनंतर देह त्याग देने पर प्राप्त होने वाली सर्वथा अभेदमयी मुक्ति । इस अवस्था में विदेह मुक्त परिपूर्ण परमेश्वरता को प्राप्त कर लेता है । उसकी पृथक् सत्ता कोई रहती ही नहीं, प्राक्तन् पृथक् सत्ता ही सर्वथा असीम बनकर शिवसत्ता के रूप में चमकने लग जाती है ।

मुक्ति–आभास

प्रलयाकल या विज्ञानाकल की अवस्था को प्राप्त कर लेने पर जो प्राणी उसी अवस्था को वास्तविक मुक्ति समझने लगते हैं उन्हें वास्तविक मुक्ति तो प्राप्त होती नहीं है परंतु वे यही समझते हैं कि वे मुक्त हो गए हैं । उनकी इस स्थिति को मुक्ति आभास कहते हैं । मायाशक्ति के प्रभाव से ये उसी दशा को मुक्ति समझकर उसी के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं जो दशा वस्तुतः मुक्ति की दशा नहीं होती है ।

मुद्रा

1. आनंद प्रदान करने वाला हाथ, अंगुलियों तथा शरीर आदि का संस्थान विशेष, चित्त की विशेष स्थिति तथा वाणी की विशेष वृत्ति ।

2. साधक को उसकी परस्वरूपता के आवेश में सहायक बनकर उसे आनंदाप्लावित करने वाली विशिष्ट स्थिति । (तं.आ. 32-3) ।

3. परमशिव की चैतन्य रूपी अपार संपदा को साधक के चित्त में स्फुटतया अंकित करने में सहायक बनने वाला विशिष्ट शारीरिक सन्निवेश ।

4. आणव आदि तीनों मलों को पूर्णतया शांत करके साधक को परसंविद्रूपता का साक्षात्कार करवाने में सहायक बनने के कारण पर स्वरूप का प्रतिबिंब रूप विशिष्ट आसन आदि । (स्व.तं.उ.प.2 पृ.60) ।

मुद्रावीर्य

मुद्रा के अभ्यास से सहज में ही प्राप्त हुआ सामर्थ्य अर्थात् शुद्ध स्वरूप का प्रकाश । खेचरी मुद्रा के सतत अभ्यास से भेदनिष्ठ समस्त मायीय प्रपंच से

उत्पन्न क्षोभ के पूर्णतया शांत हो जाने पर अपनी शुद्ध संविद्रूपता की अभिव्यक्ति हो जाती है । यह अभिव्यक्ति मंत्रवीर्य (दे.) स्वरूपा होती है । इसे ही मुद्रावीर्य भी कहते हैं । (शि.स.वि. पृ. 29) ।

मूर्च्छा

मोह, मौर्ख्य, अनुद्योग, अविद्या, अविवेक आदि । शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्य आदि के प्रति अहंता के भाव को अभिव्यक्त करने वाली जड़ता अर्थात् अतीव संकोच को प्राप्त हुआ ज्ञान । (शि.स.वा. पृ. 76,77) । शुद्ध संविन्मयी चेतना को अपना आप न समझते हुए इन उपरोक्त जड़ पदार्थो को ही अपना आप समझना । यह परमेश्वर की मायाशक्ति का एक विशेष प्रभाव होता है ।

मोहजय

काम, क्रोध, लोभ, हर्ष, भय, त्रास, मद, प्रहर्ष आदि भिन्न भिन्न भावों की अभिव्यक्तियों के मूल में स्थित स्वरूप के आवरक भाव को मोह कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 49) । इस मूल आसक्ति के भाव पर सम्यक् प्रकार से विजय प्राप्त करने को मोहजय कहते हैं । इससे साधक सुप्रबुद्ध की स्थिति को प्राप्त कर जाता है । इस प्रकार वह शुद्ध विद्या की स्थिति पर पहुंच जाने पर अपनी असंकुचित संवित्स्वरूपता के साक्षात्कार के योग्य बन जाता है । (वही पृ. 50) ।

याग (ज्ञानयोग)

शैवी साधना के त्रिक आचार में ज्ञानयोग का वह प्रकार जिसमें साधक को तीव्र भावना के द्वारा समस्त भाव प्रपंच को परमेश्वर को ही अर्पित करना होता है । उससे इस निश्चय पर पहुंचना होता है कि वस्तुतः परमेश्वर से भिन्न और कुछ भी नहीं है और जो कुछ है वह सारा प्रपंच उसी संविद्रूप में ही स्थित है । इस प्रकार के शुद्ध विकल्प के बार बार के अभ्यास से भावना द्वारा परमेश्वर को ही सभी कुछ अर्पण करने को याग कहते हैं । (तं.सा. पृ. 25) । इस याग से साधक को शिवभाव का शाक्त समावेश हो जाता है ।

यामल

शिव शक्ति का संघट्ट रूप या परिपूर्ण सामरस्यात्मक रूप । उनका वह संघट्ट स्वात्मोच्छलता अर्थात् स्पंदरुपता है जिसे आनंदशक्ति भी कहते हैं । यह

आनंदशक्ति ही विश्वसृष्टि का मूल कारण बनती है । शिव और शक्ति वस्तुत: सदैव यामल रूप में ही स्थित रहते हैं । उनका यह सतत संघट्ट या यामल रूप विश्व सृष्टि की प्रत्येक भूमिका में कार्य करता है । (तं.आ. 3-68) । केवल समझाने ही के लिए शिव और शक्ति का पृथक् पृथक् निरुपण किया जाता है ।

योग

शैवदर्शन में जीव के अपनी शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूपता के साथ समरस हो जाने को योग कहते हैं । जीव के परमशिव के साथ एकत्व हो जाने की प्रक्रिया को तथा उसके साधक बनने वाले अभ्यासों को भी योग कहते हैं । (मा.वि.तं. 4-4) शैव दर्शन में योग शब्द की व्युत्पत्ति युजिर योगे धातु से मानी गई है युज् समाधौ से नहीं । चित्तवृत्ति निरोध मुख्य योग का उपाय मात्र है और वास्तविक एकत्वरूपी योग उसका फल है ।

योगिनी गण

दिव्य शरीर धारिणी पारमेश्वरी शक्तियों के एक विशेष वर्ग को योगिनी वर्ग कहते हैं । इन योगिनियों के कई एक स्तर होते हैं । प्रत्येक योगिनी के साथ एक एक भैरव होता है । दोनों मिलकर ही काम करते हैं और संसार के एक एक प्राणी को बंधन के प्रति, मोक्ष के प्रति और भोग के प्रति प्रेरणा देते रहते है । संसार के समस्त व्यवहारों को ये योगिनियां और ये भैरव ही वस्तुत: चलाते हैं,सांसारिक प्राणी केवल निमित्त मात्र बनते हैं ।

योगी (गिन्)

शैव साधकों के दो वर्ग होते हैं - ज्ञानी और योगी । उनमें योगी योग के अभ्यास के द्वारा सिद्धियों को प्राप्त करके सामर्थ्यवान् बनते हैं । वे भोगोत्सुक शिष्यों को विविध ऐश्वर्यों के भोग का मार्ग बता सकते हैं और उस मार्ग पर चलाकर उन्हें उन भोगों का अनुभव करा सकते हैं । अत: भोग को चाहने वाले साधक ज्ञानी की अपेक्षा योगी को ही अपना गुरु बनाते हैं । श्रेष्ठ गुरु उसे कहा गया है जो पूर्ण ज्ञानी भी हो और योगसिद्ध भी हो ।

योगेशी शक्ति

वामा शक्ति। (दे. वामा)।

योनि

पारमेश्वरी शक्ति। बीज रूप स्वरों से उत्पन्न होने वाले सभी व्यंजक वर्णों का समूह। क से लेकर क्ष पर्यंत सभी योनि वर्गो को भैरवी भी कहते हैं। समस्त विश्व परमेश्वर के शुद्ध चित् प्रकाश में उसकी अनंत शक्तियों के रूप में सदा विद्यमान रहता है। उसकी उन शक्तियों को योनिरुपी व्यंजन वर्ण अभिव्यक्त करते हैं। यह योनि रुप शक्तियां ही जब बहिर्मुखतया प्रतिबिंबित हो जाती हैं तो सदाशिव तत्व से लेकर पृथ्वी तत्व तक के सारे प्रपंच की सृष्टि हो जाती है। (मा. वि.तं. 3-11,12; स्व.तं. 1-32,33; वही, उ. 1, पृ. 27,28)।

योनि वर्ग

1. संपूर्ण विश्व के विभिन्न कार्यो को संपन्न करने वाली पारमेश्वर की भिन्न भिन्न शक्तियों के समूह (मा.वि.तं. - 3,11,12)।

2. अंबा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा नामक शिव की चार स्वभावभूत शक्तियों का वर्ग। अकार से क्षकार पर्यंत भिन्न भिन्न समूहों की अधिष्ठातृ शक्तियों का वर्ग। (शि.सू.वा. पृ. 7)।

3. मायाशक्ति तथा क से लेकर क्ष पर्यंत आठ वर्गों की अधिष्ठातृ देवियां-माहेशी, ब्राह्मणी आदि आठ शक्तियां। वही पृ. 61; मा.वि.तं. 3-14)।

4. अघोर, घोर तथा घोरतरी शक्तियों के वर्ग। (मा.वि.तुं. 3-31 से 33)।

रजोगुण

परमेश्वर की क्रियाशक्ति ही जब माया तत्त्व तथा उससे विकसित पांच कंचुकों से अत्यधिक संकोच को प्राप्त करके जीव में प्रकट होती है तो उसे ही जीव का रजोगुण कहते हैं। संकुचित प्रमाता की चंचलता और अशांति ही उसका रजोगुण है। अपने स्वरूप की सत्ता के आनंद का अंशतः आभास होना तथा साथ ही अंशतः उसका आभास न होना जीव के लिए दुःख का कारण बनता है। यही

दु:खात्मक स्वभाव उसका रजोगुण कहलाता है। (ई.प्र.वि., 4-1-4, 6)। इस तत्त्व के सामान्य स्वभाव सांख्य दर्शन के अनुसार ही माने गए हैं। परंतु इसे मुख्यतया पुरुष का स्वभाव माना गया है और इसके बीज की खोज परमेश्वर की क्रियाशक्ति के भीतर ढूंढ निकाली है।

रश्मिचक्र

दे. शक्ति चक्र, योनि वर्ग।

राग-तत्त्व

माया तत्त्व से विकास को प्राप्त हुए पांच कंचुक तत्त्वों में से तीसरा कंचुक तत्त्व। परिपूर्ण ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का संकोच हो जाने पर जब जीव अल्पज्ञ और अल्पकर्ता बन जाता है तो वह किसी किसी विशेष वस्तु को ही गुणाढ्य समझता है, सभी को नहीं। उस बहुतर गुणयुक्त माने गए वस्तु में ही उसे जानने और करने की प्रवृत्ति हो जाती है, अन्य वस्तुओं में नहीं। इसे अभिष्वंग कहा गया है। इसका लक्षण 'गुणारोपणमयो राग:' ऐसा कहा गया है। वैराग्य का विरोधी भाव जो राग होता है, वह बुद्धि का एक धर्म होता है। जबकि यह अभिष्वंग रुपी रागतत्त्व पुरुष का एक अंतरंग स्वभाव होता हे। किसी प्राणी को वैराग्य ही के प्रति राग होता है, क्योंकि ऐसा प्राणी वैराग्य को ही अतिगुणवान मानता है। इस तरह से राग, द्वेष, वैराग्य, अवैराग्य आदि और सभी इष्ट या अनिष्ट भावों या वस्तुओं के प्रति आसक्ति या अनासक्ति के मूल में जो तत्त्व कार्य करता है उसे राग तत्त्व कहते हैं। (शि.सू.वा. पृ. 44, ई.प्र.वि. 2, पृ. 209, तं.सा. पृ. 82)।

रुद्र

1. प्रमेय जगत को प्रमाता के साथ अभेद भाव के द्वारा उसी में उसे विलीन करने वाला परमेश्वर का कारण शरीर।

2. निचले कार्य तत्त्वों को ऊपर वाले कारण तत्त्वों में विलीन करने वाले संहार कारक उत्कृष्टतर देवगण।

3. जीव के अपनी शुद्ध चैतन्य स्वरूपता में प्रवेश करने के लिए उसके मन की सभी पाशविक वृत्तियों को शांत करने वाला और इस प्रकार स्वरूप साक्षात्कार में उसका सहायक बनने वाला परमशिव का पर रूप (स्व.तं. उ. प. 1, पृ. 36)।

10-19 HRD/99

4. नीलकंठ शिव । (वही, प. 2 – 79,80) ।

5. पशुपति । (स्व. तं. प. 10–902) ।

रुद्र (अनेक)

ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा नामक तीन शक्तियें के वैभव से युक्त विविध रुद्र । ये रुद्र माया तत्त्व से लेकर पृथ्वी तत्त्व तक के सभी तत्त्वों में इन तीन शक्तियों सहित शासन करते हैं तथा इन तत्त्वों में जीवों के स्वरूप दर्शनविषयासक्ति तथा अध:पतन के व्यवहारों को चलाते हुए इन तत्त्वों का संहार भी करते रहते हैं । (वी. पं. 4 पृ. 57, 63) ।

रुद्र (कालाग्नि)

पृथ्वी तत्त्व को पूर्णतया व्याप्त करके उसी के मल में ठहरने वाला तथा यहां के सभी भुवनों का संहार करने वाला रुद्र । (वही प. 10, पृ. 2,4) ।

रुद्र (प्रमाता)

सभी मुक्तशिव ।

रुद्र (शास्त्र प्रवक्ता)

भेदाभेद प्रधान अठारह शैव आगमों का उपदेश देने वाले । (मा.वि.वा. 1–391,392) ।

रुद्रशक्ति समावेश

जिस प्राणी पर परमेश्वर मध्य तीव्र प्रकार का शक्तिपात करता है उसके भीतर रुद्र शक्ति का समावेश हो जाता है । उस समावेश के पांच लक्षण माने गए हैं । – 1. उसमें शिव के प्रति अविचल भक्ति उमड़ आती है । 2. उसे मंत्र सिद्धि हो जाती है । 3. उसे सभी तत्त्वों का वशीकार हो जाता है । 4. उसके समस्त प्रारब्ध कार्य पूरे हो जाते हैं । 5. उसे समस्त शास्त्रों के तत्त्व के ज्ञान का उदय हो जाता है और उसके मुख से सालंकार तथा सुमनोहर कविता का प्रवाह चल पड़ता है । (मा.वि.तं. 2–13 से 16) ।

रूपस्थ

1. सुषुप्ति दशा में स्थित प्रमाता । योगियों की परंपरा में सुषुप्ति को भी रूपस्थ ही कहते हैं ।

2. प्रमाता की सौषुप्तम दशा । संसार की प्रत्येक वस्तु को उसका नील, पीत आदि रूप स्वयं प्रमाता ही अपनी कल्पना के द्वारा देता है । अतः प्रमाता को रूप कहते हैं । सुषुप्ति में प्रमाता अपने आपको प्रमेय एवं प्रमाण से खींचकर अपने ही स्वरूप में ठहराता है । अतः सौषुप्त प्रमाता को रूपस्थ कहते हैं । (तं. आ. 10-261) । इससे योगी सर्वव्यापकता को प्राप्त करता है । (मा.वि.तं. 2-37) ।

रुपातीत

तुर्यदशा । सभी बाह्य रूपों से उत्तीर्ण तथा परिपूर्ण स्वरूप की ओर उन्मुखता को प्राप्त हुई स्थिति । रूपस्थ (दे.) योगी सर्वव्यापकता को तो प्राप्त कर लेता है परंतु अभी भी वह विश्वोन्मुख होने के कारण परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हुआ होता है । जब वह विश्वोन्मुखता को छोड़कर केवल अपनी परिपूर्ण संवित् में ही स्थिति प्राप्त करने के प्रति उन्मुख होता है तो उसकी उस स्थिति को रुपातीत कहते हैं । इस अवस्था में पहुंचने पर योगी संपूर्ण विश्व को अपनी शुद्ध संवित् के ही रूप में देखने लगता है । (तं.आ., 10-273,274) तुर्या दशा को भी योगियों की परंपरा में रुपातीत कहते हैं ।

रौद्र आगम

भेदाभेद दृष्टि को लेकर के शैवी सिद्धांतों और शैवयोग की प्रक्रियाओं को प्रतिपादित करने के लिए रुद्रों द्वारा कहे गए भेदाभेद प्रधान अठारह शैव आगम । (मा.वि.वा. 1-390 से 92) । ये आगम दक्षिण भारत में काफी प्रचलित हैं । इनमें से अनेकों आगम अभी तक मिल रहे हैं । दक्षिण भारत में एक शिलालेख में इनके नाम खुदे हुए हैं । तंत्रालोक की टीका में जयरथ ने श्रीकंठी संहिता के वाक्यों को उद्धृत करते हुए इनके नाम गिनाए हैं ।

रौद्री

परमेश्वर की अंबा नामक पराशक्ति का वह रूप जिसमें ठहर कर वह जीवों को इसी संसार में टिकाए रखने के कार्य को निभाती है । यह शक्ति अपने घोर नामक अनंत शक्ति समूहों की सहायता से जीवों को इसी संसार में लुभाए रखने के लिए तथा मोक्ष के मार्ग से उन्हें मोड़ने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के सुखों का प्रलोभन देती रहती है और धार्मिक प्रवृत्ति को जगाते हुए उसके लिए सुखों की व्यवस्था भी बनाती रहती है । (तं.आ.खं. 4, पृ.50; भा.वि.वा. 3-32) ।

लाभभूमि

अपनी परिपूर्ण शक्तिमत्ता को प्राप्त करने की दशा । इसे परानंद को प्रकट करने वाली भूमिका भी कहा जाता है । (शि.सू.वा. पृ. 21) । दे. परानंद ।

लिंग

वह मूलभूत संवित्तत्त्व, जिसमें समस्त विश्व का लय हो जाता है और जिससे उसका उदय (आगमन) होता है (लयादागयनाच्च) । मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण आदि धातुओं से बना हुआ बहिर्लिंग तभी फलदायक होता है, जब उस पर उपरोक्त आध्यात्मिक लिंग की भावना की जाए । बाह्य लिंग उस आध्यात्मिक लिंग का प्रतीक मात्र है । (स्व.तं.उ., प. 3, पृ. 168) ।

योगधारणा में हृदय में सतत गति से चलने वाले प्राण स्पंदन परचित्त को एकाग्र करने से वहां हृदय से ब्रह्मरंध्र तक फैली हुई लिंगमूर्ति के दर्शन होते हैं । उसके ध्यान के अभ्यास से भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हो जाते हैं । उस लिंग का प्रतीक भी बाह्य लिंग है । (मा.वि.तं. 18-श्तः 11) ।

सृष्टि संसार में लिंग और योनि के परस्पर संगम से हुआ करती है । परमेश्वर शिवरुपतया जगत् पिता है और शक्तिरुपतया जगन्माता है । उन दोनों के परस्पर अभिमुखतया ठहरे हुए एक संघट्टात्मक पर तत्त्व का प्रतीक ही प्रणाली के बीच में खड़ा ठहरा हुआ शिवलिंग है । अतः इस पर शिवशक्ति संघट्ट की भावना की जाती है । तब ही इसकी उपासना भोग और मोक्षरूपी जीवन फलों को देती है ।

लिंग त्रय

उच्चार योग में भावना के द्वारा स्फुटतया आभासमान तीन उपास्य तत्त्व। उनमें से अव्यक्तलिंग (दे.) नर, शक्ति और शिव के स्वरूपों वाला होता है। देहादि के विषय में अभिमान के रहते हुए भी जब परतत्त्व का समावेश चित्त में हो जाता है तो नर-शक्ति-स्वरूप व्यक्ताव्यक्त लिंग (दे.) का उद्बोध हो जाता है। परादवैतरूपिणी संवित् शक्ति के गुणीभूत हो जाने पर प्रमेयरूपता ही के प्रधानतया प्रकाशित हो चुकने पर जिस (जगत की सृष्टि और लय के धाम बने हुए) लिंग का उद्बोध होता है, उसे व्यक्तलिंग (दे.) कहते हैं।

437. लोक

1. शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण चित्प्रकाश (शि.सू.वा. पृ. 21)।

2. दे. भुवन।

438. वर्ण-अध्वन्

आणवोपाय की कालाध्वा नामक धारणा में आलंबन बनने वाला सूक्ष्मतर मार्ग। पद के पर रूप को वर्ण कहते हैं। मंत्राध्वा के अभ्यास से क्षुब्ध प्रमाणस्वरुपता के शांत हो जाने पर साधक पूर्ण प्रमातृता में विश्रांति प्राप्त करने के लिए वर्णाध्वा का अभ्यास करता है। इस अभ्यास में वह समस्त वर्ण प्रपंच को अपने शुद्ध स्वरूप से दृढ़तर भावना द्वारा व्याप्त करता हुआ अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त सकता है। (तं.सा.पृ. 47, 59-61,112)।

वह्नि

शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूप पर-प्रकाश ही जब प्रमाण एवं प्रमेय के समरस रूप परिमित प्रमाता के रूप में प्रकट हो जाता है तो उस अवस्था में पहुंचने पर ही परतत्त्व या पर प्रकाश वह्नि कहलाता है। (तं.आ. 3-122,.123) वह्नि को प्रमाण एवं प्रमेय के भेद का दहन करने के कारण ज्वलन प्रधान चिद्रपू माना गया है और इसी रूप के कारण इसे परिमित प्रमातृ रूप भी माना गया है। (वी पृ. 127)।

वामदेव

स्वच्छंद नाथ (दे.) के पांच मंत्रात्मक स्वरूपों में से चौथा रूप । शिव इस रूप में अवतरित होकर भेदात्मक शैवशास्त्र का उपदेश करता है । प्रक्रिया मार्ग की दृष्टि से साधना के क्रम में ईश्वर तत्त्व को ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति माना गया है । उस दृष्टि से वामदेव को ईश्वर भट्टारक का तथा ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति का स्फुट रूप माना गया है । (तं.आ.वि. 1-18) । स्वच्छंदनाथ के पांचमुखों में से उत्तराभिमुख चेहरे का नाम भी वामदेव है । वामदेव मुख का वर्ण पीत माना गया है । इसकी अवस्था अविकसित क्रियाशक्ति प्रधान मानी गई है । यह विष्णुस्थानीय स्वप्न अवस्था है । (मा.वि.वा., 1-252, 271 से 276) ।

वामा

परमेश्वर की अंबा नामक पराशक्ति का वह रूप, जो निग्रह लीला को चलाता है । वामा शक्ति अपने अनंत शक्ति समूहों के समेत जीवों के बंधन की लीला को चलाती रहती है । जीवों को संसृति के चक्कर में ही लगाए रखने के कार्य को यही शक्ति करती है । वामादेवी के अनंत शक्ति समूहों को घोरतरी शक्तियां कहा जाता है । (तं.आ. 6-47; मा.वि.वा. 3-31) । संसार का अर्थात् संसृति का वमन करते रहने ही के कारण इसे वामा कहते हैं ।

वामेश्वरी चक्र

खेचरी, गोचरी, दिक्चरी तथा भूचरी नामक अंत: एवं बाह्य शक्ति चक्रों की वामेश्वरी नामक अधिष्ठातृ देवी के इन सभी शक्तियों के समूह को वामेश्वरी चक्र कहते हैं ।भेदाभेदमय तथा पूर्ण भेदमय प्रपंच को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली तथा भेदमय एवं भेदाभेदमय प्रपंच को पुनः अभेद रूप प्रदान करने वाली वामा शक्तियों की स्वामिनी देवी को वामेश्वरी कहते हैं । इसके इस सारे शक्ति समूह को वामेश्वरी चक्र कहते हैं । (स्व.सं. पृ. 20) ।

विकल्प

सहज ज्ञान के द्वारा ही आभासित होने वाला और वस्तुतः कुछ भी न होने वाला वस्तु शून्य पदार्थ विकल्प कहलाता है । जैसे 'आत्मा का चैतन्य' इस वाक्य के शब्दों द्वारा आत्मा में रहने वाले किसी चैतन्य नामक पदार्थ का आभास

केवल शब्द ज्ञान से ही आभासमान बनता है, स्वयं वस्तुतः कुछ भी नहीं होता है, क्योंकि आत्मा और चैतन्य दोनों वस्तुतः एक ही वस्तु है परंतु फिर भी कहने सुनने में ये दो पदार्थ परस्पर आधार और आधेय बनकर प्रकट हो जाते हैं । इस तरह से विकल्प बुद्धि की कल्पना मात्र ही होता है, स्वयं मूलतः कुछ नहीं होता।

विक्रम

'विगतः क्रमो यस्मात् स विक्रमः' अर्थात् जहां किसी प्रकार का निश्चित क्रम न हो उसे विक्रम कहते हैं । इच्छा में तो क्रम होता ही नहीं है । इस प्रकार इच्छाशक्ति के व्यवहार को विक्रम कहते हैं । इच्छाशक्ति के व्यवहार में प्रायः इतनी तीव्र गति वाला क्रम होता है कि उसकी क्रमरुपता की प्रतीति ही नहीं होती है । इसलिए भी उसे विक्रम कहते हैं । इस दृष्टि से उसे विशिष्टः सुविचित्रः अप्रतीयमानः क्रमो यत्र,ऐसी व्युत्पत्ति से समझाया जाता है ।

अति तीव्र गति को भी विशिष्ट क्रम कहा जाता है और इस कारण भी इच्छा को विक्रम कहते हैं क्योंकि इच्छा योग के अभ्यास से अतितीव्र गति से आत्म साक्षात्कार हो जाता है । सृष्टि क्रम में भी इच्छाशक्ति की गति अत्यंत तीव्र होती है अतः इच्छा को विंशतिकाशास्त्र में विक्रम कहा गया है । (श्री विंशतिकाशास्त्र, 18) ।

विज्ञानकेवल (ली/लिन्)

दे. विज्ञानाकल ।

विज्ञानदेहाख्या

विज्ञानदेह अर्थात् शुद्ध,असीम एवं परिपूर्ण संवित्स्वरूप परमेश्वर की आख्यायिका अर्थात् प्रत्यभिज्ञा करवाने वाली शक्तियां । आरोहण क्रम में सहायक बनने वाली इन शक्तियों को सौम्य शक्तियां भी कहा जाता है । ये शक्तियां ईशानी, आपूरणी आदि पांच शक्तियों का अनुगमन करने वाली होती है । (शि. सू. 27, पृ. 23) । (वस्तुतः ये शक्तियां ज्येष्ठा शक्ति (दे.) के अधीन काम करने वाली होती हैं ।

विज्ञानाकल

विज्ञानकेवल या विज्ञानकेवली । माया तत्त्व (दे.) के समीपस्थ निम्न स्तर की महामाया (दे.) में ठहरने वाले प्राणी । (प.त्री.वि. पृ. 118) । अपने आपको विमर्शात्मक अर्थात् क्रियात्मक स्वभाव से रहित केवल प्रकाशात्मक स्वरूप वाला ही मानने वाला प्राणी । ये प्राणी अपने आपको क्रियात्मक ऐश्वर्य से विहीन मानने पर अपने को केवल विज्ञानात्मक ही मानते हैं जो शून्यता के समीप हैं । इनको प्रमेय जगत् का आभास तो नहीं होता है परंतु किंचित मात्रा में भेद की दृष्टि बनी रहती है । इस कारण इनमें अस्फुट मायीय मल (दे.) माना गया है । स्वरूप संकोच के कारण इनमें आणवमल (दे.) के प्रथम प्रकार की स्फुट अभिव्यक्ति मानी गई है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 224) । ये प्राणी तुर्या दशा के निम्नतम स्तर के प्राणी होते हैं ।

वितर्क

अपने आपको शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण शिवरूप समझना तथा समस्त प्रपंच को अपनी ही शक्तियों का विस्तार समझना वितर्क कहलाता है । यही वितर्क आत्मज्ञान का सहायक बनता है । (शि.सू.वा. पृ. 20,21) । यह वितर्क ज्ञानयोग का एक विशेष प्रकार होता है । इसके अभ्यास के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप का संस्कार साधक के मस्तिष्क पर क्रम से गहरा बनता जाता है।

विदेह मुक्ति

दे. मुक्ति ।

विद्या

1. वस्तु के मूलभूत एवं नैसर्गिक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान । किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप के देखने, परखने, तथा उसके शुद्ध रूप में ही उसे अनुभव करने एवं अपने संवित् स्वरूप से अभिन्न रूप में ही उसे अनुभव करने एवं अपने संवित् स्वरूप से अभिन्न रूप पहचानने को विद्या कहते हैं । 'अहमिदम्' अर्थात् संपूर्ण विश्व को पारमार्थिक रूप में अपने ही परिपूर्ण एवं शुद्ध अहम् का ही विस्तार समझना सविद्या या शुद्ध विद्या है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 197-8) । दे. शुद्ध विद्या ।

2. छत्तीस तत्त्वों के क्रम में छठा तत्त्व । दे. शुद्ध विद्या एवं विद्या तत्त्व ।

विद्या (अशुद्धा)

दे. अशुद्ध विद्या ।

विद्या शुद्धा

दे. शुद्ध विद्या ।

विद्या–कला

1. तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं। प्रत्येक कला प्राय: कई एक तत्त्वों को व्याप्त करके ठहरती है । पुरुष तत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक की समस्त सूक्ष्म सृष्टि को व्याप्त करने वाली कला को विद्या कला कहते हैं । इस कला में संवित् का आधिक्य होने के कारण वेद्य भाव तिरोहित होकर ही रहता है । यहां वेदक भाव ही प्रमुखतया प्रकाशित होता है, इसी कारण इसे विद्या नाम दिया गया है । (तं.सा. पृ. 109) । विद्या कला को मायीय अंड भी कहते हैं । (तं.सा. पृ. 110) ।

2. आणवोपाय की त्रितत्त्व धारणा में आधार बनने वाली दूसरे प्रकार की कला । इस धारणा में आधार बनने वाले शुद्ध विद्या तत्त्व, ईश्वर तत्त्व, सदाशिव तत्त्व तथा इनमें रहने वाले मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर, भाव, भुवन आदि को व्याप्त करने वाली कला को विद्या कला कहा जाता है । (तं.सा. यपृ. 111) । दे. त्रितत्त्व धारणा ।

विद्या तत्त्व

1. छत्तीस तत्त्वों के क्रम में पांचवा तत्त्व । शुद्ध विद्या तत्त्व । सदाशिव तथा ईश्वर का करण स्थानीय तत्त्व । भेदाभेद दृष्टिकोण वाले मंत्रमहेश्वरों तथा मंत्रेश्वरों के ठहरने का क्षेत्र । (ई. प्र. वि. 2 पृ. 196–7) दे. शुद्ध विद्या ।

2. सदाशिव तथा ईश्वर तत्त्वों में ठहरने वाले मंत्रमहेश्वरों तथा मंत्रेश्वरों का भेदाभेदमय दृष्टिकोण । (वही) ।

3. विद्या तत्त्व का ही महामाया नामक एक अवांतर प्रकार जिसे विद्या तत्त्व के ही भीतर गिना जाता है। इसे शुद्ध विद्या से कुछ नीचे तथा माया से कुछ ऊपर का तत्त्व माना गया है। दे. महामाया।

4. पशुभाव में स्थित जीवों को अपनी स्वभावभूत संविद्रूपता का प्रकाशन करवाने वाली परमेश्वरी शक्ति। दे. विद्याशक्ति। (ई.प्र.वि. 3-1-7)।

5. जीव की संकुचित ज्ञानशक्ति। इसे अशुद्ध विद्या तत्त्व भी कहते हैं। (शि.सू.वा. पृ. 43-4)। यह तत्त्व छत्तीस तत्त्वों के क्रम में आठवें स्थान पर आता है। दे. अशुद्ध विद्या।

6. आणवोपाय की त्रितत्त्व धारणा में सदाशिव ईश्वर तथा शुद्ध विद्या के तत्त्व वर्ग को भी विद्या तत्त्व कहते हैं। (मा.वि.तं. 2-47)। दे. विद्या कला, 2.।

विद्या दशा

शुद्ध विद्या की भूमिका। भेदाभेद की भूमिका। इस भूमिका में सदाशिव तत्त्व, ईश्वर तत्त्व तथा शुद्ध विद्या तत्त्व आते हैं। सृष्टि एवं संहार आदि के क्रम में यह दूसरी भूमिका होती है। इस भूमिका में शुद्ध 'अहं' के भीतर ही 'इदं' का भी आभास होने लग जाता है परंतु फिर भी परस्पर अभेद की प्रतीति होती ही रहती है। इस भूमिका में प्रकाश रूप प्रमाता के भीतर प्रमेयता का इस प्रकार का आभास होने पर 'अहम् इदम्' अर्थात् 'मैं यह हूं' अथवा 'इदम् अहम्' अर्थात् 'यह मैं हूं' इस प्रकार की भेदाभेद दृष्टि का उदय होता है। (ई.प्र. वि. 2 पृ. 196-7)। परमशिव इस भेदाभेद की भूमिका में समस्त प्रपंच को अपनी परापरा शक्ति द्वारा धारण करता है। (तं.सा. पृ. 28)।

विद्या-भूमिका

शुद्ध विद्या तत्त्व, ईश्वर तत्त्व और सदाशिव तत्त्व के क्षेत्रों को विद्याभूमिका कहते हैं। इस भूमिका के तीन तत्त्वों के अधिपति क्रम से भगवान अनंत नाथ, ईश्वर भट्टारक और सदाशिव भट्टारक हैं। इस भूमिका के तत्त्वों के निवासी प्राणी क्रम से विद्येश्वर (मंत्र), मंत्रेश्वर और मंत्रमहेश्वर हैं। यह भूमिका भेदाभेदमयी भूमिका है। इसका स्थान शक्ति भूमिका और माया भूमिका के मध्य में है।

विद्याशक्ति

पशुभाव में भी स्वभावभूत ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने वाली परमेश्वर की शक्ति । यह शक्ति परमेश्वर की महाविद्या नामक पराशक्ति का ही एक प्रकार है । दृश्य, द्रष्टा और दर्शन में पूर्ण भेद को देखने के कारण परतंत्र होता हुआ भी जीव इसी शक्ति की सहायता से अपने मूलभूत ऐश्वर्य स्वभाव का दर्शन करता है । ऐसा होने पर उसकी अभेद दृष्टि खुल जाती है । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 202-3) ।

विद्येश्वर प्राणी

मंत्र प्राणी । शुद्ध विद्या के उस स्तर पर रहने वाले प्राणी, जिसे महामाया (दे.) कहा जाता है । इन प्राणियों में 'इदम्' अंश के प्रति स्फुट भेद की दृष्टि उत्पन्न हो गई होती है । इनका दृष्टिकोण '.अहम् अहम् इदम् इदम्' अर्थात् 'मैं मैं हूँ तथा यह यह है' - इस प्रकार का हो जाता है । यद्यपि इन्हें अपने प्रकाशात्मक स्वरूप तथा विमर्शात्मक स्वभाव के विषय में तनिक भी संशय नहीं होता है, फिर भी परमेश्वर को, अन्य प्रमाताओं को तथा प्रमेय जगत् को ये अपने से भिन्न ही समझते हैं । इस भेद दृष्टि के कारण इन प्राणियों में एकमात्र मायीय मल की स्थिति मानी गई है । (ई.प्र.वि.2, पृ. 201) ।

460. विन्दु

1. विन्दुरिच्छुः - सृष्टयादि पंचकृत्यों के प्रति इच्छा से आविष्ट परमेश्वर को विन्दु कहते हैं ।

2. अनुत्तर शक्ति ही जब ग्राह्य ग्राहकात्मक संपूर्ण भावजगत् को अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से इदंतया अभिव्यक्त करती हुई स्वरूप गोपनात्मक किंचित् संकोच को प्राप्त हो जाती है तब वही पराशक्ति विन्दु रूप में प्रकट हो जाती है । समस्त अंतःसृष्टि जब बाह्य रूप में प्रकट है तो पराशक्ति में अतिसूक्ष्म रूप में स्वरूपगोपन की प्रक्रिया चलती है अन्यथा ज्ञेय रूप जगत् प्रकट हो नहीं सकता है । इस अवस्था में आने को तैयार बनी हुई अनुत्तर शक्ति को ही विन्दु कहते हैं । (तं.आ., 3-110; वही पृ. 116,117) ।

3. अविभाग रूप पर प्रकाश । अ से लेकर औ पर्यंत समस्त अंतः सृष्टि का विमर्श होने पर क्रियाशक्ति में ही जब प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय की त्रिपुटी का अंत-

विमर्शन होता है तो इस त्रिपुटी में अनुत्तर शक्ति स्वरूप विन्दु ही पर प्रकाश रूप बिंदु के रूप में प्रकट हो जाता है। विंदु ही इस अविभागमयी त्रिपुटी की अवस्था में आने पर बिंदु कहलाता है। इसी बिंदु को समस्त अंतःसृष्टि तथा बाह्य सृष्टि को अभिव्यक्त करने, संरक्षित करने, संहृत करने तथा इन सभी क्रियाओं को जानने में पूर्ण स्वतंत्र परप्रमात्रैकरूप परमेश्वर या शिव कहा जाता है। (वही. 3-111; वही पृ. 117)।

4. अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से विश्व को अवभासित करने की प्रक्रिया में अनुत्तर शक्ति स्वरूप विंदु ही जब नर, शक्ति तथा शिवस्वरूप द्वादशांत, भ्रूमध्य तथा हृदय में क्रम से अभिव्यक्त हो जाता है उस स्थिति में भी इसे बिंदु या विंदु कहते हैं। इस अवस्था में पहुंचने पर भी पर प्रकाश शुद्ध एवं परिपूर्ण ही बना रहता है तथा जीवों को संसृति से उभारने की सामर्थ्य रखता है। (वही 3-112,113 वही पृ. 118,119)।

5. बिंदु के ही तादात्मक परावाग्रूप परामर्श को विंदु कहते हैं। इसी बिंदु को हकार की अर्धार्ध स्वरूपा अमा कला भी कहते हैं। (वही 3-113,114; वही पृ. 119)। दे. अमा।

6. अकार से हकार पर्यंत प्राणरूप से स्थित परा जीवकला अर्थात् शिवकला को भी बिंदु कहते हैं। यह बिंदु या परा जीवकला अकारस्वरूपी अनुत्तरशक्ति ही है। यह अकार ही हकार पर्यंत सभी वर्णों में मूलभूत प्राण रूप से स्थित रहता है। यही विंदुस्वरूपा परा जीवकला सूर्य तथा चंद्रात्मक प्राण तथा अपान के रूप में प्रवाहित होती रहती है। (वही पृ. 120)।

461. विमर्श

प्रकाश का नैसर्गिक स्वभाव। प्रकाशरूप आभास की प्रतीति। प्रकाश की प्रकाशता ही विमर्श है। प्रकाश और विमर्श ये दोनों ही भाव वस्तुतः एक दूसरे में ओतप्रोत भाव से विद्यमान रहते हैं। (ई.प्र. 1-5-11)। शिव स्वच्छ प्रकाश रूप है और शक्ति विमर्शरूपा है। शुद्ध प्रकाश की विमर्शरूपता ही उसकी शक्ति है। विमर्श ही प्रकाशरूप ज्ञान की क्रिया है। (ई.प्र. 1-8-11) काश्मीर शैव दर्शन में अनुत्तर परमशिव की सतत् स्पंदनशील संविद्रूपता के स्वरूप एवं स्वभाव को प्रदर्शित करने के लिए ही उसे प्रकाश एवं विमर्श, ये दो नाम दिए गए हैं। (ई.प्र.वि, पृ. 338)।

विलय कृत्य

दे. निग्रह कृत्य ।

विलास

लीला, पारमेश्वरी क्रीडा, परमेश्वर की परमेश्वरता । परमशिव के अंत:विमर्श तथा बाह्य विमर्श की सूक्ष्म एवं स्थूल अभिव्यक्तियों के व्यवहार को विलास कहते हैं । इसे पारमेश्वरी लीला भी कहा जाता है । इसी विलास के कारण परमशिव सतत रूप से उन्मेष एवं निमेषयुक्त बना रहता है । परमशिव का यही विलसन स्वभाव उसकी विश्वोत्तीर्णता तथा विश्वमयता का मूलभूत कारण है । (आ.वि. 2-1,2,3,23) ।

विशेष स्पंद

अप्रतिष्ठित स्पंद । संसृति का मूल कारण बनने वाला स्पंद । गुणमय भिन्न भिन्न स्पंदों को विशेष स्पंद कहा गया है क्योंकि इन्हीं के प्रभाव से जीव माया से अभिभूत होता हुआ संसृति के चक्कर में पड़ा रहता है । इसी कारण से विशेष स्पंद को अत्यंत हेय कहा गया है । (स्प.वि. पृ. 63,64) । इसे ही सत्त्व आदि तीनों गुणों और उनके व्यापारों का मूल कारण माना गया है । (वही, पृ. 64,65; स्प.नि. पृ. 39) ।

विश्रामभूमि

अपने शिवभाव पर विश्रांत होने की दशा । इस दशा पर पहुंचने से महानंद नामक आनंद की अभिव्यक्ति होती है । इस कारण विश्रामभूमि को महानंद स्वरूपक भी कहा जाता है । (शि.सू.वा. पृ. 21) । दे. महानंद । उच्चार योग में पुरुष तत्त्व, शून्यता,प्राण, अपान आदि की भूमियों पर भी विश्रांतियां होती हैं परंतु उदान नामक प्राणवृत्ति पर होने वाली विश्रांति को उनसे बहुत उत्कृष्ट माना गया है । उसी विश्रांति से महानंद का अनुभव होता है। अतः उस उदान भूमिका को ही विश्राम भूमि कहते हैं ।

विश्वमातर:

अ से लेकर क्ष पर्यंत सभी वर्णो के भिन्न भिन्न वर्गो की अधिष्ठात्री माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, ऐंद्री, याम्या, चामुंडा तथा योगीश्वरी नामक आठ शक्तियों का वर्ग । (मा.वि.तं. 3-14; स्व.तं. 1-34 से 36) । इन्हें महामातृवर्ग या विश्वमातर: इसलिए कहा जाता है क्योंकि ये शक्तियां परमेश्वर की आरोहण और अवरोहण की लीलाओं को क्रियान्वित करती हुई विश्व के समस्त व्यवहारों को अपने भिन्न भिन्न रूपों के द्वारा चलाती रहती हैं । (स्व.तं.उ. 1 पृ. 26) ।

विसर्ग

परमशिव की वह अवस्था, जिसमें वह अपने परिपूर्ण स्वातंत्र्य से अपने ही आनंद के लिए अपने विश्वोत्तीर्ण स्वरूप को छिपाने के प्रति तथा विश्वमय रूप में आभासित होने के प्रति उन्मुख होने लगता है ।

विसर्ग अपर

हकारात्मक विसर्ग । (तुं.आ.वि. 2 पृ. 141) । दे.ह. ।

विसर्ग पर

मातृका का 'आ' वर्ण । परमेश्वर की कौलिकी शक्ति । आनंद, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया नामक परमशिव की चार नैसर्गिक शक्तियों को अभिव्यक्त करने वाली उसकी पराशक्ति । (तं.आ.वि., 2 पृ. 104) । दे. विसर्गशक्ति ।

विसर्ग परापर

विसर्जनीय नामक सोलहवां स्वर (मातृका का) । सदाशिव दशा । (तं.आ. वि. 2 पृ. 141,142) । भेदावभास को प्रारंभ करने वाला बिंदु (मिदिर अवयवे) ।

विसर्ग वर्ण

अ: । दे. अ: ।

विसर्ग शक्ति

परांह परामर्श । कौलिकी शक्ति (दे.) । परमशिव की वह स्वभावभूता पराशक्ति जो समस्त अंत: एवं बाह्य, सूक्ष्म तथा स्थूल अभिव्यक्तियों का एकमात्र मूल कारण है । अ से लेकर ह पर्यंत संपूर्ण विमर्श को इसी शक्ति का विलास माना गया है । अपनी इस शक्ति के कारण ही परमशिव सदैव समस्त भावजात के रूप में प्रकट होता हुआ भी अपनी शुद्ध एवं परिपूर्ण संविद्रूपता का सतत परामर्श करता ही रहता है । यह अहं परामर्श उसकी आनंदरुपता है । इस कारण विमर्शशक्ति को आनंदशक्ति भी कहा जाता है । यह शक्ति परापर तथा अपर रूपों में अनंत प्रकारों से प्रकट होती हुई विश्व के समस्त व्यवहारों को चलाती रहती है, परंतु फिर भी अपने अनुत्तर स्वरूप में अविभागतया स्फुरित होती रहती है । (तं.आ. 3–201 से 226) ।

विस्मय

शैवी साधना के सतत अभ्यास से साधक जब अपनी शुद्ध चिदानंद स्वरूपता के आवेश को प्राप्त कर लेता है तो उसे यह निश्चय ज्ञान हो जाता है कि संपूर्ण विश्व उसी की संविद्रूपता का स्फार है । ऐसा ज्ञान होने पर जब वह सभी कुछ को अपनी यही क्रीडा के रूप में देखने लगता है तो उसमें जिस आश्चर्य भाव की अभिव्यक्ति होती है उसे विस्मय कहते है । इस अवस्था में स्थित होने पर बिंदु नाद आदि भिन्न भिन्न भूमिकाओं की अभिव्यक्ति हो जाती है । तब इस विस्मय को योग भूमिकाओं की अभिव्यक्ति का कारण कहा जाता है । (शि.सू.वा. पृ. 15) ।

वीरेश

1. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं का भोग करने वाला तथा तुर्या अवस्था में प्रविष्ट हुआ साधक । सृष्टि त्रिगुणात्मक है । प्रकाश, प्रवृत्ति तथा मोह क्रमशः सत्त्व, रज तथा तम में प्रधानतया चमकते हैं । शैव दर्शन के अनुसार जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति में क्रमशः तम, रज तथा सत्त्व प्रधानतया अभिव्यक्त होते है । इस प्रकार तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप तुर्या में प्रवेश पाकर जब साधक शेष तीनों अवस्थाओं में स्वच्छंद रूप से विचरण कर सकता है तब उसे वीरेश कहते हैं । (शि.सू.वा. पृ. 14)

2. परमानंद से परिपूर्ण तथा भेदभाव को शांत करने में प्रवीण वीर इंद्रियों का स्वामी। (शि.सू.वि. पृ. 12)।

वीरेश्वर

तीन गुणों से उद्‌भूत इंद्रिय समूहों द्‌वारा कल्पित विश्व का स्वेच्छापूर्वक सृष्टि और संहार में से विशेषतया संहार करने में व्यस्त वीरेश ही वीरेश्वर कहलाता है। (शि.सू.वा. पृ. 14)।

वीर्य

सामर्थ्य। परमेश्वर का सतत स्फुरणशील स्वभाव। उसकी परा विसर्गशक्ति। अपने विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय, दोनों रूपों को सतत गति से अपने आनंद के लिए अपने में ही लय और उदय करने वाली परमेश्वर की सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञातृत्व लक्षणों से युक्त स्वभावभूता शक्ति। (शि.सू.वा., पृ. 36,59)। यह वीर्य ही परमेश्वर की परमेश्वरता है यदि उसमें यह वीर्य नहीं होता तो वह परमेश्वर नहीं होता। इसी वीर्य से सृष्टि संहार आदि होते रहते हैं।

वैखरी वाच् (वाणी)

संविद्रूपा परावाक् ही जब स्थूल रूप को प्राप्त करती हुई मुख द्‌वारा स्फुट रूप में व्यक्त होने वाली ध्वन्यात्मक वाणी के रूप में प्रकट होती हुई प्रमाता के द्‌वारा प्रमेयों के प्रति किए हुए निश्चयात्मक ज्ञान को दूसरों में संक्रांत करने के लिए प्रवृत्त होती है तो इस अवस्था में इसे वैखरी वाणी कहा जाता है। इस वाणी की अभिव्यक्ति स्थूल शरीर में मुख द्‌वारा प्राण वायु के आघात से होती है तथा इसका व्यवहार जाग्रत अवस्था में होता है। इस वाणी में शब्द और अर्थ का परस्पर भेद अतीव स्फुटतया व्यक्त हो जाता है। (तं.आ.वि. 2; पृ. 225)।

वैसर्गिकी कला

दे. विसर्ग शक्ति।

व्यक्तलिंग

परादृवैतरूपिणी संवित् शक्ति के गुणीभूत हो जाने पर प्रमेयरूपता ही के प्रधानतया प्रकाशित हो चुकने पर जिस (जगत की सृष्टि और लय के धाम बने हुए) लिंग का उद्‌बोध होता है उसे व्यक्त लिंग कहते हैं । यह लिंग एकमात्र नरतत्त्वात्मक होता हे । इसे आत्मलिंग भी कहते हैं । इसकी उपासना से केवल भोग ही मिलता है, मोक्ष नहीं (मा.वि.वा. 2-65) । इसमें वेद्य जगत् पूरी तरह से उदित हुआ होता है । (तं.सा. पृ. 41) । इसका उद्‌बोध महानंद में होता है । (मा.वि.वा. 2-68) ।

व्यक्ताव्यक्त लिंग

देहादि के विषय में अभिमान के रहते हुए भी जब परतत्त्व का समावेश चित्त में हो जाता है तो नर-शक्ति-स्वरूप व्यक्ताव्यक्त लिंग का उद्‌बोध हो जाता है । इसका स्वरूप 'इदमहं' परामर्श है । यह भेदाभेद स्वरूप है । यह लिंग युक्तिप्रद भी होता है और मुक्तिप्रद भी । शाक्त समुल्लास से इसके भीतर मंत्रों के वीर्य का भी उद्‌बोध होता है । (मा.वि.वा. 2-63) । इसमें वेद्य जगत् का उन्मेषमात्र होता रहता है । (तं.सा. पृ. 40) ।

व्यान

तुर्य तुर्य दशा में (अर्थात् तुर्या के उत्कृष्टतम सोपान पर) चलने वाले प्राणन व्यापार का आधार बनी हुई जीवन शक्ति को व्यान कहते हैं । व्यान के व्यापार में प्रमाता को अपनी विश्वमयता का तथा विश्वाकारता का सम्यक् विमर्शन होता है । ऐसे पारमैश्वर्य के विमर्शन से अपनी परमेश्वरता के चमत्कार का आस्वादन उसे हुआ करता है । अकल वर्ग के प्राणियों को ऐसा विमर्शन होता रहता है और ऐसे विमर्शन के चमत्कार की अनुभूति ही उनकी जीवन क्रिया हुआ करती है । उसे छोड़कर किसी और जीवन व्यापार के होने की वहां सम्भावना ही नहीं, इस लोक के प्राणियों को भी शाम्भव आदि समावेशों की दशाओं में व्यान नामक प्राण के व्यापार की अनुभूति होती है । (ई.प्र. वि.खं. 2 पृ. 246) ।

11-19 HRD/99

व्यापिनी

संपूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच को व्याप्त करने वाली परमेश्वर की स्वभावभूत शक्ति । पृथ्वी तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के सभी कलाओं,भावों तथा भुवनों को अंदर से एवं बाहर से दोनों तरह से पूर्णतया व्याप्त करके ठहरने वाली शिव की नैसर्गिकी शक्ति को ही तंत्रसार नामक ग्रंथ में व्यापिनी कहा गया है । (तं.सा. पृ. 65) । प्रणव की कलाओं में व्यापिनी दसवीं कला है । प्रणवोपासना में सूक्ष्मतर अवधान से इसका साक्षात् अनुभव हो जाता है ।

व्यावहारिक सत्ता

परमशिव का विश्वमय रूप । सांसारिक सत्ता । कल्पित सत्ता । परमशिव की वह सत्ता, जिसके आधार पर सारे प्रपंच की विविधता प्रकाशित होती रहती है तथा संसार के संपूर्ण व्यवहार चलते हैं । यह सत्ता परमशिव की पराशक्ति का बहिर्मुखी रूप ही है । उत्पत्ति और विनाश होने के कारण यह सत्ता सदैव एक ही रूप में नहीं रहती है । यह अपने पारमार्थिक रूप में परमशिव में पूर्ण संवित् के ही रूप में संवित्स्वरूपा बनकर रहती है । इस कारण शैव दर्शन में इसे कल्पित सत्ता होने पर भी, सत्ता के ही भीतर गिना गया है । इस दर्शन का सत्कार्यवाद इसी सिद्धांत की ओर संकेत करता है ।

व्योमचरी

दे. खेचरी चक्र ।

व्रत (ज्ञानयोग)

काश्मीर शैव दर्शन के ज्ञानयोग की वह साधना, जिसमें साधक शुद्ध विकल्पों से बार बार यह अंतः परामर्श करता है कि जितना भी दृश्य जगत् है उसके प्रत्येक पदार्थ में तथा उसके प्रत्येक भाव में एकमात्र परमेश्वर ही व्याप्त है । इस प्रकार सजीव शरीर तथा अन्य किसी भी प्रकार के निर्जीव पदार्थ में मूलतः कोई भेद नहीं है । ऐसे शुद्ध विकल्पों से भावना द्वारा परमेश्वर का सर्वव्यापक रूप से अंतः परामर्श करना व्रत कहलाता है । (तं.सा. पृ. 27) ।

शक्ति

1. सामर्थ्य । परमेश्वर का परिपूर्ण स्वातंत्र्य । परमेश्वर की परमेश्वरता । पराशक्ति । परमेश्वर की वह सामर्थ्य जिसके बूते पर वह अपनी अनुत्तर संविद्रूपता में ठहरता हुआ ही सृष्टि, स्थिति इत्यादि पंच कृत्यों को सतत रूप से अपनी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार चलाता ही रहता है ।

2. शिव का स्वस्वरूप–परामर्श । शिव की स्पंदमानता, अचल शिव की चलनशीलता या चलता । परमशिव की विमर्शरूपता । यह विमर्शात्मकता ही उसकी शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण क्रियास्वरूपता है और ऐसी क्रियात्मकता ही उसकी परमेश्वरता है । परमशिव की विश्वमयता उसके इसी स्वरूप परामर्श का फल है और वही उसकी शक्तिस्वरूपता है ।

शक्ति चक्र

1. संपूर्ण विश्व को समय समय पर अपने संवित् प्रकाश में ही लय और उदय करने में व्यस्त परमशिव की भिन्न भिन्न शक्तियों का समूह ।

2. खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी इत्यादि शक्तियों का समूह ।

3. चित्, निर्वृति (आनंद), इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया – इन पांच अंतरंग शक्तियों का समूह ।

4. समस्त प्रपंच के भीतर प्रमातृ व्यवहार को चलाने वाली परमेश्वर की द्वादश महाकालियों का समूह ।

5. माहेशी, ब्राह्मणी इत्यादि आठ शक्तियों का समुदाय ।

6. महामुद्रा, योगमुद्रा पद्ममुद्रा, आदि मुद्राओं का समुदाय भी शक्ति चक्र कहलाता है ।

7. प्राणी की सभी इंद्रियों में काम करने वाली शिव की शक्तियां जिन्हें करणेश्वरी चक्र कहा जाता है, उन्हें शक्तिचक्र भी कहते हैं । (स्प.सं. पृ. 15–23) ।

शक्ति तत्त्व

1. छत्तीस तत्त्वों की कल्पना में दूसरा तत्त्व । शुद्ध विमर्शात्मक विश्वमय तत्त्व । परमशिव का विमर्श प्रधान स्वरूप । परमशिव की इच्छाशक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति वाला तत्त्व । (तं.सा. पृ.6) । परंतु साधनाक्रम के अनुसार शिव तत्त्व को परतत्त्व मान लेने पर शक्ति तत्त्व को आनंदशक्ति का ही रूप माना जाता है । शिव तत्त्व की भांति शक्ति तत्त्व में भी परिपूर्ण शुद्ध 'अहं' ही स्फुटतया चमकता है और 'इदं' अंश सर्वथा 'अहं' में ही विलीन होकर रहता है । पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरने वाले अकल प्राणी (शाक्त प्राणी) इसी तत्त्व में ठहरनेवाले प्राणी होते हैं । (वही पृ. 74-75) ।

2. शिव तत्त्व तथा शक्ति तत्त्व के वर्ग को भी शक्ति तत्त्व कहते हैं । (तं.आ. वि; खं 1 पृ. 297) । परंतु प्रमुखतया इस तत्त्व वर्ग को शिव तत्त्व के ही रूप में अधिकतया जाना जाता है । (दे. शिव तत्व 2) ।

शक्तित्रय

1. जगत् के संपूर्ण व्यवहार की आधार बनी हुई स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन नामक परमेश्वर की मूलभूत तीन शक्तियों को शक्तित्रय कहते हैं । परमेश्वर अपनी इन्हीं तीन शक्तियों के द्वारा समस्त विश्व का सारे का सारा व्यवहार चलाता रहता है । (ई.प्र. 1-3-7) ।

2. परमेश्वर की पांच अंतरंग शक्तियों में से इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन अंतरंग शक्तियां ।

शक्तिपंचक

परमेश्वर की चित्, निर्वृति (आनंद), इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया नामक पांच अंतरंग शक्तियां । ये पांचों शक्तियां क्रमशः परमशिव तत्त्व, शिवतत्त्व, शक्तित्त्व, सदाशिवतत्त्व तथा ईश्वर तत्त्व में स्फुटतया अभिव्यक्त होती हैं । (शि.दृ. 1-29, 30) । इन पांच शक्तियों के बहिर्मुख विकास ही के द्वारा परमेश्वर की परमेश्वरता अभिव्यक्त होती है । इन्हीं शक्तियों के लीलात्मक अभिनय से वह अपनी परमेश्वरता के चमत्कार का आस्वादन करता हुआ अपनी परमेश्वरता को निभाता

है । यदि उसमें ये पांच शक्तियां न होतीं या यदि होकर भी वह इनके बहिर्मुख विकास के प्रति उन्मुख ही नहीं होता तो फिर वह शून्यगगन की जैसी पदवी पर उतर कर जड़ता को प्राप्त हो जाता ।

शक्तिपात

पारमेश्वरी लीला का वह अनुपम विलास जिसके प्रभाव से जीव के संशयों का उच्छेद होता है,उसे सत् और असत् का विवेक होता है, सद्गुरु के पास जाने की अभिलाषा उत्पन्न होती है तथा मोक्षमार्ग के प्रति प्रवृत होने की अंतःप्रेरणा होती है (तं.सा. पृ. 122) । शक्तिपात के मुख्यतः तीन भेद माने गए हैं - तीव्र, मध्य और मंद । इनमें से प्रत्येक के तीव्र, मध्य एवं मंद नामक तीन तीन उपभेद भी होते हैं । जैसे तीव्रतीव्र, मध्यतीव्र, मंदतीव्र इत्यादि । इस प्रकार शक्तिपात के नौ भेद हो जाते हैं । (तं.आ. 13-129,130,254; तं. सा. पृ. 119,120) । इसी प्रकार इसके और भी भेद किए जा सकते हैं । शक्तिपात को निरपेक्ष एवं अनिमित्त माना गया है । वस्तुतः परमशिव इसके प्रयोग में पूर्णतया स्वतंत्र है और यही उसकी परमेश्वरता का रहस्य है । (तं.सा.पृ. 118, भा.वि.वा. 1-688) ।

शक्तिभूमिका

1. परमशिव की इच्छा शक्ति के स्फुट विकास की भूमिका । समस्त विश्व को अभिव्यक्त करने के प्रति परमशिव की उन्मुखता की भूमिका ।

2. सृष्टि एवं संहार के क्रम में सर्वथा अभेदमयी प्रथम तथा चरम भूमिका ।

3. शिव तत्त्व एवं शक्ति तत्त्व के अभेद की भूमिका । इस परिपूर्ण अभेद की भूमिका में शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूप 'अहं' का ही सतत अवभास होता रहता है तथा 'इदं' पूर्णतया 'अहं' में ही विलीन होकर 'अहं' के ही रूप में चमकता है । शिवदशा तथा शक्तिदशा में इस शुद्ध 'अहं' में क्रमशः प्रकाशरुपता तथा विमर्शरुपता की प्रधानता रहती है । वस्तुतः ये दोनों ही एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं। केवल समझाने के लिए इनका पृथक् पृथक् निरुपण होता है । ये परमशिव के मानो दो पार्श्व हैं । परमशिव इस अभेद की भूमिका में समस्त प्रपंच को अपनी परादेवी द्वारा धारण करता है । (तं.सा. पृ. 28) ।

शक्तिमान्

परमशिव । महेश्वर । संपूर्ण विश्व को महेश्वर की शक्तियों का विलास एवं उन्हीं शक्तियों का स्फुट बहिर्मुख रूप कहा जाता है तथा स्वयं महेश्वर को इन भिन्न भिन्न प्रकार की अनंत शक्तियों का एकमात्र स्वामी कहा जाता है । वस्तुतः शक्ति एवं शक्तिमान् में किसी भी प्रकार का कोई भी अंतर नहीं है । (शि.दृ. 3-2, 3) । पस्मशिव का विश्वोत्तीर्ण कूटस्थ स्वरूप ही समस्त प्रपंच के सृष्टि संहार आदि का मूल कारण है । इस प्रपंच को प्रतिबिंब न्याय से आभासित करने की उसकी सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं और उस शक्ति की अपेक्षा से उसे शक्तिमान् कहते हैं । ऐसा कहने की प्रथा 'राहु कासिर' इस प्रकार के कहने की प्रथा की तरह काल्पनिक भेद की कल्पना का आश्रय लेकर ही चल पड़ी है और केवल समझाने के लिए ही चल पड़ी है ।

शक्तिसंधान

काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक-आचार के साधना क्रम में वह प्रक्रिया जिसके सफल हो जाने पर योगी अक्षय एवं अखंडित सर्वकर्तृता को प्राप्त करता है । वस्तुतः विश्वोत्तीर्ण तथा विश्वमय दोनों स्वरूप परमशिव के चिद्रूप प्रकाश के ही क्रमशः अंतर्मुख और बहिर्मुख स्वरूप हैं । इस प्रकार परमशिव अपने ही भीतर अपनी ही इच्छा से अपने ही आनंद के लिए समस्त प्रपंच को प्रकट करता रहता है । योगी जब अपने इसी सच्चिद्रूप प्रकाश के साथ पक्के विश्वास से तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है तब वह स्वेच्छा से भिन्न भिन्न प्रकार के शरीरों एवं भावों को बिना किसी उपादान के रचने में समर्थ और स्वतंत्र हो जाता है । (शि. सू. 1-20; शि.सू.वा.य पृ. 22, 23) । इस प्रकार अपनी शुद्ध एवं परिपूर्ण स्वातंत्र्यशक्ति का तादात्म्य भाव से परामर्श करना ही शक्तिसंधान कहलाता है ।

शार्व

माया से लेकर पृथ्वी पर्यंत पूर्ण भेदमयी समस्त अशुद्ध सृष्टि को अभिव्यक्ति देने वाला, इस पूर्ण भेदमयी दशा की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाला तथा प्रलय के पश्चात् अपने इन तीन कृत्यों को अशुद्ध सृष्टि के मूलरूप सहित अपनी विशुद्ध संविद्रूपता में सम्यक् प्रकार से समाहित करने वाला तथा इन सभी विशेषताओं के कारण शरण एवं वरण रूप अर्थात् शरण में जाने के

योग्य एवं देवाधिदेव के रूप में स्वीकार किए जाने के योग्य बना हुआ परमशिव का अपर रूप । (स्व,त.उ. 1, पृ. 36) ।

शांता/शांति कला

तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कला कहते हैं । प्रत्येक कला कई एक तत्त्वों में व्यापक भाव से ठहरती है । शुद्ध विद्या से लेकर शक्ति तत्त्व तक व्यापक भाव से ठहरने वाली कला को शांता या शांति कला कहा जाता है । इस तत्व में माया का तथा शेष पांचों कंचुकों का प्रभाव पूर्णतया शांत हो जाता है । (तं.सा., पृ. 109,110) । शांता कला को शाक्त अंड भी कहते हैं । (तं.सा. पृ: 110) ।

शांत्यातीता कला

कला तत्त्वों के सूक्ष्म रूपों को कहते हैं । एक एक कला एक से अधिक तत्त्वों को व्याप्त करके ठहरती है । शांति या शांता कला से भी परे शिव तत्व में ही ठहरने वाली कला को शांत्यातीता या शांतातीता कला कहा जाता है । उपदेश, भावना, अर्चना आदि में शिवतत्त्व की कलना होने के कारण ही इस तत्त्व में कला की स्थिति को माना गया है । वस्तुत: यहां पर कला अकलित शिवतत्त्वरुपिणी ही होती है । (तं.सा. पृ. 110) ।

शांभव-उपाय

शांभव योग, शांभवी साधना, इच्छायोग, इच्छोपाय, अभेदोपाय । (तं.आ. 1-230) । काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक आचार की वह साधना, जिसमें साधक शरीर, मन, बुद्धि, प्राण या चित्त के द्वारा किसी भी विषय को न तो ग्रहण ही करता है और न ही किसी का त्याग ही करता है; अपितु दीप की निश्चल ज्योति की तरह स्थिरतया चमकता हुआ समस्त विकल्पों से शून्य अपनी शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रकाशरुपता में ही स्थिर रहने का सतत अभ्यास करता रहता है ।(मा.वि.तं. 2-23; तं.सा. पृ. 7) । शांभव-उपाय ही परिपूर्णता को प्राप्त कर लेने पर अनुपाय कहलाता है ।

शांभव-प्रमाता

शांभव प्राणी। शिव तत्त्व में ठहरने वाला अकल प्राणी ही शांभव प्रमाता या शांभव प्राणी कहलाता है। (तं.सा. पृ. 74,75)। पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरे हुए सर्वोत्कृष्ट प्राणी। शांभव प्राणी को अपनी विमर्शरुपता की अपेक्षा अपनी प्रकाशरुपता का ही प्रधानतया चमत्कार होता रहता है। ये प्राणी अपने आपको शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूप ही समझते हैं। इन प्राणियों को परिपूर्ण 'अहं' का ही सतत रूप से आभास होता रहता है तथा 'इदं' अंश 'अहं' में ही पूर्णतया विलीन होकर 'अहं' के ही रूप में चमकता रहता है।

शांभव योग

दे. शांभव उपाय।

शांभव-समावेश

शैवी साधना में त्रिक आचार के शांभव उपाय का अनवरत अभ्यास करते रहने वाले साधक को अपने स्वरूप में प्रवेश करते हुए जिस समावेश का उदय होता है, उसे शांभव समावेश कहते हैं। शांभव उपाय निरालंबन योग होता है। इस साधना में कोई भी आलंबन नहीं लिया जाता है। केवल अपने शुद्ध संवित् रूप में ही ठहरने का पुनः पुनः अभ्यास किया जाता है। ऐसे अभ्यास की परिपक्वता पर साधक अपने शिवभाव से समरस होते हुए जिस स्थिति में प्रवेश करता है उसे शांभव समावेश कहा जाता है। (मा.वि.वा. 2-23)। इस स्थिति में स्थिरता हो जाने पर साधक अनुपाय पदवी पर पहुंच जाता है। (दे. अनुपाय)।

शांभवी मुद्रा

काश्मीर शैव दर्शन की शांभवी नामक सर्वोच्च योग साधना में जिस योग आसन का आश्रय लिया जाता है उसे शांभवी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा में योगी पद्मासन में बैठता है। उसे मेरुदंड, गर्दन और सिर एक सीध में रखने होते हैं। बाएं हाथ की हथेली पर दांए हाथ की हथेली के पृष्ठ भाग को रखकर दोनों को अपनी गोद में रखा जाता है। आखें अधखुली सी रहती हैं। लगता है मानो नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि टिकी हुई हो। वस्तुतः अपने शुद्ध संवित् रूप का अंतः विमर्शन करते समय नेत्र अर्धनिमीलित से हो जाते हैं परंतु दृष्टि किसी विशेष स्थान पर

केंद्रित नहीं की जाती है। इसे सर्वोत्तम योगमुद्रा माना गया है। (अनुभव निवेदन स्तोत्र 1, 2; सि.म.र. 91-93)।

शांभवी साधना

दे. शांभव उपाय।

शाक्

अनुत्तर संवित्। सर्वोत्तीर्ण परतत्त्व। परमशिव। परमेश्वर। परब्रह्म। शिव एवं शक्ति का परिपूर्ण सामरस्यात्मक स्वरूप। समस्त पारमेश्वरी शक्तियों का एक घनस्वरूप। शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण अनुत्तर प्रकाश के प्रति लिंगभेद की भ्रांति को सर्वथा दूर करने के लिए अमृतवाग्भवाचार्य ने अपने सिद्ध महारहस्य नामक ग्रंथ में सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया है। इस ग्रंथ में शाक की महाशिव, महाकामेश्वर, महाकामेश्वरी, महादेव, महादेवी, महेश्वर, महेश्वरी इत्यादि भिन्न भिन्न रूपों में व्याख्या की गई है। (सि.म.र. 20-43)।

शाक्त-अंड

दे. शांता कला।

शाक्त उपाय

शाक्त, योग, ज्ञानयोग, ज्ञानोपाय, भावनोपाय, भेदाभेदोपाय। काश्मीर शैव दर्शन के त्रिक आचार की वह साधना जिसमें साधक सभी अशुद्ध विकल्पों को शुद्ध विकल्पों के अभ्यास से क्रम से शांत कर देता है तथा शुद्ध विकल्पों को सतत अभ्यास से अपने चित्त पर दृढ़तापूर्वक अंकित करता रहता है। साधक केवल चित्त का ही आश्रय लेकर अपनी शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूपता के निश्चय का बार बार अभ्यास करता है। (मा.वि.त., 2-22; तं.सा. पृ. 21)। अपने आपको अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं सीमित जीव समझना ही अशुद्ध विकल्प है तथा अपने आप को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापक शिव समझना ही शुद्ध विकल्प है। शाक्त-उपाय में इसी प्रकार के शुद्ध विकल्पों का बारबार अभ्यास किया जाता है। (तं.सा. पृ. 21)। इस अभ्यास को विकल्प संस्कार का अभ्यास भी कहते हैं।

शाक्त–जप

1. अपने शुद्ध एवं परिपूर्ण अहंभाव का बार बार विमर्शन करना (शि.सू.वा पृ. 68) ।

2. दे. जप (ज्ञानयोग) ।

शाक्त प्रमाता

शाक्त प्राणी । शक्ति तत्त्व में ठहरा हुआ अकल प्राणी ही शाक्त प्रमाता या शाक्त प्राणी कहलाता है.। (तं.सा. पृ. 74,75) । पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरने वाले सर्वोत्कृष्ट प्राणी । इन्हें अपनी प्रकाशरुपता की अपेक्षा विमर्शरुपता का अधिक चमत्कार होता रहता है । ये प्राणी शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूपता को ही अपना आप समझते हैं । इन प्राणियों को परिपूर्ण 'अहं' का ही सतत आभास होता रहता है तथा 'इदं' अंश 'अहं' में पूर्णतया विलीन होकर 'अहं' के रूप में ही चमकता रहता है ।

शाक्त योग

दे. शाक्त–उपाय ।

शाक्त समावेश

शैवी साधना में शाक्त उपाय के सतत अभ्यास से होने वाला अपनी स्वभावभूत शिवता का समावेश । शाक्त उपाय में साधक को शुद्ध विकल्पों के सतत अभ्यास से अशुद्ध विकल्पों को शांत करना होता है जिससे उसका स्वात्म विमर्शन पूर्णतया निर्मल हो जाता है । इस निर्मलीकरण की प्रक्रिया में साधक पुनः पुनः यह अंतः विमर्शन करता है कि वह शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संवित् ही है; समस्त आभासमान जगत उसी का प्रसार है; तथा समस्त प्रपंच उसी की संवित् में संवित् रूप से यहीं विद्यमान है । इस प्रकार के अनवरत अभ्यास से साधक जिस पारमेश्वरी स्थिति में प्रवेश करता है उसे शाक्त समावेश कहते हैं । (मा.वि.व. 2–22) इस समावेश के दृढ़तर अभ्यास से साधक शाम्भव उपाय के योग्य बन जाता है । (दे. शाम्भव उपाय, शाम्भव समावेश) ।

शास्त्रमेलन

संसार में अनेकों मोक्ष शास्त्र चलते आए हैं। शैव दर्शन की दृष्टि में सभी शास्त्र मूलतः भगवान शिव से ही प्रवृत हुए हैं। अतः उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता । इस कारण उनके आपाततः प्रतीयमान पारस्परिक विरोध का परिहार करते हुए शैव संतों ने उन्हें भिन्न भिन्न स्तरों के अधिकारियों के लिए उपयुक्त माना है और यह भी माना है कि प्रत्येक शास्त्र साधक को आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में किसी विशेष स्तर पर पहुंचा देता है और वहां से उसे किसी अन्य शास्त्र का आलंबन लेना होता है । ऐसा करते करते वह अंततोगत्वा अद्वैत शैवदर्शन का आश्रय लेता हुआ ही परिपूर्ण और पारमार्थिक मोक्ष को प्राप्त कर सकता है । शास्त्रों की इस प्रकार की उपयोगिता और पारस्परिक पूरकता के सिद्धांत को शैवदर्शन में शास्त्रमेलन कहते हैं । (तं.आ. आह्निक 35) ।

शिव (अशरीर)

1. परमेश्वर । परमशिव । चित् एवं आनंद का पूर्ण संघट्ट स्वरूप । (शि.दृ. वृ. पृ.23) ।

2. सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यंत सभी तत्त्वों का सामरस्यात्मक स्वरूप । (ई. प्र.वि. 2 पृ. 186) ।

3. शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण पर-प्रकाश । (प.च. 3) ।

पूर्ण स्वतंत्र परमशिव का प्रकाशात्मक स्वरूप । यही प्रकाशात्मकता परमशिव की शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण ज्ञानस्वरूपता है और यही उसकी शिवस्वरूपता है ।

– शास्त्र प्रवक्ता

भेद प्रधान दस शैव आगमों के उपदेशक । (दे. शिव शास्त्र – प्रवक्ता) ।

– (सशरीर)

पुराणों में एवं महाभारत आदि में वर्णित कैलासवासी शिव, जिन्हें उमापतिनाथ नाम से भी जाना जाता है । दे. शिव सशरीर) ।

शिव (शास्त्र प्रवक्ता)

ईशान, तत्पुरुष आदि मंत्रस्वरूप शिवों के कई प्रकारों से मिले जुले दृष्टिकोणों को धारण करके प्रकट हुए शिव के रूप । इन्हीं रूपों में प्रकट होकर शिव ने निचली कोटि के अधिकारियों के हित के लिए भेदमयी दृष्टि को अपनाते हुए भेंद दृष्टि प्रधान दस शैव आगमों का उपदेश दिया । उन दस आगमों को शिव आगम कहते हैं । उनका उपदेश करने वाले शिव के अवतार भी शिव ही कहलाते हैं ।

शिव (सशरीर)

जो साधक मानव शरीर में रहते हुए ही अपने शिवभाव को पहचानकर तदनुसार ही उपदेश, दीक्षा, शास्त्र रचना आदि करते रहे हैं उन्हें सशरीर शिव कहा गया है । अभिनव गुप्त ने भट्ट भूतिराज को सशरीर शिव कहा है । जालंधर पीठ के अधिपति श्रीशंभुनाथ को भी प्राचीन गुरुओं ने इसी प्रकार का शिव कहा है । वसुगुप्त, कल्लट, सोमानंद, उत्पलदेव, अभिनव गुप्त आदि आचार्यों को इसी वर्ग में गिना जाता है ।

शिव कला

शिव तत्त्व, शक्ति तत्त्व तथा इन तत्त्वों में रहने वाले समस्त अकल प्राणियों, भावों तथा भुवनों आदि को पूर्णतया व्याप्त करके ठहरने वाली कला को शिवकला कहते हैं । भुवन के सूक्ष्म रूप को तत्त्व तथा तत्त्व के सूक्ष्म रूप को कला कहते हैं । एक कला कई एक तत्त्वों को व्याप्त करती है । आणवोपाय की त्रितत्त्व धारणा में अभेदात्मक तत्त्वों के वर्ग को व्याप्त करके ठहरने वाली शिवकला को अपना ही शुद्ध स्वरूप समझते हुए उसे भावना द्वारा पूर्णतया व्याप्त करके ठहरना होता है । इस अभ्यास से साधक को शिवभाव का समावेश हो जाता है । (तं.सा. पृ. 111) ।

शिव तत्त्व

1. छत्तीस तत्त्वों की कल्पना में प्रथम तत्त्व । विश्वोत्तीर्ण, शुद्ध प्रकाशात्मक, असीम एवं परिपूर्ण तत्त्व । परमशिव का प्रकाश प्रधान स्वरूप । वह तत्त्व, जिसमें परिपूर्ण शुद्ध 'अहं' ही स्फुटतया चमकता है तथा 'इदं' अंश

'अहं' में ही पूर्णतया विलीन होकर रहता है । इस तत्व को आनंदशक्ति कहा जाता है । कहीं इस तत्त्व को परतत्त्व मान लेने पर इसे चित्शक्ति भी कहा गया है । (तं.सा. पृ.6; प.सा. 14) । इस तत्त्व को समस्त प्रपंच का उद्‌भव स्थान माना गया है । यही समस्त प्रपंच का बीज है । सारा विश्व इसी से प्रकट होकर इसी में विलीन हो जाता है परंतु फिर भी इसकी शुद्‌ध, असीम, एवं परिपूर्ण प्रकाशरुपता में कहीं कोई अंतर नहीं आता है । पूर्ण अभेद की भूमिका पर ठहरनेवाले अकल प्राणी (शांभव प्राणी) इसी तत्व में ठहरने वाले प्राणी होते हैं । (तं.सा.पृ. 74-75) । शिव भट्टारक इस तत्त्व के उपास्य देवाधिदेव हैं ।

2. शिव और शक्ति के वर्ग को भी शिवतत्त्व कहा जाता है । (मा.वि.तं. 2-47) । (दे. शिवकला) ।

शिव भट्टारक

शिव तत्त्व के अधिष्ठाता देवाधिदेव । दे. शिव तत्व ।

शिवमुख

दे. शैवीमुख ।

शुद्‌ध अध्वन्

दे. अध्वन् ।

शुद्‌ध तत्त्व

माया से ऊपर वाले तत्त्व शुद्‌ध तत्त्व कहलाते हैं । वे तत्त्व ये हैं - शुद्‌धविद्‌या (महामाया समेत) तत्व, ईश्वर तत्त्व, सदाशिव तत्व, शक्तितत्त्व और शिव तत्त्व । माया को मल माना गया है । अतः मायीय तत्व अशुद्‌ध तत्त्व होते हैं । इनसे विपरीत शुद्‌ध विद्‌या भूमिका के और शक्ति-भूमिका के पांच तत्त्व शुद्‌ध तत्त्व कहलाते हैं । स्थान कल्पना योग में इन्हें शुद्‌ध अध्वन् नाम दिया गया है ।

शुद्‌ध विकल्प

दे. विकल्प ।

शुद्ध विद्या तत्त्व

छत्तीस तत्त्वों के क्रम में पांचवे तत्त्व को तथा भेदाभेद भूमिका के तीसरे तत्त्व को शुद्ध बिद्या तत्त्व कहते हैं। इसे सदाशिव भट्टारक तथा ईश्वर भट्टारक का करणस्थनीय तत्व भी कहते हैं । इन दो तत्त्वेश्वरों की तथा उन तत्त्वों में रहने वाले प्राणियों की भेदाभेदमयी दृष्टि को भी शुद्ध विद्या तत्त्व कहते हैं । मंत्रमहेश्वर तथा मंत्रेश्वर इस तत्त्व के अधिकारी प्राणी हैं । (ई.प्र. वि. 2, पृ. 196, 7) ।

शुद्ध संवित्

दे.संवित् ।

शुद्ध सृष्टि

दे0 अध्वन् (शुद्ध) ।

शुद्धाशुद्ध प्राणी

भेदाभेदमय दृष्टिकोण वाले मंत्रमहेश्वर तथा मंत्रेश्वर नामक दोनों प्रकार के प्रमाता निर्मल होने पर भी सूक्ष्मतर प्रमेयता के आभास से युक्त होने के कारण शुद्धाशुद्ध प्राणी कहे जाते हैं । इन दोनों प्रकार के प्रमाताओं में आणव, मायीय तथा कार्म नामक तीनों मलों में से किसी एक का भी प्रभाव नहीं होता है । इसलिए इन्हें शुद्ध कहा जाता है । परंतु ऐसा होने पर भी इनमें प्रमेय अंश की क्रमशः अस्फुट तथा स्फुट अभिव्यक्ति मानी गई है । इसलिए इन्हें सर्वथा तथा पूर्णतया शुद्ध भी नहीं कहा जा सकता है । इसी कारण इन दोनों प्रकार के प्राणियों को शुद्धाशुद्ध माना जाता है । (ई.न.वि., 1पृ. 13,14) दे. मंत्रमहेश्वर, मंत्रेश्वर ।

शून्य

1. चिदानंदधन शिव-तत्त्व । महाशून्य । शिवशून्य । संपूर्ण बाह्य प्रपंच के शांत होने पर शेष रहने वाली शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित् । अभाव तथा भाव दोनों के मध्य में स्थित अर्थात् दोनों का सामरस्यात्मक पर-प्रकाश । (तं. आ. 6-10; स्व.तं. 4-292, 293) । दे. महाशून्य ।

2. पुरुष तत्त्व। प्रमेय के आभास से रहित केवल मात्र संकुचित संवित् को ही शैवदर्शन में शून्य कहते हैं । माया तथा उसके विकासरूपी कला विद्या आदि पांच आवरक तत्त्वों से आवेष्ठित हुआ केवल संवित्स्वरूप प्रमाता अपने आपको सर्वथा शुद्ध एवं परिपूर्ण संवित्स्वरूप न समझता हुआ केवल संकुचित 'अहम्' ही समझने लगता है । देह एवं बुद्धि से उत्तीर्ण इसी संकुचित 'अहम्' को शून्य कहते हैं । (तं.आ. 6-9,10, ई.प्र.वि. 2, पृ. 207) ।

शून्य प्रमाता

अपने आपको शुद्ध परिपूर्ण तथा पारमैश्वर्यरुपिणी शक्ति से संपन्न संवित्तत्त्व न समझता हुआ और केवल माया द्वारा संकुचित बनी हुई संवित् को ही अपना आप समझने वाला प्राणी शून्य प्रमाता कहलाता है । इसे केवल अपने आप का ही आभास और विमर्शन होता है । यह प्रमाण और प्रमेय के आभासों से रहित एकमात्र संकुचित संवित् ही के रूप में चमकता है,अतः इसे शून्य प्रमाता कहते हैं । यही जीव है । इसी को पुरुष तत्त्व कहते हैं । यह प्रमाता सुषुप्ति में काम करता है । अपवेद्य सुषुप्ति में ठहरे हुए प्रलयाकल प्राणी शून्य प्रमाता ही होते हैं । (ई.प्र. 3-1-9) ।

शून्य प्रलयाकल

प्रलयाकल दो प्रकार के होते हैं । सवेद्य सुषुप्ति में ठहरे हुए प्रलयाकलों को धीमा सा सुख आदि का आभास होता रहता है । परंतु अपवेद्य सुषुप्ति में विलीन हुए प्रलयाकलों को केवल अपने संकुचित संवित्स्वरूप का ही आभास होता रहता है । ये प्रमाण और प्रमेय के आभासों से सर्वथा शून्य होने के कारण शून्य प्रलयाकल कहे जाते हैं । दे. प्रलयाकल ।

शून्य सुषुप्ति

अपवेद्य सुषुप्ति । दे. सुषुप्ति (अपवेद्य) ।

शैव आगम

दे. शैव शास्त्र ।

शैव आचार

दक्षिण देश के शिव आगमों और रुद्र आगमों के द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत शैव के चर्या, क्रिया, ज्ञान और योग स्वरूपी चतुर्विध आचार को शैव आचार कहते हैं । यह आचार भक्ति रस से खूब सना हुआ होता है । उससे इस आचार की उपासना से त्वरित सिद्धि होती है । इसी कारण काश्मीर शैव दर्शन में इस आचार को वेदाचार से उत्कृष्ट माना गया है । परंतु वाम, दक्षिण आदि आचारों में इससे भी अधिक त्वरित गति से सिद्धि होती है । इस कारण इसका स्थान उनसे नीचे ही माना गया है । यह आचार सालोक्य आदि मुक्ति तक ही पहुंचा सकता है जबकि कौल, मत, त्रिक तथा गम के आचार परिपूर्ण परादृवैत पद पर पहुंचा सकते हैं ।

शैव दर्शन

शिव द्वारा प्रोक्त आगमशास्त्रों के आधार पर विकास को प्राप्त हुए दर्शन शैव दर्शन कहलाते हैं । यद्यपि इन दर्शनों और वैदिक दर्शनों में अनेकों विषयों पर एक वाक्यता विद्यमान है और यद्यपि ये दर्शन भी कहीं कहीं वेदमंत्रों और उपनिषद् वाक्यों को प्रमाणतया प्रस्तुत करते हैं फिर भी इनका मूल आधार शैव आगम और पाशुपतसूत्र तथा शिवोपासना की प्राचीनतर परंपराएं ही हैं । इन दर्शनों की कई एक शाखाएं हैं । अति प्राचीन शाखा पाशुपत शैव है, तमिलदेश में शैव सिद्धांत नामक शाखा प्रचलित है । कर्णाटक में वीर शैव शाखा का प्रचार है । श्रीकंठ शिवाचार्य ने शैव विशिष्टाद्वैत का प्रवर्तन किया जिसे शिवाद्वैत कहते हैं । कश्मीर के शैवदर्शन का भी प्राचीन नाम शिवाद्वय दर्शन है । इसे त्र्यंबक दर्शन भी कहा जाता था । माधवाचार्य ने इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' नाम दिया । आजकल इसे काश्मीर शैव दर्शन कहते हैं । उत्तर में एक और शैवदर्शन की परंपरा को गोरखनाथ ने चलाया । उसके अनुयायी उत्तरी भारत, गुजरात, महाराष्ट्र, नेपाल और पाकिस्तान में भी विद्यमान हैं, हिंदू भी हैं, बौद्ध भी हैं और मुसलमान भी ।

शैव योग

शैव आगमों के आधार पर प्रचलित योग शैव योग कहलाता है । यह योग पातंजल योग से तथा हठयोग से सर्वथा भिन्न है । यह अतीव सरल,सुकर तथा सद्यः फलप्रद राजयोग है । इस योग के द्वारा अपनी मूल स्वभावभूत परमेश्वरता को पहचानते हुए इसी जन्म में बंधनमुक्त होने की प्रक्रियाओं का अभ्यास किया

जाता है । इस योग में ज्ञान और भक्ति दोनों का पर्याप्त आश्रय लेकर तांत्रिक साधनाओं का अभ्यास किया जाता है । कुंडलिनी योग, लय योग, नाद योग आदि इसके निचले दर्जे के प्रकार हैं और उत्कृष्टतर प्रकार क्रम से आणव योग, शाक्त योग और शांभव योग हैं ।

शैव शास्त्र

पर शिव द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में अवतरित होकर अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा द्वैत प्रधान दृष्टिकोणों को लेकर प्रतिपादित किए गए आगम ।

– *(अद्वैत)*

भैरवों द्वारा उपदिष्ट अद्वैत प्रधान चौंसठ अभेदनि आगम । (मा.वि.वा. 1–390 से 92) ।

– *(द्वैत)*

मुक्त शिवों द्वारा प्रतिपादित दस 'कायिक' आदि भेद प्रधान आगम ।

– *(द्वैताद्वैत)*

रुद्रों द्वारा प्रतिपादित 'अजित' आदि अठारह भेदाभेद प्रधान आगम (वही)

इनमें से अद्वैत शैवशास्त्र कश्मीर में विशेषरूप से चलते रहे और शेष दो वर्ग दक्षिण देश में ।

शैवी मुख

पराशक्ति । परमशिव की विमर्शरुपता । परमशिव प्रकाश और विमर्श का परिपूर्ण सामरस्यात्मक परतत्त्व है । उसकी प्रकाशरुपता उसकी शिवता है तथा विमर्शरुपता शक्तिता है । शिवता उसकी अंतर्मुखता तथा शक्तिता बहिर्मुखता है । समस्त बाह्य प्रपंच उसकी शक्तिता का ही प्रसार है । शुद्ध प्रकाश रूप में स्थित सारा अंतः विश्व उसकी शक्तिता के माध्यम से ही बाह्य रूप में प्रकट हो जाता है तथा उसके पुनः अपने पूर्व रूप में आने के लिए भी यही शक्तिता माध्यम

बनती है । इसी प्रकार शिव रूप से जीव रूप में आने के लिए तथा जीव रूप से पुनः शिव रूप में आने के लिए भी यही शक्ति माध्यम बनती है । इन्हीं कारणों से परम शिव की विमर्शरुपता या शक्तिता को शैवीमुख कहा जाता है । (वि.भै. 20) । मुख से यहां द्वार अभिप्रेत है । किसी व्यक्ति को पहचानना हो तो उसकी मुख की आकृति से ही पहचाना जाता है । इसी तरह से साधक अपने भीतर जब सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता आदि शक्तियों को अनुभव में लाता है तभी वह अपने आपको शिवरूपतया पहचान लेता है, इस कारण से भी शिव की शक्ति को उसका मुख कहा जाता है ।

शैवी साधना

शांभव, शाक्त, आणव आदि प्रकारों के शैव योग को, शैव आगमों में बताई हुई शैवी दीक्षाओं को तथा उनके साथ संबद्ध समस्त क्रियाकलापों को और उनके सहायक मंत्र, मंडल, मुद्रा आदि को शैवी साधना कहते हैं । शैवी साधना के इन सारे अंगों के उपयोग, अभ्यास और शैवआगमों में प्रतिपादित तांत्रिक प्रक्रियाओं द्वारा किये जाते हैं । पंचमकारमयी कुलमार्ग और कौलमार्ग की साधना भी शैवी साधना का एक विशेष अंग है । निम्न स्तर की शैवी साधना लिंग पूजा, मूर्ति पूजा, जप, याग, होम इत्यादि के रूपों में प्रचलित है । शैवी साधना में योग अभ्यास और क्रियाकलापों को भक्ति का और शिवभाव की भावना का सहारा लिया जाता है । उससे तीव्र गति से सिद्धि प्राप्त होती है । इस साधना के दो प्रधान फल हैं - ऐश्वर्य भोग और पारमार्थिक मोक्ष ।

श्रीकंठनाथ

प्रकृति तत्त्व में प्रकट हुए ईश्वर भट्टारक के एक अवतार । कैलासवासी शिव (उमापतिनाथ) के तथा महामुनीश्वर दुर्वासा के गुरु । अद्वैत शैवदर्शन का इस युग में पुनः प्रवर्तन करने के लिए श्रीकंठनाथ ने ही महामुनीश्वर दुर्वासा को प्रेरणा दी । (शि. दृ. 7-109) । काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार श्रीकंठनाथ ही प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने वाले तथा इसमें से आगे के तेईस तत्त्वों को प्रकट करने वाले हैं । (तं.सा. पृ. 85) । अवांतर प्रलय के समय ये ही उन तेईस तत्त्वों को पुनः मूल प्रकृति में विलीन करते हैं । द्वैत शैव और द्वैताद्वैत शैवदर्शनों की परंपराओं को भी पुनः चलाने के लिए श्रीकंठनाथ ने ही अमर्दक और श्रीनाथ

नामक सिद्धों को इस भूतल पर अवतार रूप में उतरने के लिए आदेश दिया । इन्हीं के आदेश से त्र्यंबकादित्य ने पृथ्वी पर उतर कर महामुनि दुर्वासा से अद्वैत शैवदर्शन के सिद्धांतों और साधनाओं को ग्रहण किया । उमापतिनाथ नामक प्रसिद्ध शिव इन्हीं का एक और शरीर है ।

श्रीनाथ

द्वैताद्वैत शैवदर्शन के प्रवर्तक । श्रीकंठनाथ की आज्ञा से इस दर्शन के प्रचार प्रसार के लिए अवतरित सिद्ध पुरुष – तं.आ. 36–13 ।

श्रीनाथ मठिका

वर्तमान काल में इस भेदाभेद प्रधान मठिका के न तो किसी गुरु–शिष्य परंपरा का ही पता चलता है और न किसी ग्रंथ का कोई उल्लेख ही कहीं मिलता है । परंतु ग्यारहवीं शताब्दी तक इस मठिका का प्रचलन अवश्य ही रहा, क्योंकि अभिनवगुप्त ने इसका उल्लेख किया है । (तं.ट. 36–13) । उसने इस मठिका के तात्कालिक गुरु वामनाथ के प्रति आभार प्रकट किया है ।

षट्त्रिंश तत्त्व

दे. तत्त्व ।

षडध्व धारणा

आणवोपाय में कालाध्वा के वर्ण, मंत्र तथा पद और देशाध्वा के कला, तत्त्व और भुवन, इन छः को आलंबन बनाकर की जाने वाली धारणा को षडध्व धारणा कहते हैं। ये सभी आलंबन पूर्णतया बाह्य पदार्थ होते हैं । आणवोपाय के इस बाह्य मार्ग में काम आने वाले आलंबनों को तथा उनसे संबंधित सभी अनात्म आभासों को संवित् में समाहित करने के सतत अभ्यास से आणव समावेश हो जाता है । (तं.सा. पृ. 47, 63) । दे. काल–अध्वन्, देश–अध्वन् । षडध्व धारणा से देशकृत और कालकृत संकोच पूर्णतया मिट जाते हैं ।

षडर्धशास्त्र

त्रिकशास्त्र । दे. आगम (त्रिक) । छः शास्त्रों का आधा भाग । श्री स्वच्छंदनाथ के ईशान मुख से भी जो उत्कृष्टतर उसका अदृश्यमुख माना गया है वह मुख उसके पांचों मुखों का समष्टि रूप है । उसके उसी मुख से ऊर्ध्व से भी ऊर्ध्व आम्नायों का (शास्त्रों का) उद्‌गम हुआ । वे शास्त्र सौर, मर्गशिखा आदि छः आगम हैं । उन छः में से भी विशेष उत्कृष्ट तीन आगम हैं । वे हैं – सिद्‌धातंत्र, नामकतंत्र और मालिनी तंत्र । इन्हीं तीन आगमों को षडर्धशास्त्र या त्रिकशास्त्र कहा जाता है । (मा.वि.वा. – 1–161–165) ।

षष्ठबीज

मातृका क्रम में ऋ ॠ ऌ ॡ इन चार वर्णों को षष्ठ वर्ण या षष्ठबीज कहते हैं । बीज स्वरों को कहते हैं । स्वर होते हुए ये भी बीज हैं । परंतु जैसे अ, आ से कवर्ग की, इ, ई से चवर्ग की सृष्टि होती है वैसे इन बीजों से किन्हीं भी व्यंजन वर्णों की सृष्टि नहीं होती है । अतः इन बीजों को नपुंसक तुल्य होने के कारण षष्ठ बीज कहा जाता है । वस्तुतः ये वर्ण इ ई वर्णों के ही रूपांतर हैं । इच्छा और ईशना में जब एष्टव्य तत्त्व और ईषणीय तत्त्व का प्रवेश हो जाता है तो इन वर्णों की अभिव्यक्ति हो जाती है । वे तत्त्व कंप्रतामय रूप में समाविष्ट हों तो रश्रुति प्रधांन ऋ और ॠ की अभिव्यक्ति होती है और स्थिरतामय रूप में समाविष्ट हों तो लश्रुति प्रधान ऌ और ॡ की अभिव्यक्ति होती है । (तं.आ. 2 पृ. 178, तं.सा. पृ. 14) । इन्हें अमृत बीज भी कहा गया है ।

संगमादित्य

पंद्रहवीं पीढ़ी के त्र्यंबकादित्य के पुत्र। मानसपुत्र न होकर स्त्रीपुरुष संगम से उत्पन्न होने के कारण इन्हें संगमादित्य ऐसा नाम दिया गया था । सोमानंद के पांचवीं पीढ़ी के पूर्वज । संगमादित्य के पुत्र वर्षादित्य, वर्षादित्य के पुत्र अरूणादित्य, अरूणादित्य के पुत्र आनंद तथा आनंद के पुत्र सोमानंद हुए । (शि. दृ. 7/114–120) । संगमादित्य के कश्मीर में आने के अनंतर ही इस प्रदेश में अद्‌वैत शैव दर्शन की पर्याप्त प्रगति होने लगी । इस प्रकार संगमादित्य को ही कश्मीर में त्र्यंबकमठिका की स्थापना एवं अद्‌वैत शैवदर्शन के सर्वप्रथम प्रचार का श्रेय जाता है । बाद में सोमानंद आदि आचार्यों ने इस दर्शन को पूर्ण विकास में लाया । (दे. 'त्र्यंबकादित्य' एवं त्र्यंबकमठिका) ।

संबंध (गुरु शिष्य)

शास्त्रों के तत्त्वज्ञान की परंपरा शिव से लेकर मानवों तक चलती आ रही है । इसके प्रवाह की छः सीढ़ियां मानी गई हैं । प्रकाश रूप शिव के तत्व का विमर्शन विमर्श रूपिणी शक्ति किया करती है । यह कोई भेद प्रधानगुरु शिष्य संबंध तो नहीं, परंतु फिर भी कहने मात्र के लिए इसे पर संबंध कहा गया है । यह पर नामक संबंध शेष पांच स्तरों के संबंध में ओतप्रोत भाव में रहता है । पांचों के रूप में वस्तुतः यही चमकता रहता है । चार संबंध प्रायः देवगणों में या देवतुल्य शिवयोगियों में स्फुरित होते हैं और पांचवा संबंध लौकिक प्राणियों में । वे पांच स्तरों के गुरु शिष्य संबंध इस प्रकार हैं – महानसंबंध, अवांतर या अंतराल संबंध, दिव्य संबंध, दिव्यादिव्य संबंध तथा इतरेतर संबंध । (यथास्थान दे.) । (प.त्री.वि., टि.0 पृ. 12) ।

संरम्भ

स्पंद, स्पंदमानता । (भा. 1 पृ. 73,74) । उद्यन्तृता । (भा. 1, पृ. 251) । स्वात्मोच्छलत्ता अर्थात् अपने में ही अपने ही स्वभावभूत आनंदस्वरूप का उच्छलन । इसी उच्छलत्तात्मक स्वभाव को पर दशावाली क्रिया कहते हैं । परमशिव शक्तिपंचक का पूर्ण सामरस्यात्मक स्वरूप है । इस शक्तिपंचक में चित् और निर्वृति अर्थात् आनंद ही प्रधान हैं जिन्हें क्रमशः प्रकाश और विमर्श भी कहा जाता है । विमर्शरुपता ही परमशिव की आनंदस्वरूपता है । अपने इसी स्वभाव के कारण जब वह आनंदातिरेक से विभोर हो जाता है तो अपने बाह्य रूप में प्रकट होने की लिए उद्यत हो उठता है । अपनी अंतः शक्तियों को बाहर छलकाने लगता है। उसकी इसी स्वात्मोच्छलत्ता को संरम्भ कहते हैं । (शि.दृ. पृ.7) ।

संवाह्य

1. करणवर्ण, करण चक्र,करणों तथा इंद्रियों का समूह । इस समूह को इसलिए संवाह्य कहा जाता है क्योंकि ये जीव के अभिलषित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसकी शक्ति को विषय तक वहन करने में सहायक होते हैं । इन्हीं की सहायता से जीव अभिमत कार्यों में प्रवृत्त होता है । (शि.सू.वा. पृ. 82) ।

2. जीव, कर्मात्मा, पशु । भट्ट भास्कर ने शि. सू. वा.में काकाक्षि गोलक न्याय की सहायता से संवाह्य शब्द का प्रयोग बद्ध जीव के लिए भी किया है । भास्कर के अनुसार अपने वास्तविक स्वरूप का परामर्श न करने के कारण जीव बाह्य विषयों में ही रमण करता रहता है । इस कारण उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी

बनी रहती है । परिणामस्वरूप वह संसृति के चक्कर में फंसा रहता है । इस प्रकार बाह्य विषयों में रमण करते रहने के कारण तथा भिन्न भिन्न योनियों में संसरण करते रहने के कारण जीव के लिए संवाह्य शब्द का प्रयोग किया गया है । (वही)

संवित्

1. शुद्ध चैतन्य । परप्रमातृ तत्त्व । समस्त भावजगत संवित् में ही संवित् के ही रूप में रहता है । जो कुछ भी जिस भी रूप में आभासित होता है वह सभी कुछ संवित् के ही कारण वैसा आभासित होता है क्योंकि संवित् जो कि शुद्ध एवं परिपूर्ण प्रकाश है उसके बिना और कुछ भी नहीं है और भासमान सारा प्रपंच उसी का बाह्य आकार है । (तं.सा. पृ. 5, 6 ई.प्र.वि. 2 पृ. 140, 141) ।

2. प्रकाश एवं विमर्श का परम सामरस्यात्मक अनुत्तर तत्त्व । दे. परासंविता अनुत्तर संवित् ।

3. शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण प्रकाश । पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यंत सभी तत्त्वों का एकघन स्वरूप । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 131) ।

4. चैतन्य । अपने आपको अहंरुपतया और समस्त विषयों को इदंरुपतया तथा नीलपीतादिरुपतया प्रकाशित कर सकने वाली चेतना ।

संवेदन

इंद्रियों के साथ विषय के संपर्क से नील, पीत, घट आदि बाह्य विषयों का, मन से सुख दु:ख आदि का तथा केवल संवित् ही के बल से अपने आपका जो अनुभव प्राणी को होता है उसे संवेदन कहते हैं। अन्य दर्शनों में इसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं । परंतु प्रत्यक्ष केवल इंद्रियजन्य ज्ञान ही होता है जबकि संवेदन सुषुप्ति दशा में भी होता है जहां इंद्रियों का सहयोग संभव ही नहीं है । अतः संवेदन का क्षेत्र प्रत्यक्ष से कुछ अधिक विशाल है । दे० स्वसंवेदन ।

संहार कृत्य

विश्व को अपने में विलीन कर लेने की पारमेश्वरी लीला । परमेश्वर की अपने विश्वोतीर्ण रूप में अपने विश्वमय रूप को एकरस कर देने की लीला । प्रमेय जगत् को उसके संवित् स्वरूप मूलरूप में समा लेने की लीला । अपने संवित् स्वरूप में अपने ही स्वातंत्र्य से अपने आनंद के लिए प्रतिबिंबतया अवभासित हो रहे संपूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूल सृष्ट प्रपंच को पुनः अपने अपने

कारणभूत तत्त्वों में विलीन करते हुए अंततोगत्वा सभी तत्त्वों को एकरूप बनाकर अपने शुद्ध संवित् स्वरूप में एकरस कर देने की परमेश्वर की इस लीला को संहार कृत्य कहते हैं ।

सकल

पूर्ण भेद की भूमिका के प्राणी । इन प्राणियों में आणव, मायीय तथा कार्म नामक तीनों मल स्फुट रूप से पूर्ण विकास को प्राप्त करके रहते हैं । परिणामस्वरूप ये प्राणी संसृति के चक्कर में बंध जाते हैं । ये समस्त प्रपंच को भेद दृष्टि से देखते हैं । कर्मवासना से घिरे रहने के कारण ये जन्म-मरण के भंवरों में फंसे रहते हैं । देवताओं से लेकर सामान्य जंतुओं तक का सारा प्राण/वर्ग सकल कोटि में ही गिना जाता है । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 227-229; स्व.तं.प. 7-237) ।

सत्कार्यवाद

काश्मीर शैवदर्शन का वह सिद्धांत, जिसके अनुसार जो कुछ भी है, वह परमशिव ही है,सत्य है और अनुत्तर संवित् है; कोई भी वस्तु, भाव या अवस्था सर्वथा असत्य नहीं है; समस्त विश्व परमशिव में अनुत्तर संवित् के रूप में ही विद्यमान रहता है तथा उसी के स्वातंत्र्य के विलास से उसी में ही व्यावहारिक जगत् के रूप में प्रतिबिंब के न्याय से प्रकट होता है । इस प्रकार जो कुछ भी जिस भी रूप में है वह है और सत्य है ।

सत्तर्क

1. शुद्ध विकल्प । अपने आपको समुचित युक्तियों के आधार पर शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण संविद्रूप ही समझना सत्तर्क है ।

2. परमशिव, प्रकाश एवं विमर्श का परिपूर्ण सामरस्य है, समस्त प्रपंच उसी के संविद्रूप में संवित् के ही रूप में स्थित है, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय इन दोनों रूपों में वही चमक रहा है, उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है - इस प्रकार का शुद्ध विकल्प ही सत्तर्क कहलाता है ।

3. निश्चयपूर्वक यह विचार करना कि मैं वस्तुतः प्रकाश और विमर्श का परिपूर्ण सामरस्य हूँ, समस्त सूक्ष्म एवं स्थूल प्रपंच मेरा ही विस्तार है तथा मूलभूत रूप से यह सारा प्रपंच मेरी ही शुद्ध संवित् में संवित् ही के रूप में स्थित है, विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय इन दोनों रूपों में मैं ही स्थित हूँ, आदि भी सत्तर्क कहलाता है । –तं.सा. पृ. 21–23) ।

सत्त्वगुण

परमेश्वर की ज्ञानशक्ति जब माया तत्त्व तथा इससे विकसित कला आदि पांच कंचुकों से अत्यधिक संकोच को प्राप्त करके जीव में प्रकट हो जाती है तो उस अवस्था में वह जीव का सत्त्वगुण कहलताी है । इस प्रकार संकोच की अवस्था में पड़े हुए प्रमाता को जो प्रकाशात्मक सुख अपने स्वरूप की सत्ता के आनंद के आभास से प्राप्त होता है वह उसका सत्त्वगुण कहलाता है । (ई.प्र.वि. 4–1–4,6) । इस गुण के शेष स्वभाव सांख्य दर्शन के अनुसार ही माने गए हैं, परंतु इसके बीज को परमशिव में, इसके विकास को मूलतः पुरुष तत्त्व में और इसके प्रसार को प्रकृति तत्त्व में माना गया है ।

सदाशिव तत्त्व

अभेद के भीतर भेद के धीमे से अवभास वाली भेदाभेद दशा । वह दशा जिसमें परिपूर्ण एवं शुद्ध प्रकाश विमर्शात्मक 'अहं' के स्वरूप के भीतर ही प्रमेयता अर्थात् 'इदंता' के अंश का धीमा सा संवदेन होता है और फिर भी 'अहम्' का अंश ही प्रधानतया चमकता रहता है । इस दशा में प्रमाता के भीतर उसकी शुद्ध संवित् 'अहम् इदम्' अर्थात् 'मैं यह हूँ', इस रूप में चमकने लगती है । विश्व की इसी दशा को सदाशिवतत्त्व कहा जाता है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 191) । इस तत्त्व में परमेश्वर की ज्ञानशक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति मानी गई है । (शि.दृ.वृ. पृ. 37) । अहम् अंश प्रधान भेदाभेद दृष्टिकोण वाले मंत्रमहेश्वर प्राणी इसी तत्त्व में ठहरते हैं । इस तत्त्व के अधिपति सदाशिव भट्टारक हैं । (ई.प्र.वि., 2 पृ. 192,193) ।

सदाशिव दशा

दे. सदाशिव तत्त्व ।

सदाशिव भट्टारक

सदाशिव तत्त्व पर शासन करने वाले तत्त्वेश्वर । प्रमातृ अंश में ही 'इदंता' का धीमा सा आभास होने पर भी 'अहम् इदम्' अर्थात् 'मैं यह हूँ' इस प्रकार की भेदाभेद की ही दृष्टि से देखने वाले मंत्रमहेश्वर प्राणियों के उपास्य देव । (तं.सा. पृ. 74, 75, 94) । अपने में सतत रूप से शुद्ध 'अहम्' अंश की प्रधानता के कारण सदाशिव भट्टकार 'इदंता' से स्फुट हुए भेद को अपने में ही शांत करते हुए सदैव अपने अभेद के आनंद से आप्लावित रहते हैं । इस प्रकार सृष्टि के विशेष कार्यो को 'इदंता' अंश प्रधान ईश्वर भट्टारक ही स्फुटतया करते हैं ।

सद्योजात

स्वच्छंदनाथ (दे.) के पांच मंत्रात्मक रूपों में से तीसरा रूप । इस रूप में आकर शिव विशेष प्रकार के शैव शास्त्रों का उपदेश करता है । प्रक्रिया मार्ग की दृष्टि से साधना के क्रम में सदाशिव तत्त्व को इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति मान लेने पर सद्योजात को सदाशिव तत्त्व तथा ज्ञानशक्ति का स्फुट रूप माना गया है । (तं.आ.वि. 1-18) । स्वच्छंदनाथ के पांचमुखों में से पश्चिमाभिमुख चेहरे का नाम भी सद्योजात है । सद्योजात मुख का वर्ण शुक्ल माना गया है । इसकी अवस्था शून्य संवेदनात्मक होती है । यहां समस्त प्रपंच अज्ञात अवस्था में ही पड़ा रहता है । यह रौद्री दशा प्रधान अवस्था है । (मा.वि.वा., 1-249 से 251, 255, 259, 266, 267) ।

सद्योनिर्वाण दीक्षा

दे. प्राणोत्क्रमणदीक्षा ।

सद्विद्या

दे. विद्या (शुद्ध) ।

सप्त तत्त्व धारणा

तत्त्व भेदन नामक योग की एक धारणा । छः तत्त्वों को साधना का आलंबन बनाते हुए उन्हें अपने शुद्ध संवित् स्वरूप सातवें तत्त्व में विलीन करने में

सहायक बनने वाली आणवोपाय की तत्त्वाध्वा नामक धारणा । इस धारणा में अकल, मंत्रमहेश्वर तथा मंत्रेश्वर नामक तीन प्रमातृ तत्त्वों को उनकी तीन शक्तियों सहित साधना का आलंबन बने हुए मंत्र प्रमाता के स्वरूप में ही एकरुपता से देखते हुए इस समस्त प्रपंच को अपनी शुद्ध संवित्स्वरूपता का ही विस्तार समझना होता है और क्रम से उन्हें अपने इस शुद्ध स्वरूप में विलीन करना होता है । इस अभ्यास की परिपक्वता पर साधक को अपनी शिवस्वरुपता का समावेश हो जाता है । इस धारणा को सप्तमी विद्या भी कहते हैं(तं.आ 10-111 से 113 125 126)।

समना (स्)

स्वच्छंद तंत्र के उद्योत के अनुसार वह सूक्ष्म अवस्था, जहां मन का मनन धर्म किसी न किसी अंश में विद्यमान ही रहता है । इसी कारण समना को अति शुद्ध प्रकार की अनुभव दशा भी कहा गया है । (स्व.तं.उ. खं. 2 पृ. 166, 169) । तंत्रालोकविवेक के अनुसार अनाश्रित शिव (दे.) भी जहां विलीन हो जाता है उसे समना अवस्था या सामनस्य पद/सामानसू पद कहा गया है । इस पद या अवस्था तक अकल्पकाल की गणना की जा सकती है(तं.आ.वि.खं. 5, पृ. 257 60

समयदीक्षा (समयाचार , समयी)

क्रिया प्रधान आचारमयी दीक्षा । इस दीक्षा में मंत्रोपदेश, वेषभूषा, दिनचर्या आदि बाह्य नियमों के पालन की प्रधानता होती है । इसके द्वारा साधक में उत्कृष्टतर दीक्षाओं को प्राप्त करने की योग्यता आ जाती है । समय दीक्षा के नियमों का पालन करने वाले साधक को समयी कहा गया है । उसके द्वारा पालन किए जाने वाले अनुशासन को ही त्रिक प्रक्रिया में समयाचार कहा गया है ।

समाधि

1. स्वतंत्रतापूर्वक बिना किसी अन्य वस्तु या स्थिति के प्रभाव से अपनी ही इच्छाशक्ति के बल से जागते हुए ही सुषुप्ति की अवस्था में प्रवेश करके उसी में कुछ समय के लिए ठहरना समाधि कहलाती है । इस तरह से समाधि सुषुप्ति का एक उत्कृष्टतर प्रकार है । इसके निकृष्ट प्रकार निद्रा, मद, मूर्च्छा आदि होते हैं।

2. शैवयोग के समावेशरूपी उत्कृष्ट अंग को भी कभी कभी समाधि कहा जाता है और समावेशयुक्त योगी को समाहित चित्त कहा जाता है ।

समान

प्राण की पांच वृत्तियों में से वह वृत्ति जो सुषुप्ति में काम करती है । समान वृत्ति में विषयत्यागमयी प्राणवृत्ति और विषयग्रहणमयी आपान वृत्ति दोनों एकरुपतया समरस हो जाती है । समान वह प्राणना व्यापार है जिसमें प्रश्वास निःश्वास रुपी प्राण और अपान दोनों विलीन होकर नाभि मण्डल के आसपास मण्डलाकार गति से

विचरण करते हुए योगियों के अनुभव का विषय बनते हैं । उच्चार योग में समान प्राण और विश्रांति से ब्रह्मानंद नामक आनंदभूमिका की अभिव्यक्ति हो जाती है । इसी प्राण के द्वारा शरीर के अंगप्रत्यंग में रस, रुधिर आदि धातुओं का समीकरण संपन्न होता है । जठराग्नि का प्रज्वलन भी समान के ही द्वारा होता रहता है । (ई. प्र.वि., खं 2, पृ. 245) ।

समावेश

काश्मीर शैव दर्शन के साधना क्रम में पर तत्त्व के साथ एकीभाव हो जाने की अवस्था को समावेश कहते हैं । इस अवस्था में साधक अपनी जीवरुपता को भुलाकर अपनी शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण संवित्स्वरूपता में प्रवेश करता है । (ई.प्र. 3-2-12) । त्रिक आचार में भिन्न भिन्न साधनाओं में समावेश की ही प्रधानता रहती है, तथा समावेश की अवस्था में समाविष्ट होना ही उनका लक्ष्य भी होता है । समावेश की अवस्था में स्थिति प्राप्त कर लेने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है तथा इसके पुनः पुनः अभ्यास से इसी जन्म में उसे अपनी परमेश्वरता का भी अनुभव हो जाता है । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 232) ।

– *(आणव)*

आणव उपाय के अभ्यास से होने वाला शिवभाव का समावेश (दे.आणव समावेश) ।

– *(तुर्य)*

समावेश की वह अवस्था जिसमें देहादि के अभिमान का सूक्ष्मतर रूप से कोई न कोई अंश विद्यमान तो रहता है, परंतु सभी देह आदि ज़ड़ पदार्थ भी संविद्रूपता से ओतप्रोत हो जाते हैं । इस अवस्था में स्थिति होने पर भी साधक जीवन्मुक्त हो जाता है (भ.2, पृ. 258; ई.प्र.वि. 2, पृ. 231) ।

–तुर्यातीत

समावेश की वह अवस्था जिसमें देहाभिमान किसी भी अंश में विद्यमान नहीं रहता है । यह भी जीवन्मुक्त की अवस्था होती है । (वही) ।

– **(शाक्त)**

शाक्त–उपाय से होने वाला शिवभाव का समावेश । दे. शाक्त समावेश

– **शांभव**

शांभव–उपाय से होने वाला शिवभाव का समावेश । दे. शांभव समावेश ।

समुच्छलन

परमेश्वर के परिपूर्ण आनंद के उन्मेष की दशा । शुद्ध एवं परिपूर्ण परमशिव में जब स्वातंत्र्य के विलास से अपने ही आनंदात्मक स्वरूप एवं स्वभाव को अपने अभिमुख करते हुए देखने की अतिसूक्ष्म सी उमंग उठती है तो उसे ही समुच्छलन कहते हैं । इसे स्पंद, स्फूर्ति, घूर्णि आदि भी कहा जाता है । इसी समुच्छलन के प्रभाव के कारण शिव से लेकर पृथ्वी पर्यंत समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है । (स्वा.द. 2–9, 10) । यह परिपूर्ण आनंद रस की छलकन जैसी वह दिव्यातिदिव्य पारमेश्वरी क्रिया है जो परमेश्वर की परमेश्वरता को स्फुटतया अभिव्यक्त करती है ।

समुत्क्रमण दीक्षा

दे. प्राणोत्क्रमण दीक्षा ।

सर्वतोभद्र

जाग्रत् आदि दशाओं को शिवयोगियों ने अपनी ही विशेष संज्ञाएं दे रखी हैं । शिवज्ञानियों ने भी ऐसा ही किया है । तदनुसार शिवज्ञानी लोग जाग्रत् दशा को सर्वतोभद्र नाम से कहते हैं । इसे ही शिवयोगी पिंडस्थ नाम देते हैं । पिंडस्थ/सर्वतोभद्र के चार प्रकार माने गए हैं जो उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं । वे हैं –अबुद्ध (साधारण प्राणी), बुद्ध (बौद्ध ज्ञानवान्), प्रबुद्ध (आत्मसाक्षात्कारी) और सप्रबुद्ध (ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त) साधक ।

सविकल्प ज्ञान

वस्तु के प्रथम संवेदन में उसके नाम रूप का कोई आभास नहीं होता है । द्वितीय आदि क्षणों में उसके विषय में अनेकों संभव नामरूपों की संकल्पना के अनंतर किसी एक विशेष नामरूप का निश्चय हो जाता है । उस निश्चय के साथ ही साथ उससे नामरूप युगल से भिन्न अन्य सभी संभावित नामरूप युगलों का

निषेध होता है । इस प्रकार से तद्रूप एक वस्तु को अतद्रूप अन्य संभावित वस्तुओं से विच्छिन्न(व्यावृत) किया जाता है कि यह घर ही है शराब, मृतपिंड, पत्थर आदि नहीं है । इस अतद्व्यावृत्ति को अपोहन कहते हैं । अन्य सभी के अपोहन के साथ ही साथ किसी एक ही नामरूप युगल के निश्चय को विकल्प कहते हैं । विकल्पात्मक ज्ञान को ही सविकल्पक ज्ञान कहते हैं । समस्त लोक व्यवहार इसी से चलते हैं । इसी में शब्द प्रयोग की योग्यता होती है । विकल्प शून्य वस्तुमात्र के आभास को गूंगा और बहरा ज्ञान कहा गया है ।

सवेद्य सुषुप्ति

दे.सुषुप्ति ।

साक्षात् उपाय

प्रकाशात्मक स्वरूप तथा विमर्शात्मक स्वभाव की परिपूर्ण सामरस्यात्मक अपनी संवित्रूपता को आत्मसाक्षात्कार द्वारा साक्षात् पहचानने का एकमात्र उपाय बनने के कारण शांभव उपाय को साक्षात् उपाय कहा जाता है । यही उपाय जब परिपूर्णता को प्राप्त कर जाता है तो अनुपाय कहलाता है । (तं.आ.वि. 1-142) । अन्य सभी उपाय इसी उपाय के द्वारा पूर्ण साक्षात्कार पदवी तक पहुंचा सकते हैं । इस कारण से वे परंपरा उपाय हैं और यह साक्षात् उपाय है । (दे. शांभव उपाय) ।

साक्षात्कार

किसी वस्तु का साक्षात् ज्ञान । इंद्रिय और विषय के परस्पर साक्षात् संबंध से जिस साक्षात्कार रूप ज्ञान का उदय होता है उसे इंद्रिय-संवेदन या निर्विकल्प संवेदन कहते हैं । मानस साक्षात्कार से सुख, दुःख, आश्चर्य, घृणा, स्नेह आदि का संवेदन होता है । ये प्रत्यक्ष साक्षात्कार हैं ।

तुर्या दशा में प्राणी को अपने चिन्मय स्वरूप का स्वयमेव जो संवेदन होता है उसे अपरोक्ष साक्षात्कार कहते हैं । यह साक्षात्कार साक्षात् ही होता है । अतः इसे परोक्ष नहीं कह सकते । यह इंद्रियों से या मन से नहीं होता है । अतः इसे प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता । इसीलिए इसे अपरोक्ष कहते हैं । आत्म साक्षात्कार जब भी होता है अपरोक्ष ही होता है ।

सादारण्य तत्त्व

छत्तीस तत्त्वों के क्रम में तीसरा तत्त्व । इस तत्व से पूर्व शिव और शक्ति तत्वों में किसी भी प्रकार के भेद का अंश प्रकट ही नहीं होता है । इसी तीसरे तत्त्व में आकर आगे होने वाली समस्त शुद्ध सृष्टि तथा अशुद्ध सृष्टि की सत्ता का धीमा सा आभास उभरने लगता है । सृष्टि क्रम में इसी तत्व को पहला तत्व माना जाता है । इसी तत्त्व के आगे 'सत्' ऐसा कहना (आख्या) संभव है,क्योंकि इससे ऊपर सत् असत् जैसे आपेक्षिक भावों के आभास के लिए कोई अवसर ही नहीं । इसी कारण सदाशिव तत्त्व को सादारण्य तत्त्व कहा जाता है । (ई.प्र.वि. 2 पृ. 191) । दे. सदाशिव तत्त्व ।

सामरस्य

ऐसी दशा या भाव जिसमें सभी रस, अवस्थाएं, भाव आदि एक रस होकर लोलीभाव में रहते हैं अर्थात् अभिन्नतया स्पंदित होते रहते हैं और एकरूपतया चमकते रहते हैं । (स्व.तं.उ. खं. 2 पृ. 191) । परस्पर संघट्ट रूपता, परिपूर्ण एकरूपता या एकरसता । (तं.आ.वि., खं. 3, पृ. 223) । सामरस्य भाव को मयूराण्ड रस न्याय से समझाया जाता है । मोर के पंखों के सभी रंग उसके अंडे के भीतर रहने वाले रस में हुआ करते हैं । परंतु वहां कोई भी रंग पृथक्तया दीखता नहीं । सभी रंग एकरूपतया स्पंदमान होते हुए वहां रहते हैं और जब पक्षिशावक के रूप में परिणत हो जाते हैं तो पृथक् पृथक् रूप को लेकर के अभिव्यक्त हो जाते हैं । रस की अवस्था सभी रंगों के सामरस्य की अवस्था है । परमेश्वर समस्त विश्व की ही सामरस्य की अवस्था है ।

सामनस्

दे. समना ।

सामान्यस्पंद

प्रतिष्ठित स्पंद । अंतः एवं मूलभूत स्पंद (दे.) । परमशिव । परस्पंद । मुख्य स्पंद । (स्प. वि. पृ. 70) । सृष्टि, स्थिति आदि पांचों कृत्य सामान्यस्पंद की ही भिन्न भिन्न अभिव्यक्तियां हैं । इस प्रकार संपूर्ण विश्व सामान्यस्पंद का ही

विस्तार है। (मा.वि.वा. 1-276, 277) । परमशिव की शिवता को भी सामान्य स्पंद कहा जाता है, (प.त्री.वि. पृ. 208) । इसे परम उपादेय माना गया है तथा मूलभूत कारण होने के कारण इसे स्वरूप प्रत्यभिज्ञा करवाने वाला भी माना गया है । (स्व. वि. पृ. 63, 64) ।

सुघट मार्ग

यम, नियम आदि क्लेश साध्य प्रयत्नों से विहीन सहज ही में अपने शिवभाव के समावेश को प्राप्त करवाने वाले बिल्कुल नए, सुकर एवं आनंददायक शैवी साधना को उत्पल देव ने सुघट मार्ग कहा है । शैवी साधना के इस सुललित मार्ग को थोड़े से ही प्रयत्न से साधक को शुद्ध संवित्स्वरूपता का समावेश करवाने वाला, सहज साध्य तथा महाफल प्रदान करने वाला माना गया है । (ई. प्र.वि., 2 पृ. 271) ।

सुप्रबुद्ध

ईश्वर के परम अनुग्रह के पात्र बने प्राणी, जिनमें किसी भी अंश में माया का प्रभाव नहीं रहता है और इस कारण जिन्हें अपने परिपूर्ण शिवभाव का साक्षात्कार हो गया होता है । ऐसे प्राणी को तत्त्व की उपलब्धि अनायास ही हो जाती है । परिणामस्वरूप वह सदा अपनी शुद्ध संविद्रूपता के आनंदात्मक चमत्कार से ओत प्रोत बना रहता है । (स्व.वि. पृ. 9, 57, 58) । जाग्रत् अवस्था में रहने वाले उत्कृष्ट सिद्धयोगी सुप्रबुद्ध कहलाते हैं ।

सुशिव

ईश्वर दशा से ऊपर और सदाशिव दशा के नीचे जो बीच वाली अवांतर दशा होती है उस दशा में ठहरे हुए परमेश्वर को ही सुशिव कहा जाता है । यद्यपि प्रमातृ तत्वों या प्रमेय तत्त्वों के विश्लेषण में इस अवस्था को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है फिर भी उपासना के क्रम में सुशिव के भी विशेष स्थान को माना गया है जिसको पार करके ही साधक सदाशिव दशा पर आरोहण कर सकता है ।

सुषुप्ति

वह अवस्था, जिसमें न तो बाह्य इंद्रियां ही कोई काम करती हैं और न अंतः ही, परंतु फिर भी जिसमें विषयावभास के अभाव का आभास होता रहता है और साथ ही उस अभाव का साक्षी रूप प्रमाता भी अपने ही चित्प्रकाश से चमकता रहता है । इसके कई एक प्रकार होते हैं जैसे – श्रम के कारण होने वाली सुषुप्ति को निद्रा, मादक द्रव्य के प्रभाव से होने वाली को मद, शरीरस्थ धातुओं के दोष से होने वाली को मूर्च्छा और स्वेच्छापूर्वक सिद्ध की गई सुषुप्ति को समाधि कहा जाता है । यह पुनः दो प्रकार की होती है –

– *अपवेद्य*

वह सुषुप्ति जिसमें प्रमेयांश का लेशमात्र भी आभास नहीं रहता है । इसे शून्य सुषुप्ति कहा जाता है । इसमें प्रमाता अपने शून्य स्वरूप में प्रविष्ट होकर रहता है ।

सवेद्य

वह निद्रा, जिसमें सुख का, शरीर के हल्केपन या भारीपन आदि का थोड़ा सा तथा धीमा सा आभास बना ही रहता है । इसे प्राण सुषुप्ति कहते हैं । इसमें प्रमाता के भीतर प्राणवृत्ति तथा अपानवृत्ति का थोड़ा सा आभास बना रहता है ।

सूक्ष्मादीक्षा

दे. निर्वाण दीक्षा ।

सूर्य

1. ज्ञानशक्ति स्वरूप केवल शुद्ध प्रकाशमात्र । (तं.आ. 3–120) । शुद्ध तेज होने के कारण इसे तीक्ष्णस्वरूप तथा रक्त वर्ण वाला माना गया है । (वही 3–114) ।

2. संविद्रूप पर–प्रकाश ही जब किंचित् संकोच के कारण प्रमाणरूप में प्रकट हो जाता है तो इस स्थिति में पहुंचने पर ही उसे सूर्य कहते हैं । इसी कारण सूर्य को प्रमाणस्वरूप भी कहा गया है । (तं.आ. खं 3–117, 121) ।

3. पांच प्राणों में से प्रथम प्राण स्वरूप। (वही पृ. 20)।

सृष्टि कृत्य

अपने शुद्ध संवित् स्वरूप में संवित् रूप में ही प्रकाशित हो रहे स्वात्म रूप विश्व को अपने ही पारमेश्वरी आनंद के लिए अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने की पारमेश्वरी लीला। परमेश्वर अपने अभिन्न एवं अद्वैत प्रकाश के भीतर ही प्रतिबिंब की भांति भेदमय जगत् को अवभासित करता है। इस प्रकार शिव के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप को छिपाती हुई उसके विश्वमय रूप में अवभासित होने की इस पारमेश्वरी लीला को परमेश्वर का सृष्टि कृत्य कहते हैं। (तं.सा. पृ. 11)।

सैद्ध मत.

सिद्धों का मत। सिद्धों का पराद्वैत दर्शन। सैद्ध मत में क्रिया को ज्ञान की घनीभाव की सी दशा और ज्ञान को क्रिया की द्रवीभाव की सी दशा कहा गया है। इस प्रकार जहां ज्ञान है वहां क्रिया भी है तथा जहां क्रिया है वहां ज्ञान भी है। महाराष्ट्र के स्वतंत्रानंद नाथ ने इस दर्शन को सैद्ध मत कहा है। (मा.च.वि., 1–15,16)। काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख ग्रंथों में इसी सैद्ध मत का सविस्तार प्रतिपादन किया गया है।

सोम

1. क्रियाशक्ति स्वरूप। अमृतात्मक प्रकाशमात्र। (तं.आ.वि. 2 पृ. 125)। इसे श्वेत वर्ण वाला तथा अमृतस्वरूप होने के कारण आह्लादकारक माना गया है। (तं.आ. 3–114)।

2. पर–प्रकाश जब प्रमेय के रूप में प्रकट होता है तो उसे ही सोम कहते हैं। इसी कारण सोम को प्रमेय स्वरूप भी कहा जाता है। (वही 3–117, 121)। प्रमेय के प्रति सुख, दुःख एवं मोह में से आह्लादकारी सुखात्मक उत्कृष्ट अंश से समस्त भावजात को अभिषिक्त करने वाले शुद्ध प्रकाश को ही अमृत की वर्षा करने के कारण भी सोम कहा जाता है। (वही 3–120 पृ. 125)।

3. अपान। (वही पृ. 120)। सिद्ध संपद्राय में प्राण को सूर्य और अपान को सोम कहा जाता है।

4. उमासहित शिव को भी सोम कहते हैं। तात्पर्य है शक्ति के आभिमुख्य में आया हुआ शिव।

स्थान कल्पना

आणव उपाय में कारण एवं ध्वनि योग के नीचे स्थान कल्पना का स्थान आता है। इस योग में बाह्य विषयों पर ही चित्त को ठहराकर उसके अनंत आभासों को भावना के द्वारा अपनी संवित् रूप अग्नि में विलीन करने का सतत अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास की पूर्णता पर जब चित्त के अनंत अशुद्ध विकल्पों का क्षय होता है तो आणव समावेश हो जाता है। इस योग को स्थान कल्पना कहते हैं। इस योग में प्राणवायु, स्थूल शरीर और प्रमेय जगत् धारणा के मुख्य आलंबन बनते हैं। (तं.सा. पृ. 45)। स्थान कल्पना में एक एक ग्राह्य या बाह्य प्रमेय पर धारणा को जमाकर भावना के बल से उसी को परिपूर्ण परमेश्वर के रूप में देखने का सतत अभ्यास किया जाता है। उससे भी साधक को आणव समावेश हो जाता है।

स्थिति कृत्य

अपने संवित् स्वरूप से भिन्न रूप से अवभासित हो रहे इस विश्व को उसी रूप में टिकाए रखने और तदनुसार नियमपूर्वक चलाते रहने की पारमेश्वरी लीला को परमश्ेवर का स्थिति कृत्य कहते हैं। स्थिति कृत्य से परमेश्वर अपने में प्रतिबिम्बवत् अवभासमान विश्व को कर्मफल आदि नियमों के अनुसार चलाता हुआ उसे स्थिति प्रदान करता रहता है। यही उसकी स्थिति लीला कहलाती है। (प्र.हृ., पृ. 1; दे.ना.वि. 4-18)।

स्नान (ज्ञानयोग)

शैवी साधना के ज्ञानयोग का एक प्रकार जिसमें साधक यह सत्तर्क करता है कि वह तो वस्तुतः शुद्ध संवित्स्वरूप है, बंधन और मोक्ष दोनों का ही उस पर कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि इन दोनों के मूल में मल ही है। सुख एवं दुःख आदि विभिन्न भावों में वही शिवरूपतया व्याप्त है। इस प्रकार के शुद्ध विकल्पों से भावना द्वारा अपने आपको निर्मल बनाने के सतत अभ्यास को स्नान कहते हैं। (शि. द्व. 7-87 से 90)।

स्नेह

पूर्ण विसर्ग पद । शिव एवं शक्ति का सतत् स्फुरणशील संघट्टात्मक रूप । अनुत्तर परमशिव । अवच्छेदरहित एवं अपरिमित आनंद की स्थिति । अनुत्तर परमशिव का अपने में अपनी ही इच्छा से होने वाले परिपूर्ण विसर्ग रस से सुंदर तथा आनंद की सभी भूमिकाओं से उत्तीर्ण जगदानंद से आप्लावित शिवशक्ति का पूर्ण संघट्ट अर्थात् सामरस्यात्मक रूप ही स्नेह कहलाता है । (मा.वि.वा. 1–895) ।

स्पंद

शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण परमशिव में सृष्टि लीला के निमित्त से अपने ही स्वरूप को अभिमुख करके देखने के प्रति होने वाली सूक्ष्मातिसूक्ष्म उमंग जैसी प्रवृत्ति को स्पंद कहते हैं । यही उसके परमानंद की स्थिति है । यह वह सर्वप्रथम उमंग है जिसमें समस्त सृष्टि अपने बीज रूप में स्थित रहती है । इसे ही तुटि, उद्योग, उद्यम, उन्मेष, महासत्ता, महास्फुरत्ता, हृदय आदि नामों से अभिव्यक्त किया गया है । (ई. प्र. 1–5–14) । यह परिपूर्ण एवं अचल परमशिव में रहने वाली अतिसूक्ष्म गतिशीलता की सी विशेषता है । इसलिए इसे ऊर्मि, उच्छलत्ता आदि भी कहा गया है । परंतु इस अतिसूक्ष्म गतिशीलता जैसे किंचिच्चलन से परमशिव की परमेश्वरता में कोई अंतर नहीं आता है । क्योंकि चलनशीलता का केवल आभासमान ही होता है और वह भी प्रतिबिंब न्याय से । वस्तुतः चलन नहीं होता है । हां चलन होता हुआ सा प्रतीत होता है । यही वह किंचित् चलन कहलाता है जिसको स्पंद कहते हैं । (प.त्रि.वि. पृ. 207; ई.प्र.वि. 1, पृ. 208–9) । यह स्पंद सामान्य जीवन में किसी भी तीव्र भावावेश के प्रथम क्षण में अभिव्यक्त होता है । (स्प. 22) । यह दो प्रकार का होता है : (1) सामान्य स्पंद (दे.) तथा विशेष स्पंद (दे.) । (प.त्रि.वि., पृ. 208) ।

स्फुरत्ता

दे. महास्फुरत्ता ।

स्मृतिशक्ति

लोकव्यवहारों का आधार बनी हुई परमेश्वर की तीन शक्तियों में से एक प्रमुख शक्ति । परमेश्वर अपनी अपोहनशक्ति से अपने अविच्छिन्न स्वरूप में

विच्छेद का आभासन करता है । उससे प्रमाता और प्रमेय परस्पर विच्छिन्न हो जाते हैं । फिर एक दूसरे के प्रति ज्ञातृ भाव में और ज्ञेयभाव में ठहरते हुए अनंत प्रकार से ज्ञान के व्यवहारों को सिद्ध करता है । तदनंतर असंख्य ज्ञानों के संस्कारों के होते हुए भी किसी ही प्रमाता में किसी ही प्रमेय के ज्ञान का संस्कार किसी ही विशेष रूप से कभी भी उद्बुद हो जाता है, जिससे उस प्रमाता को पहले जाने हुए प्रमेय की किसी विशेष प्रकार से पुनः स्मृति हो जाती है । इस अनंत प्रकारों से उदित होने वाले स्मृति व्यापार की अधारभूताशक्ति परमेश्वर की स्मृतिशक्ति है जिससे अनंत प्रकार के वैचित्र्य से स्मर्तृ–स्मार्य–व्यापार इस संसार में चलते रहते हैं । संसार के समस्त व्यवहारों का प्रधान आधार यह स्मृति ही है । आदान, प्रदान आदि, शब्द प्रयोग आदि तथा समस्त क्रिया कलाप आदि सभी का आसरा स्मृति है । प्राणियों की इस असंख्य प्रकार से उदित होने वाली स्मृति की नियामिका शक्ति तथा आधारभूताशक्ति परमेश्वर की स्मृतिशक्ति कहलती है । (ई.प्र.वि. 1–3–7 1–4–1) ।

स्वच्छंदनाथ

ईश्वर भट्टारक के एक अवतार । श्रीकंठनाथ के शिष्य । कैलासवासी भगवान उमापतिनाथ का ईशान, तत्पुरुष,सद्योजात, वामदेव और अघोर इन पांच मुखों वाला एक विशिष्ट आकार । ये पांचमुख परमेश्वर की चित्, निर्वृति (आनंद), इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की पांच अंतरंग शक्तियों के तथा सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह नाम के पांच पारमेश्वरी कृत्यों के द्योतक होते हैं । उमापतिनाथ ने अपने इसी रूप में आकर शैवशास्त्रों का उपदेश किया है । उनके ये पांच मुख सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के स्थानों को उसमें धारण करते हैं (मा.वि. वा., 1–251 से 257) ।

स्वप्न

स्वापावस्था । वह अवस्था जिसमें प्राणी के शरीर के परिश्रांत होने पर तथा श्रोत्रादि बाह्यकरणों द्वारा अपने अपने कार्यों से विरत हो जाने पर भी मन से ही विषयों का ग्रहण होता रहता है, परंतु, भ्रांति से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो बाह्य इंद्रियां ही उनका ग्रहण करती हैं । (ई.प्र. 3–2–17)स्प.वि. पृ. 20) । बाह्य विषयों के अभाव में भी अंतः विकल्पों का भिन्न भिन्न विषयों के प्रति नव नवोदय होते रहने वाली अवस्था । (शि.सू. 1–9) । स्फुट एवं अस्फुट रूप अवस्था (म.भ.प. पृ. 185 ।

स्वप्न सृष्टि :

ऐसी सृष्टि जिसकी संपूर्ण संरचना सूक्ष्म होती है, जहां के समस्त शरीर,भुवन,भाव तथा संपूर्ण व्यवहार सूक्ष्म एवं स्वप्नवत् ही होते हैं । पितरों, देवों आदि के लोक इसी सृष्टि के अंतर्गत आते हैं ।

स्वप्रकाश

स्वाभास । अपने नैसर्गिक एवं स्वात्मनिष्ठ परमार्थ तत्त्व के सतत स्फुरणशील स्वभाव का बिना किसी अंतःकरण एवं बाह्यकरण की सहायता के स्वयमेव प्रकाशित होते रहना । आत्मतत्व का स्वरूप । (भा. 2 पृ. 126–28) । चैतन्य स्वरूप आत्मतत्त्व । अन्य किसी भी करण से प्रकाशित न होने वाला केवलमात्र अपने में ही स्थित शुद्ध स्वरूप । (ई. प्र. वि. 1 पृ. 135;भा. 1 पृ. 174) । स्वच्छंदरूप से स्वयमेव अपने ही प्रति भासित होने वाला अपना संवित् स्वरूप । अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान भाव । एकमात्र संवित् स्वरूप आत्मा ही स्वप्रकाश है । शेष सभी पदार्थ उसी के प्रकाश से आभासित होते हैं । व्यवहार में ज्ञाता और ज्ञान स्वप्रकाश हैं, शेष सभी कुछ ज्ञान से ही प्रकाशित होता है ।

स्वयं प्रकाश

दे. स्वप्रकाश ।

स्वलक्षण

वस्तु का अपना वह वैयक्तिक स्वरूप जिसका कोई भी संबंध सामान्य (जाति) आदि के द्वारा किसी के भी साथ नहीं होता, तथा जिसे किसी विशेष वाचक शब्द के द्वारा कहा या जाना नहीं जा सकता । निर्विकल्प अवस्था में अवभासित हो रही वस्तु का नाम एवं रूप की कल्पना से रहित अपना नियमित रूप । नियत देश एवं नियत काल से आविर्भूत होने के कारण संकुचित बनी हुई वस्तु का अपने ही स्वरूप में सीमित एवं अननुयायी स्वरूप अर्थात् वह स्वरूप जो अपने से इतर सभी वस्तुओं से विलक्षण एवं भिन्न हो । (ई.प्र.वि. 1–4–2) । वस्तु का अपनी जाति, गुण, क्रिया, नाम एवं द्रव्य इन पांचों विशेषताओं को अपने भीतर रखता हुआ परंतु फिर भी उनके विशेष आभास से रहित एक साथ आभासित होने वाला वैयक्तिक रूप । (ई.प्र.वि. खं. 2 पृ. 71–2) । ऐसा रूप

जिसमें इन पांचों भेदों के विद्यमान होने पर भी इनमें से किसी एक भेद का भी स्फुट आभास नहीं होता हो ।

स्वसंवेदन

स्वानुभव । स्वप्रकाश । स्वरूपभूत संवेदन । अपने वास्तविक स्वरूप का आभास । स्वानुभव सिद्ध स्वप्रकाश संवित्ति । बिना किसी बाह्य एवं अंतःकरणों की सहायता के स्वात्म अनुभव से ही होने वाला अपने अविच्छिन्न एवं शुद्ध प्रकाशरूप स्वरूप का आभास । स्वसंवित्तिरूप प्रमातृ तत्त्व । (भा. 2, पृ. 367) अपनी शुद्ध, असीम एवं परिपूर्ण परमेश्वरता के नैसर्गिक सामरस्यात्मक मूलभूत स्वभाव का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव । (भा. 2 पृ. 367) ।

स्वातंत्र्य शक्ति

अन्य किसी की भी अपेक्षा न रखने वाली परमशिव की मूलभूत शक्ति । विमर्शशक्ति । परमशिव की परमेश्वरता को द्योतित करने वाली उसकी सारभूत शक्ति । सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान एवं अनुग्रह – इन पांचों कृत्यों को स्वेच्छा से स्वतंत्रतापूर्वक सतत गति से करते रहने में सहायक बनने वाली परमशिव की स्वभावभूत पराशक्ति । एकत्व में अनेकत्व तथा अनेकत्व में एकत्व को अवभासित करने जैसे अतिदुर्घट कार्यों का संपादन करने वाली शक्ति । पूर्ण अहं परामर्श रूपा शक्ति । (ई.प्र.वि. 2, पृ. 177) ।

स्वातंत्र्य सिद्धांत

काश्मीर शैव दर्शन का वह मूलभूत सिद्धांत जिसके अनुसार केवल परमशिव ही एकमात्र परम सत्य तत्व है और शेष सब कुछ उसी की स्वतंत्र लीला का विलास है । वह दार्शनिक सिद्धांत जिसके अनुसार विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय दोनों ही रूप परमशिव की ही स्वातंत्र्य लीला के विलास हैं । अभेद में भेद को तथा भेद में अभेद को नित्यप्रति अवभासित करते रहने वाली परमशिव की स्वभावभूत स्वातंत्र्य शक्ति की स्वच्छंद लीला के विलास का सिद्धांत । परमशिव शुद्ध प्रकाश स्वरूप है । विमर्श प्रकाश का मूलभूत स्वभाव है, क्योंकि विमर्श वस्तुतः प्रकाश से भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं । ये दोनों भाव एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं । परमशिव इन दोनों भावों का परिपूर्ण सामरस्यात्मक अनुत्तर संवित् तत्व

है । उसके भीतर उसी के विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक दोनों ही रूप समरस होकर शुद्ध संवित् के रूप में ही चमकते हैं । वह अपने ही स्वातंत्र्य से समस्त विश्व को अवभासित करता हुआ भी स्वयं सदैव परिपूर्ण संवित् रूप में ही प्रकाशमान होता रहता है । समस्त बाह्य प्रपंच को अवभासित करते हुए भी परमशिव में किसी भी अंश में किसी भी प्रकार का कोई भी परिणाम या विकार नहीं आता है क्योंकि समस्त अभिव्यक्ति केवल प्रतिबिंबन्याय से होती हुई उसी के स्वातंत्र्य का विलास है तथा उसी की नैसर्गिक परमेश्वरता का विश्वात्मक रूप है । वस्तुतः परमशिव अपने ही भीतर अपने द्वारा ही अपने ही स्वातंत्र्य से अपने आनंद के लिए विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक दोनों रूपों में अवभासित होता रहता है और ऐसा होने पर भी वह सर्वदा और सर्वथा परिपूर्ण संविद्रूप ही बना रहता है । इस प्रकार सभी कुछ उसी के भीतर उसी के स्वातंत्र्य का विलास होने के कारण उससे इतर कुछ भी नहीं है । इसी सिद्धांत को दृष्टि में रखते हुए क्षेमराज ने काश्मीर शैव दर्शन को 'स्वतंत्र शिवाद्वय दर्शन' भी कहा है । (स्व.सं. पृ.10) ।

ह

मातृका क्रम में अंतिम ऊष्म वर्ण । यह वर्ण शक्ति तत्त्व को अभिव्यक्त करता है । अ अनुत्तर परमशिव है और ह उसकी शक्ति है । शक्ति और शिव के भीतर ही सारा प्रपंच विद्यमान है । सारे ही प्रपंच का एक शब्द से विमर्श करना हो तो अ के साथ ह को जोड़कर ऊपर अंतःसारता को अभिव्यक्त करने वाले अनुस्वार को लगाकर 'अहं' यह महामंत्र बनता है जो परिपूर्ण परमेश्वरता को अभिव्यक्त करता है । क से लेकर ह तक के वर्ण पृथ्वी से लेकर शक्ति तक के तत्त्वों को अभिव्यक्त करते हैं । यह अभिव्यक्ति प्रतिबिंब न्याय से होती है । प्रतिबिंब का आभासन बिंब के आभास से उल्टा होता है । दांया बांया हो जाता है और बांया दांया, पूर्व पश्चिम हो जाता है और पश्चिम पूर्व । अतः शक्ति रूप प्रथम तत्त्व अंतिम वर्ण 'ह' के रूप में और अंतिम तत्त्व पृथ्वी प्रथम वर्ण 'क' के रूप में प्रकट हो जाते हैं। शेष सभी तत्त्व भी विपरीत क्रम से ही अभिव्यक्त होते हैं । इस तरह से इन्हें अपने ही संवित् स्वरूप में प्रतिबिंबवत् चमकते हुए देखने के अभ्यास को मातृका योग कहते हैं, जिसमें ह वर्ण का एक प्रमुख स्थान है । (स्व.तं., पृ. 4-257; स्व.त.उ. खं. 2 पृ. 161)

होम

शैवी साधना में त्रिक आचार के ज्ञानयोग का वह प्रकार जिसमें साधक को भावना द्वारा यह विमर्श करना होता है कि संपूर्ण विश्व परमेश्वर में उसी के रूप में रहता है; वस्तुतः यह समस्त भावरूप जगत् परमेश्वर में उसकी संवित् के ही रूप में चमकता रहता है । परंतु इस प्रकार के शुद्ध विकल्प को अपने चित्त में रूढ़ करने के लिए सतत अभ्यास से संपूर्ण सूक्ष्म एवं स्थूल भावों तथा पदार्थ को भावना द्वारा परमेश्वर के संवित रूप तेज में अर्पित करते हुए सभी कुछ का केवल संवित् के ही रूप में विमर्श करना होता है । इसी को ज्ञानयोग का होम कहते हैं । (तं.सा. पृ. 26) ।

□

काश्मीर शैव दर्शन
पारिभाषिक शब्द कोश

संकेत सूची

अ.प्र.सि.	=	अजड प्रमातृसिद्धि
आ. वि.	=	आत्मविलास
ई. प्र.	=	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा
ई. प्र. वि.	=	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी
तं. आ.	=	तन्त्रालोक
तं. आ. वि.	=	तन्त्रालोकविवेक
तं. सा.	=	तन्त्र सार
दे.	=	देखिए
प.	=	पटल
प. च.	=	परमार्थ चर्चा
प. त्री. वि.	=	परात्रीशिकाविवरण
प. सा. वि.	=	परमार्थसार विवृति
प्र. हृ.	=	प्रत्यभिज्ञाहृदय
बो. पं. द.	=	बोधपंचदशिका
भा.	=	भास्करी
म. म. प.	=	महार्थमंजरी परिमल
मा. च. वि.	=	मातृकाचक्रविवेक
वि. भै	=	विज्ञान भैरव
शि. दृ.	=	शिव दृष्टि
शि. दृ. वृ.	=	शिवदृष्टिवृत्ति
शि. सू.	=	शिवसूत्र

शि. सू. वा.	=	शिवसूत्रवार्तिक (भास्कर)
शि. सू. वि.	=	शिवसूत्रविमर्शिनी
सि. म. र.	=	सिद्धमहारहस्य
स्प.	=	स्पंदकारिका
स्प. वि.	=	स्पन्दविवृति
स्प.सं.	=	स्पन्द संदोह
स्व. तं.	=	स्वच्छन्द तंत्र
स्व. तं. उ.	=	स्वच्छन्दतंत्र उद्योत
स्वा. द.	=	स्वातंत्र्य दर्पण

☐

शाक्त दर्शन

डा. ब्रजवल्लभ द्विवेदी
अध्यक्ष एवं आचार्य
संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

शाक्त दर्शन

अकुलकुण्डलिनी

योगिनीहृदय की अमृतानन्द योगी कृत दीपिका टीका तथा भास्कर राय कृत सेतुबन्ध टीका (पृ. 38–43) में उद्धृत स्वच्छन्दसंग्रह नामक अद्यावधि अनुपलब्ध ग्रंथ के अनुसार मानव लिंग शरीर में सुषुम्णा नाड़ी के सहारे 32 पद्मों की स्थिति मानी गई है। सबसे नीचे और सबसे ऊपर दो सहस्रार पद्म अवस्थित हैं। नीचे अकुल स्थान स्थित अरुण वर्ण का सहस्रार पद्म ऊर्ध्वमुख तथा ऊपर ब्रह्मरन्ध्र स्थित श्वेतवर्ण सहस्रार पद्म अधोमुख है। इनमें से अधःसहस्रार को कुल कुण्डलिनी तथा ऊर्ध्व सहस्रार को अकुल कुण्डलिनी कहा गया है। अकुल कुण्डलिनी प्रकाशात्मक अकार स्वरूपा मानी जाती है।

अकुलशिव

कुलार्णव तन्त्र (17/27) में अकुल शब्द का अर्थ शिव तथा कुल शब्द का अर्थ शक्ति किया गया है। तन्त्रालोक (3/67) और उसकी व्याख्या में भी यही विषय प्रतिपादित है। किन्तु यहां शक्ति को कौलिकी कहा गया है। जिस परम तत्त्व से विविध विचित्रताओं से परिपूर्ण यह सारा जगत उत्पन्न होता है और उसी में लीन भी हो जाता है, वह परम तत्त्व शिव और शक्ति से परे है। उसी परम तत्त्व से अकुल शिव और कुल शक्ति की सृष्टि होती है। इस कौलिकी शक्ति से अकुल शिव कभी जुदा नहीं रहता। शिव को शाक्त दर्शन में अनुत्तर तत्त्व माना गया है। अनुत्तर शब्द अकार का भी नाम है। यह अकार ऐतरेय आरण्यक (2/3/6) के अनुसार समस्त वाङ्मय का जनक है। भगवद्गीता (10/32) में अपनी उत्कृष्ट विभूतियों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अक्षरों में मैं अकार हूं। इसीलिये अकार को अकुल अक्षर भी कहा जाता है। अनेक ग्रंथों में उद्धृत, किन्तु अद्यावधि अनुपलब्ध ग्रंथ संकेतपद्धति में अकार को प्रकाश और परम शिव का स्वरूप कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकाशात्मक अकुल

शिव अकुल अकार के रूप में अभिव्यक्त होकर इस विविध विचित्रतामय जगत की सृष्टि करता है। महार्थमंजरी की परिमल व्याख्या (पृ. 89) में महेश्वरानंद ने कुल, कौल और अकुल विभाग की चर्चा की है। नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका के लेखक विद्यानन्द ने अकुल, कुल और कुलाकुल (पृ. 67) तथा अकुल, कुल, कुलाकुल, कौल और शुद्धकौल (पृ. 74) नामक भेदों का उल्लेख किया है। 'कौल मत' शब्द के विवरण में इनकी चर्चा की गई है।

अक्षर बिंदु

रत्नत्रय (श्लो. 22, 39, 53) प्रभृति ग्रंथों में बताया गया है कि जिस प्रकार बिंदु क्षुब्ध होकर एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार दूसरी ओर यही शब्द की भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर बिंदु और वर्ण के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें अक्षर बिंदु सूक्ष्म नाद का कार्य है। शास्त्रों में मयूराण्डरस न्याय से इसको समझाया गया है। जिस प्रकार मयूर के अण्डे के रस में उसके शरीर और पंख के तरह–तरह के रंग अभिन्न भाव से अव्यक्त रूप में रहते हैं, उसी तरह से अक्षर बिंदु में स्थूल वाणी का संपूर्ण वैचित्र्य अव्यक्त रूप में अभिन्न भाव से रहता है। इसी को पश्यंती वाणी भी कहते हैं।

अजपा जप

प्राण की उच्छ्‌वास दशा में स्वाभाविक रूप से 'हं' का तथा निश्वास दशा में 'सः' का उच्चारण होता है। इस प्रकार प्राण की श्वास–प्रश्वास प्रक्रिया में 'हंसः सो हं' इस अजपा गायत्री का स्वाभाविक रूप से दिन–रात अनवरत जप चलता रहता है। इसी को अजपा जप कहा जाता है। इसको अजपा इसलिये कहा जाता है कि यद्यपि अपरा अवस्था में इसके वाच्य वर्ण हकार और सकार का उच्चारण स्पष्ट होता है, किन्तु जब परा देवी इसको अपने में समेटे हुए अपने बाह्य स्वरूप का संवरण करती है, उस समय हकार के मस्तक पर स्थित बिन्दु रूप अनुस्वार का केवल बिन्दु के रूप में जप नहीं किया जा सकता। इस तरह से यह प्राण वृत्ति जब बाहर निकलती है, तब सकार के आगे विसर्ग के रूप में स्थित दो बिंदुओं का

बिना अकार के उच्चारण नहीं हो सकता। इसीलिये 'हंसः' इस मंत्र की अजपा गायत्री के रूप में ख्याति है।

तन्त्रालोक (3/170) के व्याख्याकार जयरथ ने सकार और हकार के उच्चारण से उत्पन्न जप को सहज, अर्थात् अकृत्रिम (स्वाभाविक) बताया है। यहां क्षपा (रात्रि) और दिन से क्रमशः अपान और प्राण का निर्देश किया गया है। वीरावली तंत्र में भी क्षपा और दिन शब्द से इन्हीं का ग्रहण किया गया है। श्रुति और स्मृति ग्रंथों में दिन और रात्रि का, प्राण और अपान का यमराज के कुत्तों के रूप में वर्णन है। यमराज के ये दूत पकड़ने न पायें, इसीलिये साधक योगी अजपा के अभ्यास के द्वारा प्राण और अपान की गति पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है और मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

दिन–रात, प्राण और अपान की इस निरंतर गतिशीलता के कारण हंस मंत्र का एक अहोरात्र में **21600** बार जप पूरा हो जाता है। शरीर से प्राण की बहिर्मुखी गति के पूरा होने के बाद और अपान के पुनः शरीर में प्रवेश न करने तक इस जप की विधि पूरी हो जाती है। प्राण जब निकलते हैं, उस समय भी इस अजपा जप के साथ अपनी तन्मयता को बनाये रखना अनेक जन्मों में अर्जित अतिशय तत्त्वशुद्धि के कारण ही संभव हो सकता है।

अणु सदाशिव

अधिकार अवस्थापन्न शिव सकल है। वे बिन्दु से अवतीर्ण और अणु सदाशिवों से आवृत हैं। यह सब सदाशिव वस्तुतः पशु आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं हैं। इनमें कुछ आणव मल शेष रहता है। इससे उस समय इनकी ज्ञान–शक्ति और क्रिया–शक्ति का कुछ संकोच रहता है। ये शिव के समान पूर्ण रूप से अनावृत शक्ति संपन्न नहीं होते। यद्यपि ये भी मुक्त पुरुष हैं, तथापि सर्वथा मलहीन न होने से अभी तक इन्हें परा मुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं हुआ है। सदाशिव भुवन के अधिष्ठाता होने से परमेश्वर को भी सदाशिव कहा जाता है। वे स्वयं शिव हैं और पूर्वोक्त अणु सदाशिवों को

अपने–अपने भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। मृगेन्द्र तंत्र प्रभृति शैवागम के ग्रंथों के आधार पर इस विषय का वर्णन 'भारतीय संस्कृति और साधना' नामक ग्रंथ के प्रथम भाग (पृ. 28) में मिलता है।

अनच्क कला

सार्धत्रिवलया भुजगाकारा कुलात्मिका कुण्डलिनी मूलाधार में सोई रहती है। जाग्रत होने पर यह सुषुम्णा मार्ग से षट्चक्रों का भेदन कर सहस्रार स्थित अकुलचक्र में विराजमान शिव के साथ सामरस्य लाभ करती है। षट्चक्रों और उनमें विद्यमान वर्णों का पूर्णानन्द के षट्चक्रनिरूपण के षष्ठ प्रकाश में और सौंदर्यलहरी की लक्ष्मीधरा टीका में (श्लो. 36–41) तथा अन्यत्र भी विशद विवेचन मिलता है। नाडीचक्र प्रभृति षट्चक्रों का निरूपण नेत्रतंत्र (7/28–29) में भी है। विज्ञान भैरव में बारह चक्रों या क्रमों की चर्चा आई है। इन चक्रों की मूलाधार या हृदय से लेकर द्वादशांत पर्यन्त भावना की जाती है। मूलाधार में जैसे कुण्डलिनी का निवास है, उसी तरह से हृदय में भी सार्धत्रिवलया प्राणकुण्डलिनी रहती है। मध्य नाडी सुषुम्णा के भीतर चिदाकाश (बोधगमन) रूप शून्य का निवास है। उससे प्राणशक्ति निकलती है। इसी को अनच्क कला भी कहते हैं। इसमें अनच्क (अच्–स्वर से रहित) हकार का निरंतर नदन होता रहता है। यह नादभट्टारक की उन्मेष दशा है, जिससे कि प्राणकुण्डलिनी की गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है, जो श्वास–प्रश्वास, प्राण–अपान को गति प्रदान करती है और जहां इनकी एकता का अनुसंधान किया जा सकता है। मध्य नाडी स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राण शक्ति ही अनच्क कला कहलाती है। अजपा जप में इसी का स्फुरण होता है। प्राण और अपान व्यापार से भिन्न, श्वास–प्रश्वास प्रक्रिया से अलग, स्वाभाविक रूप से निरंतर चल रहे प्राण (हृदय) के स्पन्दन व्यापार (धड़कन) को ही यहां अनच्क कला कहा गया है। स्पन्दकारिका में प्रतिपादित स्पंद तत्त्व यही है। वामननाथ ने अद्वय संपत्ति वार्तिक में इसका वर्णन किया है। नेत्रतंत्र (सप्तम अधिकार) में सूक्ष्म उपाय के प्रसंग में प्राण–चार के नाम से इसकी व्याख्या की गई है।

अनाख्या चक्र

अनाख्या नामक चतुर्थ चक्र में तेरह शक्तियों के कार्य दिखाई पड़ते हैं। क्रमदर्शन में आख्या शब्द से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणी के स्वभाव का बोध होता है। अतः आख्याहीन अनाख्या चक्र में ये वाक् प्रवृत्तियां नहीं रह सक़तीं। संहार चक्र में नादरूपा पश्चन्तीवाक्, स्थिति चक्र में बिन्दु रूपा मध्यमा वाक् तथा सृष्टि चक्र में लिपिरूपा स्थूल या वैखरी वाक् कार्य करती है। ये तीनों प्रकार की वाणियां ही ऊर्ध्वा स्थित विमर्श अपथा परा वाक् के द्वारा अनुप्राणित तुरीयावस्था में प्रमाण, प्रमाता और प्रमेय की त्रिपुटी को उपसंहृत करके अनाख्या चक्र में चिद्‌गिन रूप में पर्यवसित होती है। वस्तुतः यह अवस्था महासुषुप्ति के समान प्रतीत होने पर भी चिन्मय मुक्त अवस्था का ही नाम है। अनाख्या चक्र की तेरह कलाओं में से बारह इन्द्रियों का व्यष्टि भाव में और तेरहवीं कला का समष्टिभाव में स्फुरण होता है। सृष्टि के भीतर सृष्टि, स्थिति, संहार और तुरीय – ये चार अवस्थायें हैं। इसी प्रकार स्थिति और संहार में भी चारों अवस्थाएं रहती हैं। सब मिलाकर ये बारह शक्तियां हैं। ये सब शक्तियां जिस महाशक्ति से निकलती हैं तथा जिसमें लीन होती हैं, उसी को 'त्रयोदशी' कहते हैं। वस्तुतः यह त्रयोदशी सबसे अनुस्यूत तुरीयं के साथ सम्मिलित आद्या शक्ति ही है (महार्थमंजरी परिमल, पृ. 100–101)।

अनाहत चक्र

मणिपुर चक्र के ऊपर हृदय में अनाहत चक्र की स्थिति है। इसका वर्ण बंधुक पुष्प के समान अरूण कांति वाला है। इसका आकार द्वादश दल कमल से बनता है। इन दलों में सिंदूर के समान रक्त वर्ण के ककारादि ठकरान्त 12 वर्णों की स्थिति मानी जाती है। इनके बीज में धूम्र वर्ण षट्‌कोणात्मक वायुमंडल है। इसके मध्य वायु बीज यं का ध्यान किया जाता है, जिसका कि वर्ण धूम के समान धूसर है। यह बीज भी चतुर्भुज है और इसका वाहन कृष्णसार मृग है। इस वायुबीज के अधिष्ठाता करुणामूर्ति ईश्वर हैं। इनका वर्ण शुक्ल है और अपने दोनों हाथों से ये तीनों लोकों को अभय और वर प्रदान करते हैं। इस चक्र की योगिनी का नाम काकिनी है। इस चक्र की कर्णिका में वायु बीज के नीचे त्रिकोणाकार शक्ति तथा

उसके दाहिने भाग में बाण लिंग की स्थिति मानी गई है। इसके मस्तिष्क पर सूक्ष्म छिद्र युक्त मणि के समान एक बिंदु प्रकाशित है। शब्दब्रह्म के विलास अनाहत नाद की यहां अनुभूति होती है, अतः इसे अनाहत चक्र कहा जाता है (श्रीतत्त्वचिंतामणि, षट्चक्रनिरूपण, 6)।

अनुपाय

अनुपाय शब्द का जयरथ (तंत्रा.वि. 2/2, पृ. 3) ने 'अल्प उपाय' अर्थ किया है, क्योंकि पर्युदास स्थल में नञ् अल्पार्थक माना जाता है, जैसा कि 'अनुदरा कन्या' इस प्रयोग में 'अनुदरा' शब्द का अर्थ 'पतली कमर' वाली होता है। सिद्ध साहित्य में प्रचलित 'सहज' शब्द को इस अनुपाय शब्द का पर्याय मान सकते हैं।

तंत्रसार (पृ. 8–9) में अनुपाय प्रक्रिया का विवेचन इस तरह से किया गया है – तीव्र शक्तिपात के होने पर साधक गुरु के एक बार के उपदेश से ही नित्योदित समावेश दशा में लीन हो जाता है। उपाय के रूप में वह षडंग योग में प्रतिपादित तर्क नामक अंग का सहारा लेता है। वह सोचता है कि स्वयं प्रकाश, स्वात्मस्वरूप ही तो परमेश्वर है। इसके लिये किसी उपाय की क्या आवश्यकता है? यह स्वात्मस्वरूप नित्य, स्वयं प्रकाश, निरावरण तत्त्व है। इसलिये किसी उपाय से इसके स्वरूप की प्राप्ति (लाभ) या प्रतीति (ज्ञप्ति) होगी, अथवा किसी आवरण को हटाया जाएगा, इन सब बातों का कोई प्रसंग नहीं है। इस स्वात्मस्वरूप में लीन (अनुप्रवेश) होने का भी कोई प्रसंग नहीं है क्योंकि शुद्ध स्वात्मस्वरूप से अतिरिक्त उसमें प्रविष्ट होने वाले की अलग से कोई सत्ता नहीं है। फिर उपाय भी तो उससे अलग नहीं है। इसलिये यह सारा जगत् चिन्मात्र सार है। काल इसकी कल्पना नहीं कर सकता। देश इसको परिच्छिन्न नहीं कर सकता। उपाधि इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। इसकी कोई आकृति नहीं है। शब्दों की सहायता से इसको समझा नहीं जा सकता ओर न किसी प्रमाण की ही यहां प्रवृत्ति हो सकती है। स्वतंत्र आनन्दघन यह स्वात्मस्वरूप ही काल से लेकर प्रमाण पर्यन्त ऊपर बताये गये सभी तत्त्वों को स्वरूप प्रदान करने वाला है। मैं इस स्वात्मस्वरूप से भिन्न नहीं हूं और इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही यह सारा विश्व प्रतिबिंबित हो रहा है, इस तरह की

प्रत्यभिज्ञा के जग जाने पर साधक नित्योदित परमेश्वर स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। इसके लिये मंत्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि कोई भी लौकिक उपाय शिव को प्रकाशित नहीं कर सकता। क्या घट सूर्य को प्रकाशित कर सकता है? उदार दृष्टि वाला मनुष्य इस तरह से विचार करते–करते ही किसी समय स्वयंप्रकाश शिवस्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। संवित्प्रकाश में भी बताया गया है कि आपका तत्त्व अर्थात् स्वरूप तो स्पष्ट रूप से सबकी आंखों के सामने विद्यमान है। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति आपको देखने के लिए भांति–भांति के उपायों की खोज में लगे हैं, वे निश्चित ही आपको नहीं जानते। श्रुति (वा.सं. 16/7, तै.सं. 4/5/1/3) ने इस बात को स्पष्ट किया है कि इसको ग्वालबाले जानते हैं, पनहारिनें इसको जानती हैं और विश्व के सारे प्राणी इसको जानते हैं। इसको देखकर कौन आनन्द–विभोर नहीं हो जाता। मालिनीविजय, स्वच्छन्दतन्त्र, संकेतपद्धति, तन्त्रालोक, महार्थमंजरी प्रभृति ग्रन्थों में इस अनुपाय प्रक्रिया का जो विशद विवेचन मिलता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अनुपाय प्रक्रिया सहज योग से भिन्न नहीं है।

अन्तर्दीक्षा

शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद् भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। इसीलिये ऐसे पुरुष की दीक्षा तथा अभिषेक व्यापार स्वयं अपनी संविद्देवियों की सहायता से ही संपन्न हो जाते हैं। प्रातिभ ज्ञान का उदय हो जाने से साधक की अपनी इन्द्रिय वृत्तियां अन्तर्मुख होकर प्रमाता, अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्य लाभ करती हैं और शक्तिमय बन जाती हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि मंत्र, अर्थात् चित्त के बहिर्मुख होने पर जो वृत्तियां कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर शक्तियां कहलाती हैं। ये सब शक्तिभूत इन्द्रिय वृत्तियां पुरुष के चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। इसी स्थिति को अन्तर्दीक्षा कहा जाता है। इसके प्रभाव से साधक स्वतः स्वातन्त्र्यलाभ कर लेता है। इसके लिये उसे गुरु या शास्त्र की भी अपेक्षा नहीं रहती। तंत्रशास्त्र का यह उद्घोष है कि

गुरु कृपा से, शास्त्र के अध्ययन से अथवा स्वतः अपनी प्रतिभा से भी साधक निरावरण स्वात्मस्वरूप को पहचान सकता है। अन्तर्दीक्षा के माध्यम से यह कार्य संपन्न होता है। (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. 2, पृ. 231)।

अपोहन

परमार्थतः अपोहन व्यापार की कोई स्थिति नहीं है, किन्तु जागतिक व्यवहार का संचालन ज्ञान, स्मृति और अपोहन नाम की शक्ति के सहारे चलता है। "मतः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (भ.गी. 15/15), "स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहन–शक्तिमान्" (ई.प्र. 1/3/7) इत्यादि वचनों में इन्हीं व्यापारों की चर्चा की गई है। बौद्ध दर्शन में भी एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को अलग करने के लिये, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ का भेद बताने के लिये अपोह की कल्पना की गई है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमल व्याख्या (पृ. 135–136) में अपोहन व्यापार की विस्तृत व्याख्या की है। भगवद् गीता (15/15) के भाष्य में रामानुजाचार्य ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची माना है और इसकी परिभाषा यह की है — ऊह का कार्य यह देखना है कि किसी भी प्रमाण की प्रवृत्ति सही ढंग से हो रही है या नहीं?

अभिषेक

पवित्र जल छिड़क कर अथवा उससे स्नान कराकर किसी योग्य व्यक्ति को योग्य पद पर प्रतिष्ठित करना ही अभिषेक पद का साधारण अर्थ है। शास्त्रीय विधि से देवता अथवा राजा को कराया जाने वाला स्नान भी अभिषेक ही कहलाता है। तन्त्रशास्त्र में दीक्षा के उपरान्त दीक्षित व्यक्ति को अभिषेक नामक संस्कार से संस्कृत किया जाता है। दीक्षा के प्रसंग में प्रायः सभी तंत्र ग्रन्थों में बताया गया हे कि समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य के भेद से दीक्षित व्यक्तियों की चार कोटियां होती हैं। इनमें से समयी का सेनापति के समान, पुत्रक का महामंत्री के समान, साधक का युवराज के समान और आचार्य का अभिषेक राजा के समान किया जाता है। अन्य आचार्यों का कथन है कि अभिषेक केवल आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते समय ही किया जाता है। यह अभिषेक विविध औषधि, मृत्तिका, रत्न

आदि से मिश्रित नदी, समुद्र आदि के पवित्र जल से भरे कलशों से संपादित होता है। इन कलशों की पूजा करके मण्डल निर्माण पूर्वक, जिसका अभिषेक करना हो उसको भद्र पीठ पर ईशानाभिमुख बैठाकर सकलीकरण क्रिया द्वारा संस्कृत किया जाता है और उक्त कलशों के अभिमन्त्रित जल से उसको स्नान कराया जाता है। इसी का नाम अभिषेक है। अभिषेक हो जाने के उपरान्त उसको अन्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का अधिकार मिल जाता है। वह आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है। विविध सम्प्रदायों में इसकी भी विभिन्न विधियां हैं। शाक्त तन्त्रों में पूर्णाभिषेक अथवा पट्टाभिषेक के नाम से तथा बौद्ध तन्त्रों में सेक के नाम से इसकी विधि विस्तार से वर्णित है।

अमनस्क योग

अमनस्क योग का निरूपण करने वाला इसी नाम का एक छोटा–सा ग्रन्थ उपलब्ध होता है। यह पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में विभक्त है। पूर्वार्ध में तारक योग का तथा उत्तरार्ध में अमनस्क योग का प्रतिपादन है। इस ग्रन्थ के अनुसार योग के दो प्रकार हैं – पूर्व और उत्तर। पूर्व योग, अर्थात् तारक योग में मन विद्यमान रहता है, परन्तु उत्तर योग, अर्थात् अमनस्क योग में मन बिल्कुल नहीं रहता। इनकी तुलना पातंजल योग की संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि से की जा सकती है। किन्तु वस्तुतः यह अपने में एक स्वतंत्र योग पद्धति है। प्राण और मन का लय ही वस्तुतः अमनस्क योग का मुख्य लक्षण है। ग्रन्थ में बताया गया है कि जल में छोड़ा हुआ नमक का ढेला धीरे–धीरे जल में लीन हो जाता है, वैसे ही अमनस्क योग के अभ्यास से मन भी परब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे नमक जल के संपर्क से जलमय हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के संपर्क से मन भी ब्रह्ममय हो जाता है। अमनस्क योग के अभ्यास से इसी स्थिति को प्राप्त किया जाता है। इस लक्ष्य के प्राप्त हो जाने पर मन की कोई स्थिति नहीं रहती। इसीलिये इसको अमनस्क योग कहा जाता है। इस योग की विशेषता यह है कि यहां मन पर नियंत्रण स्थापित करने की अपेक्षा उसके लय पर जोर दिया जाता है। मन का लय हो जाने पर प्राण का लय अपने आप हो जाता है। शैव और शाक्त तन्त्रों में वर्णित उन्मनी स्थिति की हम इस योग से

तुलना कर सकते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि ये दोनों स्थितियां अभिन्न हैं, क्योंकि उस प्रक्रिया के अनुसार समना पर्यन्त ही मन की स्थिति है। उन्मना में जाकर मन लीन हो जाता है। किन्तु तान्त्रिक प्रक्रिया में इसी को चरम लक्ष्य नहीं माना गया है। उन्मनी दशा में मन के लीन हो जाने पर भी उसकी किसी न किसी रूप में स्थिति रह जाती है। अतः वहां इस उन्मनी दशा से भी परे निष्कल महाबिंदु में प्रतिष्ठा ही योगी का परम और चरम लक्ष्य माना जाता है।

अमा कला

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड के एक वचन में, जो कि शब्दकल्पद्रुम (भा. 01, पृ. 83) में उद्धृत है, बताया गया है कि चन्द्रमा की सोलहवीं कला को अमा कला कहा जाता है। आचार्य रघुनंदन ने (शब्दकल्पद्रुम, भा. 01, पृ. 83 पर उद्धृत) अमा कला की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह कला नित्य है, क्षय और उदय से रहित है। चन्द्रमा की अन्य कलाओं में यह उसी तरह से अनुस्यूत है, जैसे की पुष्पमाला के प्रत्येक पुष्प में सूत्र अनुस्यूत रहता है। यह आधार शक्ति का ही परम स्वरूप है। तन्त्रशास्त्र (तान्त्रिक वाड्.मय में शाक्तदृष्टि पृ. 309) में बिन्दु को पूर्णिमा कहा जाता है, किन्तु वह ठीक पूर्णिमा नहीं है। यथार्थ पूर्णिमा षोडशी है। बिंदु में 15 कलाएं हैं, एक कला नहीं हैं अर्थात् अमृतकला अथवा षोडशी का वहां अभाव है। षोडशकल पुरुष में अमृत कला एक है। यही वास्तविक अमा कला है। योग की प्रक्रिया (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. 1, पृ. 319) में उन्मना के उन्मीलन को ही अमाकला कहा गया है। मातृका के क्रम में अमा कला की एक दूसरी ही व्याख्या मिलती है। इस मत में अनुत्तर तत्त्व अकार को सप्तदशी या अमा कला के नाम से जाना जाता है। यह नित्योदित है, अर्थात् इसका कभी तिरोधान नहीं होता। यही अमृत कला है। अन्तःकरण आदि षोडश कलाओं का उद्भव इसी से होता है। यह अन्तरुन्मुख है। श्रीतत्त्वचिंतामणि (6/47) में बताया गया है कि सहस्रार चक्र के मध्य विराजमान त्रिकोण स्थान में अमा कला का निवास है, जो कि चन्द्रमा की सोलहवीं नित्य कला मानी जाती है। यह बाल सूर्य के समान प्रकाशमान है। यह कला नित्योदित है, अर्थात् क्षय और उदय से रहित है। सहस्रार

के ही समान यह भी अधोमुख है और इससे निरन्तर अमृत की वर्षा होती रहती है। इस अमृत कला के भीतर निर्वाण कला का भी निवास है।

अम्बिका

त्रिपुरा दर्शन में शान्ता नामक शक्ति को विश्व का कारण माना है। जब इस शक्ति में विश्व की सिसृक्षा उत्पन्न होती है, तो उसमें स्फुरता या स्पन्दन होता है और यह शान्ता शक्ति अम्बिका के रूप में परिणत हो जाती है। इसी को परा वाक् भी कहा जाता है। बीज में छिपे वृक्ष के समान इस अम्बिका शक्ति में ही सारा विश्व संनिहित रहता है। शृंगार के मध्य में स्थित बिन्दु में इसकी स्थिति मानी जाती है। (योगिनीहृदय, 1/36)।

अर्धमात्रा

"अर्धमात्रा स्थिता नित्या याऽनुच्चार्या विशेषतः" (1/74) दुर्गा सप्तशती के इस श्लोक में अर्धमात्रा को अनुच्चार्य (जिसका उच्चारण नहीं किया जा सकता) माना है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल 'मात्रा' कहलाता हैं योगिनी हृदय के टीकाकार अमृतानन्द योगी (दीपिका, पृ. 53) के अनुसार बिन्दु से लेकर समना पर्यन्त प्रणव कलाओं के उच्चारण का काल अर्धमात्रा है। दुर्गा सप्तशती के उक्त श्लोक की व्याख्या में भास्कर राय ने भी यही कहा है। वे इसको अनुच्चार्य इसलिये मानते हैं कि प्रणव अथवा पिण्ड मन्त्र में स्थित इन कलाओं का उच्चारण नहीं किया जा सकता। ये केवल भावना गम्य हैं, अतः केवल योगी ही इनका साक्षात्कार कर सकते हैं।

अवधूत

अवधूतोपनिषद् में अवधूत के लक्षण आदि का वर्णन किया गया है। अवधूत गीता प्रभृति ग्रन्थों में भी यह विषय चर्चित है। तदनुसार अवधूत के प्रत्येक वाक्य में वेद निवास करते हैं, पद–पद में तीर्थ बसते हैं, इसकी कृपा दृष्टि में कैवल्य विराजमान है। इसके एक हाथ में त्याग है और दूसरे में भोग। फिर भी यह त्याग और भोग दोनों से अलिप्त रहता है। वह वर्णाश्रम से परे है, समस्त गुरुओं का गुरु है। न उससे कोई बड़ा है और न बराबर। पक्षपात विनिर्मुक्त मुनीश्वर को ही अवधूत कहा जाता है। उसे ही नाथ

पद प्राप्त हो सकता है। इस अवधूत का परम पुरुषार्थ मुक्ति है, जो द्वैत और अद्वैत के द्वंद्व से परे है। यह मत वेदान्त, सांख्य, मीमांसा, बौद्ध, जैन प्रभृति सभी दर्शनों से विलक्षण है। नाथ सम्प्रदाय को ही अवधूत मत या अवधूत सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है, किन्तु वस्तुतः यह उससे विलक्षण है। नाथ सम्प्रदाय में अनेक उपादान अवधूत मत के स्वीकार किये गये हैं। इसके प्रवर्तक अवधूताचार्य दत्तात्रेय है। 'आदि गुरु दत्तात्रेय और अवधूत दर्शन' (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. 1, पृ. 191–209) में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है।

शक्तिसंगमतन्त्र (3/1/148–160) में अवधूतों के सात भेदों का वर्णन मिलता है। वीरावधूत, कोलावधूत, दिव्यावधूत आदि शब्दों का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। महानिर्वाण तन्त्र में ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, वीरावधूत और कुलावधूत का वर्णन उपलब्ध होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ब्रह्मोपासक होने से यति या ब्रह्मावधूत कहते हैं। इस अवस्था में वे लोग गृहस्थाश्रम में रह सकते हैं अथवा संसार धर्म का त्याग कर संन्यासी हो सकते हैं। विधिपूर्वक पूर्णाभिषिक्त होने पर संन्यासी शैवावधूत कहा जाता है। वीरावधूतों के सिर पर लम्बे और अटपटे केश रहते हैं। ये रुद्राक्ष या महाशंख की माला पहनते हैं। इनके अंगों में भस्म या रक्त चन्दन लिप्त रहता है। कोई–कोई गेरुआ वस्त्र भी पहनते हैं। कुलाचार के अनुसार अभिषिक्त होकर जो साधक गृहस्थाश्रम में रहता है, उसे कुलावधूत कहते हैं।

तीर्थ, आश्रम, वन, अरण्य, गिरि, पर्वत, सागर, सरस्वती, भारती एवं पुरी नामक दशनामी सम्प्रदाय के संन्यासियों का उल्लेख शक्तिसंगमतंत्र (4/8/104–108) प्रभृति ग्रन्थों में भी मिलता है। इन शब्दों के अर्थ भी वहां प्रदर्शित हैं। रामानन्द के शिष्यों में भी कुछ अवधूत हुए हैं। वंग देश में तथा अन्यत्र भी इनका निवास है। ये जाति–भेद को नहीं मानते और पान, भोजन आदि का भी इनका कोई नियम नहीं है। सिर पर बड़े–बड़े बाल, गले में स्फाटिक आदि की माला, कमर में कौपीन लपेटे ये लोग अत्यन्त अपरिष्कृत भाव से रहते हैं। लोग इन्हें बावला भी कहते हैं। इनका आचरण अत्यन्त उद्धत होता है। बंगाल में स्थान–स्थान पर इनके अखाड़े हैं।

अवधूत वर्ण और आश्रम की व्यवस्था से परे रहते हैं। अष्टविध पाशों से ये मुक्त रहते हैं। अघोरी भी एक प्रकार का अवधूत ही है। नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। गोरक्षसिद्धांत संग्रह (पृ. 15–16) में अवधूत मत को सर्वश्रेष्ठ माना है।

अवधूती मार्ग

बौद्ध वज्रयान और सहजयान में इडा, पिंगला और सुषुम्णा को क्रमशः ललना, रसना और अवधूती कहा जाता है। यहां ललना को चन्द्र या प्रज्ञा का तथा रसना को सूर्य या उपाय का प्रतीक माना गया है। इन दोनों के बीच में जिस शक्ति की क्रिया होती है, एवं जो साधारण अवस्था में अवरुद्ध (सुप्त) रहती है, उसका पारिभाषिक नाम 'अवधूती' है। चन्द्र और सूर्य के मिलन अथवा प्रज्ञा और उपाय के आलिंगन से मध्य मार्ग का उन्मीलन होता है। क्लेश प्रभृति का यह अनायास नाश कर देती है, इसलिये इसे 'अवधूती' कहते हैं। अवधूती मार्ग ही अद्वय मार्ग, शून्य पथ और आनन्द स्थान है। यहां ग्राह्य और ग्राहक का भेद नहीं रहता, दोनों ही समरस होकर शून्याकार में विराजमान रहते हैं। यहीं उपशम रूप शान्तावस्था का उदय होता है, जो कि निर्वाण पदवी के नाम से प्रसिद्ध है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा. 2, पृ. 258–259)।

अवस्थापंचक

योगिनीहृदय (3/176–177) में बताया गया है कि मन्त्र के जप के समय शून्यषट्क, अवस्थापंचक और विषुवसप्तक की भावना करनी चाहिये। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या (तुरीया) और तुर्यातीत (तुरीयातीत) ये पांच अवस्थाएं हैं। मालिनी विजय (2/36–38) तथा तन्त्रालोक (10/227–287) में इन अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। जिस अवस्था में दस इन्द्रियों (पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय) के द्वारा जागतिक व्यवहार सम्पन्न होते हैं, उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं। जिसमें आन्तर चतुर्विध करण द्वारा व्यवहार की निष्पत्ति होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। स्वप्न में विद्यमान अन्तःकरण वृत्ति का लय होने पर सब इन्द्रियों

का उपरम जिस अवस्था में होता है, उसका नाम सुषुप्ति है। सुषुप्ति की भावना का स्थान भ्रूमध्य स्थित बिन्दु है। इस बिन्दु को हृल्लेखा या ऊर्ध्व बिन्दु कहते हैं। स्वात्मचैतन्य की अभिव्यक्ति के हेतु नाद का आविर्भाव ही तुरीय का स्वरूप है। अर्धचन्द्र, रोधिनी और नाद में इसकी भावना करनी चाहिये। तुरीयातीत अवस्था परमानन्द स्वरूप है। यह मन और वाणी से अतीत है, तथापि मन और वाणी का आभास देह में किसी न किसी तरह रह ही जाता है। नादान्त से शक्ति, व्यापिनी और समना के बाद उन्मना पर्यन्त तुरीयातीत अवस्था व्याप्त रहती है।

आचार

तान्त्रिक सम्प्रदाय सात प्रकार के आचारों में विभक्त हैं। कुलार्णव तन्त्र (2/7–8) में बताया गया है कि वेदाचार सबसे श्रेष्ठ है। वेदाचार से वैष्णवाचार महान्. है। वैष्णवाचार से शैवाचार उत्कृष्ट है। शैवाचार से दक्षिणाचार उत्तम है। दक्षिणाचार से वामाचार श्रेष्ठ है। वामाचार से सिद्धान्ताचार उत्तम है और सिद्धान्ताचार की अपेक्षा कौलाचार श्रेष्ठ है। इस संसार में कौलाचार से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। प्राणतोषिणी (पृ. 965–966) में उद्धृत नित्यातन्त्र प्रभृति ग्रन्थों में इन सातों आचारों का वर्णन मिलता है। इनका विवरण नीचे अकारादि क्रम से स्थापित इन शब्दों की व्याख्या में देखना चाहिये।

(क) कौलाचार

कौलाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 1027) में उद्धृत नित्यातन्त्र के वचनों में बताया गया है कि इस कौलाचार का आचरण करने वाले के लिये दिशा अथवा काल का भी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। तिथि आदि के नियम को मानना भी जरूरी नहीं है। महामन्त्र के साधन की भी कोई आवश्यकता नहीं है। कभी शिष्ट, कभी भ्रष्ट और कभी भूत, पिशाच आदि के समान वह नाना प्रकार के वेष धारण कर इस पृथ्वी पर निःशंक विचरण करता है। जो साधक कर्दम और चन्दन में, मित्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में, स्वर्ण और तृण में कोई भेद नहीं देखता, उसको कौल कहते हैं। उसका आचरण ही वास्तविक कौलाचार है। कुलाचार या कौलाचार के

नाम से इस विषय का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन मिलता है। अर्थरत्नावली टीका (पृ. 134–135) में विद्यानन्द ने कुलाचार का लक्षण बताते हुए लिखा है कि पर, सहज, कुलज और अन्त्यज क्रम से सोलह, आठ, चार और एक योगिनियों को आमंत्रित करना, उनके उपवास आदि का अनुष्ठान कर पवित्र हो जाने पर सुवर्ण, वस्त्र, माला, चन्दन, धूप, दीप, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य, चर्वण द्रव्य, पात्रासादन तथा दक्षिणा दान आदि से उनको संतुष्ट करना। यही वास्तविक कुलाचार है।

(ख) दक्षिणाचार

दक्षिणाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 965) में उद्धृत एक वचन में बताया गया है कि दक्षिणाचार का पालन करने वालों को चाहिये कि वे वेदाचार के अनुसार आद्या शक्ति की पूजा करें और रात को संवित् (विजया) का ग्रहण करके एकाग्र चित्त से जप करें।

यद्यपि नित्यातन्त्र और कुलार्णव में सात प्रकार के आचारों का उल्लेख है, तथापि प्रधानतः दक्षिणाचार और वामाचार ये दो प्रकार के आचार ही देखने में आते हैं। दक्षिणाचार तन्त्र में लिखा है कि इस तन्त्र में जिस प्रकार की कर्मपद्धति वर्णित है, वह शुद्ध वैदिक है। वास्तव में दक्षिणाचारी लोग वेदोक्त विधि के अनुसार ही भगवती की अर्चना करते हैं। वे वामाचारियों की तरह मद्य, मांस का सेवन तथा शक्ति साधन आदि नहीं करते। दक्षिणाचार तन्त्र में रक्त, मांस आदि से रहित सात्त्विक बलि ही ब्राह्मण के लिये विहित है। दक्षिणामूर्ति द्वारा प्रवृत्त होने से इसको दक्षिणाचार कहा जाता है।

(ग) वामाचार

वामाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 965) में उद्धृत आचार भेद तन्त्र के अनुसार वामाचार की परिभाषा यह दी गई है कि पंचतत्त्व अर्थात् पंचमकार, खपुष्प अर्थात् रजस्वला का रज और कुलस्त्री का पूजन प्रभृति के माध्यम से आद्या शक्ति की उपासना करने वाली विधि को वामाचार कहते हैं। इसमें साधक अपने में वामा भाव को जगाता है और इसी रूप में वह परा शक्ति की उपासना करता है।

बंगाल में तान्त्रिक शब्द से प्रधानतः वामाचारियों का ही बोध होता है। किसी के मत से ये वेदविरुद्ध आचरण करने से वामाचारी के नाम से प्रसिद्ध है। बंगाल के तान्त्रिकों में वामाचार और दक्षिणाचार दोनों ही मिश्रित हैं। उनके मत से मनुष्य जन्ममात्र से दक्षिणाचारी तथा दीक्षा और अभिषेक के बाद वामाचारी कहलाता है।

(घ) वेदाचार

वेदाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 280–283) में उद्धृत नित्यातन्त्र में बताया गया है कि साधक को चाहिये कि वह ब्रह्म मुहूर्त में उठे और गुरु के नाम के अंत में आनंदनाथ बोल कर उनको प्रणाम करे। फिर सहस्र दल पद्म में ध्यान करके पंचोपचार पूजा करे और वाग्भव बीज का जप करके परम शक्ति का ध्यान करे। संक्षेप में यही विधि वेदाचार के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त ग्रन्थ में रुद्रयामल, विश्वसार तन्त्र प्रभृति के आधार पर इस विषय को विस्तार से समझाया गया है। उस सारे प्रकरण का सार यह है कि सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने आन्तर वरिवस्था के माध्यम से जिस समयाचार का प्रतिपादन किया है, उसी का नामान्तर वेदाचार है।

(च) वैष्णवाचार

वैष्णवाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 965) में उद्धृत नित्यातन्त्र में बताया गया है कि वैष्णवाचार का पालन करने वाले को वेदाचार की विधि के अनुसार सर्वदा नियम तत्पर होना चाहिये। मैथुन या उसका कथा प्रसंग भी कभी नहीं करना चाहिये। हिंसा, निन्दा और कुटिलता का आचरण कभी नहीं करना चाहिये। मांस भोजन का परित्याग करना चाहिये। रात्रि में कभी भी माला या यन्त्र को नहीं छूना चाहिये। भगवान् विष्णु की ही सदा पूजा करे तथा उन्हीं को सब कुछ निवेदित कर दे। वैष्णवाचार का पालन करने वाला इस सारे जगत् को विष्णुमय ही मानता है।

(छ) शैवाचार

शैवाचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 965) में उद्धृत

नित्यातन्त्र के एक वचन में कहा गया है कि शैवाचार और शाक्ताचार का पालन करने वालों के लिये भी वही व्यवस्था है, जो कि वेदाचार का पालन करने वालों के लिए विहित है। शैवाचार में विशेषता यह है कि यहां पशु बलि का भी विधान है। इस आचार में पशु बलि को निषिद्ध घोषित नहीं किया गया है। शैवागम और शैवतन्त्र प्रतिपादित आचार विधि का पालन करना ही वस्तुतः शैवाचार पद का अभिप्राय है।

(ज) सिद्धान्ताचार

सिद्धान्ताचार का वर्णन करते हुए प्राणतोषिणी (पृ. 965) में उद्धृत एक वचन में बताया गया है कि सिद्धान्ताचार में शुद्ध या अशुद्ध सभी प्रकार की वस्तुएं शास्त्रोक्त विधि से शुद्ध कर ली जाती हैं। प्राणतोषिणी (पृ. 965) में ही उद्धृत समयाचारतंत्र में सिद्धान्ताचारियों के विषय में बताया गया है कि वे सर्वदा देव पूजा में निरत रहते हैं। दिन में तो ये वैष्णवाचार विधि से जीवन–यापन करते हैं, किन्तु रात्रि में मिल जाने पर ये भक्ति–भाव से मद्य आदि का भी सेवन कर अपने को कृतकृत्य, आप्तकाम मानते हैं।

आज्ञाचक्र

विशुद्धि चक्र के ऊपर भ्रूमध्य में हिम के सदृश श्वेत वर्ण का आज्ञाचक्र अवस्थित है। यह द्विदल पद्म है। इसको आज्ञाचक्र इसलिये कहते हैं कि यहां गुरु की आज्ञा शिष्य में पूर्ण रूप से संक्रांत हो जाती है। इस द्विदल पद्म के दलों पर अर्धचन्द्र और बिन्दु से अलंकृत हकार और सकार वर्ण अंकित हैं। इनका भी वर्ण श्वेत ही है। इस पद्म की कर्णिका में चन्द्रिका के समान धवल वर्ण की छः मुंह वाली हाकिनी शक्ति विराजमान है। यह अपने छः हाथों में विद्या, वरमुद्रा, अभय मुद्रा, कपाल, डमरु और जपमाला को धारण किये हुए हैं। इस कमल की कर्णिका में मन का निवास है और यहीं त्रिकोण स्थान में इतर लिंग की भी स्थिति है। यहीं प्रणव का ध्यान किया जाता है। अकार, उकार, मकार, नाद और बिंदुमय–यह प्रणव अन्तरात्मा का प्रतिबिम्ब माना गया है। इसका वर्ण दीपशिखा के समान भास्वर है। इसमें चित्त के लीन हो जाने पर योगी बाह्य विषयों से संबंध का विच्छेद करा देने वाली योनिमुद्रा अथवा खेचरी मुद्रा में प्रतिष्ठित हो

जाता है और वह प्रणव की अन्य कलाओं के साक्षात्कार में भी समर्थ हो जाता है। सहस्रार स्थित, चन्द्र और सूर्य मंडल में जैसे परम शिव का निवास है, उसी तरह इस भ्रूमध्य स्थित चक्र में भी भगवान् शिव अपने तृतीय ज्ञाननेत्र का उन्मीलन कर पूर्ण वैभव के साथ निवास करते हैं। इस आज्ञाचक्र में प्राणों को समारोपित कर योगी वेदान्तवैद्य परम पद में प्रवेश पा सकता है। इसके ऊपर महानाद की स्थिति है। गुरु चरणों की कृपा होने पर ही योगी इसका साक्षात्कार कर सकता है। इस महानाद में आकर वायु लीन हो जाती है। यह महानाद शिव शक्तिमय है। (श्री तत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरुपण, 6)।

आणव उपाय

उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण और स्थान कल्पना का अभ्यास आणव उपाय है। इनमें से किसी भी एक उपाय के अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता को आणव समावेश दशा कहते हैं। अणु अर्थात् परिमित प्रमाता परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश प्रभृति को उपाय के रूप में स्वीकार करता है, इसलिये इसको आणव उपाय कहा जाता है।

इनमें से ध्यान बुद्धि का व्यापार है। प्राण स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। स्थूल प्राण का व्यापार उच्चार है। यह प्राण आदि की वृत्तियों के रूप में प्रकट होता है। सूक्ष्म प्राण को वर्ण शब्द से कहा जाता है। शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का नाम करण है। घट–स्थापन, मण्डल–निर्माण, मंदिर, मूर्ति, चित्र आदि की रचना जैसी विधियों का समावेश स्थान–कल्पना में होता है। अपि च, सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। प्राण, अपान आदि वायु की श्वास–प्रश्वास, क्षुत् (छींक) प्रभृति वृत्तियां उच्चार कहलाती हैं। स्वच्छन्द तन्त्र की टीका (पृ.7, पृ. 306) में क्षेमराज ने किसी मुद्रा (करण) या बन्ध में बैठकर मन्त्र के जप करने को उच्चार बताया है। प्राण के उच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाले सकार और हकार वर्ण कहे जाते हैं। इस स्थिति को शास्त्रों में अजपा जप कहा गया है। ये सभी वर्णों और मंत्रों का बोध कराते हैं। अथवा वर्ण शब्द काले–पीले आदि रंगों

का भी बोधक है। विज्ञानभैरव की धारणा संख्या 63 में कृष्ण वर्ण की भावना वर्णित है। तिमिर भावना (60–62 धारणाएं) का भी इसी में समावेश किया जा सकता है। बौद्ध योगशास्त्र में कसिण भावना के अन्तर्गत नील, पीत प्रभृति कसिणों का उल्लेख मिलता है (द्रष्टव्य – बौद्ध धर्म दर्शन, पृ. 76)।

त्रिशिरोभैरव के आधार पर तन्त्रालोक (भा.3, आ. 5, पृ. 438–443) में करण के सात भेद बताये गये हैं। इनके नाम हैं – ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, संनिवेश, व्याप्ति, आक्षेप और त्याग। तन्त्रालोक के 16वें आह्निक में ग्राह्य और ग्राहक का, 11वें आह्निक में संवित्ति का, 15वें आह्निक में व्याप्ति का, 29वें आह्निक में त्याग और आक्षेप का और 32वें आह्निक में संनिवेश (मुद्रा) का विस्तार से वर्णन किया गया है। जिज्ञासु जनों को इनका वहीं अवलोकन करना चाहिये।

प्राण शक्ति, अर्थात् हृदय के स्पन्दनात्मक सामान्य व्यापार में, शरीर में विद्यमान नाडियों तथा चक्रों में तथा बाहर लिंग, चत्वर, प्रतिमा प्रभृति में स्थान कल्पना की विधि सम्पन्न की जाती है। सामान्य स्पन्द तत्त्व के उन्मेष के बाद ही उसमें षडध्व का स्फुरण होता है। कार्यकारण स्थल में क्रम से और कुहन प्रयोग (इन्द्रजाल से निर्मित पदार्थ) आदि में अक्रम से सभी पदार्थों की कलना करने वाला परमेश्वर का काल नामक स्वरूप सबसे पहले भासित होता है। भगवान् का यह स्वरूप अभेदावस्था में काली शक्ति और भेदावस्था में प्राण शक्ति के नाम से जाना जाता है। संवित्स्वरूपा काली शक्ति में अपनी इच्छा से क्रम और अक्रम रूप से नाना रूपों में भासित होने के लिए क्रिया शक्ति का उन्मेष होता है। इस क्रिया शक्ति का प्रथम उन्मेष प्राण व्यापार है। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' कल्लट के इस वचन में यही बात प्रतिपादित है। यह प्राण शक्ति अपने प्राण, अपान आदि पांच रूपों में जीव को आप्यायित किये रहती है। इसी के रहने पर यह चेतन कहलाता है। इस क्रिया शक्ति के पूर्व भाग में कालाध्वा और उत्तर भाग में देशाध्वा की स्थिति है। कालाध्वा में पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप वर्ण, मन्त्र और पद की तथा देशाध्वा में कला, तत्त्व और भुवन की स्थिति है। शब्द और अर्थ स्वरूप शिव और शक्ति में व्याप्य व्यापक भाव से पर, सूक्ष्म और स्थूल रूप से विद्यमान वर्ण, पद, मन्त्र और कला, तत्त्व, भुवन–षडध्व के

नाम से अभिहित होते हैं। यहं सारा जगत् षडध्वमय है। इसका उन्मेष क्रिया शक्ति से होता है। सारे षडध्वात्मक जगत् में बाहर–भीतर सब जगह प्राण शक्ति का स्पन्दन सतत प्रवृत है, तो भी हृदय प्रभृति स्थानों में ही इसके स्फुरण की अनुभूति होती है। प्राण शक्ति के स्फुरण में ईश्वर की शक्ति, जीव की शक्ति और उसका प्रयत्न इन तीनों की उपयोगिता है। हृदय प्रभृति स्थानों में स्पन्दमान इस प्राण शक्ति में चित्त को विलीन कर देना भी स्थान–कल्पना नामक आणव उपाय का अंग है। इसी तरह से शरीर के भीतर विद्यमान नाडी, चक्र प्रभृति स्थानों में और बाहर लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में चित्त को नियोजित करना भी स्थान–कल्पना के अंतर्गत है। वस्तुतः बुद्धि, प्राण, देह, देश प्रभृति की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। ये सब विकल्पात्मक हैं। तो भी इनके सहारे परमार्थ स्वरूप तक पहुंचा जा सकता है (तन्त्रालोक 5/7, विवेक 5/10)। इन विकल्पात्मक स्थूल उपायों को ही आणव उपाय कहा जाता है।

आचार

तन्त्र शास्त्र में ऋ ॠ ऌ ॡ ये चार स्वर षण्ढ (नपुंसक) कहे गये हैं। अतः ध्यान आदि में इनका उपयोग नहीं किया जाता। सोलह स्वरों में से इन चार षण्ढ स्वरों को निकाल देने पर उनकी संख्या बारह रह जाती है। इन बारह स्वरों की जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र शक्ति और व्यापिती—इन बारह चक्रों या आधारों में भावना का विधान विज्ञान भैरव (श्लो. 30) प्रभृति ग्रन्थों में मिलता है। कहीं कहीं नामों में कुछ अंतर मिल जाता है। शास्त्रों में मतभेद से हृदय या जन्माधार के द्वादशान्त पर्यन्त, कन्द से ब्रह्मरन्ध्र तक, जन्माग्र से द्वादशान्त तक अथवा आचार से द्वादशान्त तक प्राण शक्ति की गति मानी गई है। इनमें जन्माग्र और जन्म तथा मूल और गुदाधार शब्द पर्यायवाची है। नेत्रतन्त्र (7/1–5) की व्याख्या में क्षेमराज ने अंगुष्ठ, गुल्फ, जंतु, मैढ्, पायु, कन्द, नाडि (नाभि) जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त—ये सोलह आधार गिनाये हैं। इसके अनुसार जन्माग्र या जन्म मेढ् का तथा मूल या गुदाधार पायु का पर्यायवाची है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द (पृ. 59) और भास्कर राय ने कन्द

को सुषुम्ना नाडी का मूल स्थान और उसमें रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति का पर्यायवाची माना है। ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर यहां शक्ति और व्यापिनी का स्थान माना गया है। योगिनीहृदय (1/25–34) में अकुल, विष, वह्नि, शक्ति, नाभि, अनाहत (हृदय) विशुद्धि, लम्बिकाग्र, भ्रूमध्य (आज्ञा) के ऊपर ललाट में क्रमशः एक दूसरे के ऊपर बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना की स्थिति मानी गई है। विज्ञान भैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने 42वें श्लोक की व्याख्या में सोलह भूमियों का उल्लेख किया है। ऊपर गिनाये गये सोलह आधारों से इनकी कोई संगति नहीं बैठती। कुलागमसंमत सोलह आधारों का वर्णन नेत्रतन्त्र (7/1–5) की क्षेमराज कृत व्याख्या में मिलता है। नामों में भिन्नता होते हुए भी इनका क्रम योगिनीहृदय से मिलता है।

आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी

रुद्रयामल तन्त्र का उपदेश आनंदभैरव ने आनन्दभैरवी को किया है। इस तरह से आनन्दभैरव शिव के अवतार और आनन्दभैरवी शक्ति के अवतार के रूप में तन्त्रशास्त्र में मान्य हैं। शक्तिसंगमतन्त्र में अनेक स्थानों पर विभिन्न विधि–विधानों के संबंध में आनंद भैरव के मत का उल्लेख मिलता है। योगिनी हृदय (3/105–106) में अर्ध्य के प्रकरण में नवात्म मन्त्र से अमृतेशी (आनन्द भैरवी) के साथ आनन्द भैरव की पूजा करने की विधि बताई गई है। दीपिका (पृ. 257) और सेतुबन्ध (पृ. 260) टीका में नवात्म मन्त्र का उद्धार भी प्रदर्शित है। इस नवात्म मन्त्र का उच्चारण करने के उपरान्त 'आनन्दभैरवाय वौषट्' कह कर आनन्दभैरव और अमृतेशी (आनन्दभैरवी) को अर्ध्यप्रदान द्वारा तृप्त करना चाहिये। इनका ध्यान प्राणतोषिणी तन्त्र (पृ. 989) में वर्णित है।

अभिनवगुप्तकृत देहस्य देवताचक्रस्तोत्र (श्लो. 4,5) में हृदयकमल में प्रतिष्ठित चैतन्य को आनन्दभैरव और उसकी अहंविमर्शमयी शक्ति को आनन्दभैरवी कहा गया है।

आप्यायन

प्राणायाम के प्रसंग में सलिल बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम

15—19HRD/99

के अभ्यास से साधक शरीर को आप्यापित करने वाली आप्यायन विधि का वर्णन किया गया है। शिष्य को मन्त्र दीक्षा देते समय गुरु मन्त्र को दशविध संस्कार से संस्कृत करता है। ये दशविध संस्कार शारदातिलक (2/112–113) में इस प्रकार वर्णित है – जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गोपन। इन शब्दों की व्याख्या भी नहीं (3/114–122) की गई है। तदनुसार 'ऊँ ह्रौं' इस ज्योति मन्त्र के उच्चारण के साथ मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को कुशोदक से प्रौक्षित करने की क्रिया को आप्यायन कहा गया है। नेत्रतन्त्र (18/6–8) में मन्त्रों के नवविध संस्कार ही वर्णित हैं। बांकार से मन्त्र के प्रत्येक वर्ण को संपुटित करने की क्रिया को वहां आप्यायन बताया गया है।

आम्नाय विभाग

तान्त्रिक वाङ्मय का स्रोतोविभाग और आम्नाय विभाग प्रसिद्ध है। इनमें पहला विभाग शैव तन्त्रों के लिये और दूसरा विभाग शाक्त तन्त्रों के लिये मान्य है। कुलार्णवतन्त्र (3/7) में बताया गया है कि शिव के तत्पुरुष, सद्योजात, अघोर, वामदेव और ईशान नामक पांच मुखों से क्रमशः पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्व आम्नायों का, तदन्तर्गत तन्त्रों का आविर्भाव हुआ। यह आम्नाय विभाग परशुराम कल्पसूत्र (1/2) में भी प्रदर्शित है, किन्तु उसका क्रम कुछ भिन्न है। नित्याषोडशिकार्णव प्रभृति ग्रन्थों में चार ही आम्नाय स्वीकृत है। प्रायः सभी टीकाकार इससे सहमत भी हैं। किन्तु भास्कर राय का कहना है कि चतुः पद ऊर्ध्वाम्नाय का भी द्योतक है। इन ग्रन्थों में आम्नाय के स्थान पर समय तथा अन्वय पद भी प्रयुक्त है। सौन्दर्य लहरी (1/10) में छः आम्नाय सूचित हैं। टीकाकार कैवल्याश्रम अनुत्तराम्नाय को छठा आम्नाय मानते हैं। नेत्रतन्त्र (16/76) और तन्त्रालोक (15/204–206) में षष्ठ आम्नाय का उल्लेख रहस्यस्त्रोतस्, ज्येष्ठ, अधोवक्त्र, पातालवक्त्र अथवा पिचुवक्त्र के नाम से हुआ है। इन षडाम्नाय तन्त्रों का विस्तार से वर्णन शक्तिसंगत तन्त्र प्रभृति ग्रन्थों में मिलता है।

इडा नाडी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त

नाडियों में से तीन नाडियां मुख्य हैं – इडा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमें से इडा नाडी शरीर के वाम भाग में स्थित है, जो कि सोमात्मक मानी जाती है। इडा नाडी वाम मुष्क से उठ कर धनुष की तरह तिरछे आकार में बायें गुर्दे और हंसुली में से होती हुई वाम नासिका तक गतिशील रहती है। इडा नाडी शंख और कुन्द के समान श्वेत वर्ण की है। इसमें चन्द्रमा का संचार होता है। यह ऊर्ध्वगामिनी नाडी है। ज्ञानसंकलिनी (11–12 श्लो.) में इडा नाडी को गंगा बताया गया है। सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले जीवों को यह नाडी धूम मार्ग, अर्थात् पितृयाण मार्ग से पितृलोक में ले जाती है, जो कि पुनर्जन्म का कारण बनता है। इन नाडियों का शोधन किये बिना साधक कभी भी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। पूरक प्राणायाम करते समय इडा नाडी से ही वायु को ऊपर उठाया जाता है। जब इडा नाडी से स्वर चलता है, तब प्रत्येक शुभ कार्य करने में सफलता मिलती है।

उन्मेष

उन्मेष का शब्दार्थ है खिलना, विकास। यह शैव और शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त एक पारिभाषिक शब्द है। स्पन्दकारिका (श्लो. 41) में इसका लक्षण दिया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब किसी एक चिन्ता में पड़ा रहता है, तभी उसके मन में दूसरी चिन्ता (विचार) का आविर्भाव हो जाता है। जिस क्षण में एक चिन्ता से दूसरी चिन्ता में चित्त प्रविष्ट होता है, संवेदन का यही सन्धि–बिन्दु 'उन्मेष' कहलाता है। साधक को चाहिये कि वह इस उन्मेष दशा का साक्षात्कार करे। चित्त का स्वभाव है कि वह एक विचार से दूसरे विचार की ओर दौड़ता रहता है। यदि कोई साधक एक विचार के समाप्त होते ही दूसरे विचार के उदय होने से ठीक पहले चित्त की वृत्ति को शान्त कर दे, तो वह इस उन्मेष दशा में प्रविष्ट हो सकता है। क्योंकि ऐसा करने से आगे की चिन्ता का उत्थान ही नहीं होगा और पहली चिन्ता के विलीन हो जाने से चित्त उस क्षण में वृत्ति–शून्य हो जायेगा। इस उन्मेष दशा में चित्त को स्थिर कर देने से सारी इच्छाएं जहां से उत्पन्न होती हैं, वहीं विलीन हो जाती है अर्थात् जिस उन्मेष स्वरूप स्पंद तत्त्व से ये इच्छाएं पैदा होती हैं, उसी में ये विलीन भी हो जाती हैं और इस प्रकार साधक योगी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

उपाय

मालिनी विजय तन्त्र (2/21–23) में स्वस्वरूप की अधिगति के लिये संक्षेप में आणव, शाक्त और शाम्भव नामक त्रिविध उपाय तथा उनकी सहायता से प्राप्त होने वाली त्रिविध समावेश (समाधि) दशाओं का वर्णन किया गया है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में तृतीय से लेकर द्वादश आह्निक तक अत्यन्त विस्तार से और तन्त्रसार (पृ. 10–114) में अपेक्षाकृत कम विस्तार से, महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी की चार कारिकाओं (56–59) तथा उनकी परिमल व्याख्या (पृ. 138–153) में संक्षेप में इस विषय को समझाया है। इन तीनों उपायों को समझाने के लिये विज्ञान भैरव के 24वें श्लोक की षड्विध व्याख्या की जाती है। इनके अतिरिक्त अनुपाय प्रक्रिया का भी इसी में समावेश किया जाता है। अभिनवगुप्त प्रभृति ने इन उपायों का जिस तरह का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उन्होंने आणव उपाय में क्रम और कुल दर्शन से भिन्न समस्त तान्त्रिक और यौगिक विधियों का समावेश किया है। शाक्त उपाय के रूप में क्रम दर्शन की, शाम्भव उपाय के रूप में उन्होंने कुल दर्शन की व्याख्या की है और प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अनुपाय प्रक्रिया माना है। इन चारों उपायों का वर्णन यथास्थान किया गया है।

इनके अतिरिक्त स्थूल, सूक्ष्म और पर पद्धति से त्रिविध उपाय मृत्युंजयभट्टारक (नेत्र तन्त्र) के 6–8 अधिकारों में विस्तार से वर्णित हैं। याग, होम, जप, ध्यान, मुद्रा, यंत्र मन्त्र– ये सब स्थूल उपाय हैं। षटचक्र, षोडश आधार आदि में प्राण–चार की भावना को सूक्ष्म उपाय बताया गया है। अष्टांग योग के अभ्यास से प्राप्त होने वाली सर्वात्म भाव की स्थिति को पर उपाय माना गया है।

एकलिंग

शक्ति संगम (1/6) प्रभृति शाक्त तंत्रों में दीक्षा के लिये उपयुक्त स्थानों में पर्वत, शून्यगृह, मंदिर अथवा अरण्य, श्मशान, नदी–समुद्र संगम, चक्रपाणि (कुम्हार) गृह, एकलिंग आदि का समावेश है। इनमें से एकलिंग का लक्षण शक्तिसंगमतन्त्र (1/8/110–111) में इस प्रकार दिया है – जिस

मंदिर में पश्चिमाभिमुख पुरातन शिवलिंग हो, उसके सामने नन्दी की मूर्ति न हो तथा जिसके चार–पांच कोस के घेरे में अन्य कोई लिंग न दिखाई पड़े, उस स्थान को एकलिंग कहते हैं। यहां इष्ट की आराधना करने से अनुत्तम सिद्धि प्राप्त होती है। राजस्थान राज्य में उदयपुर से नाथद्वारा जाते समय बीच में एकलिंग जी का मंदिर पड़ता है। किन्तु यह लिंग पाशुपत मत के अनुसार पंचमुख शिव का है। कौलज्ञान निर्णय में संगृहीत ज्ञानकारिका (3/7–9) में कौलिक लिंग अर्थात् देहज लिंग को एकलिंग बताया गया है। तन्त्रालोक (15/82–96) में बताया गया है कि कामरूप, पूर्णगिरि और उड्डियान पीठ से पर्वताग्र, नदीतीर और एकलिंग का प्रादुर्भाव होता है।

ओघ

तन्त्रशास्त्र में ज्ञान की परम्परा को ओघ (प्रवाह) के नाम से जाना ज़ाता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ के भेद से यह तीन तरह की होती है। देवताओं की परम्परा दिव्यौघ, सिद्धों की परम्परा सिद्धौघ और मानव गुरुओं की परम्परा मानवौघ के नाम से प्रसिद्ध है। तन्त्र की प्रत्येक शाखा का ज्ञान पहले देवताओं को प्राप्त हुआ। देवताओं से सिद्धों को और सिद्धों से वह मानवों को प्राप्त हुआ। यह गुरु–परम्परा शास्त्रों में क्रमोदय, गुरुमण्डल या गुरुपंक्ति के नाम से भी अभिहित हुई है। हादिविद्या के दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरुओं की नामावली ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीप विमर्शिनी, सौभाग्य सुधोदय प्रभृति ग्रन्थों में मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की गुरुपंक्ति का परिचय दीक्षित शिष्य को अपने गुरु से प्राप्त होता है।

ओवल्ली

तन्त्रशास्त्र में ज्ञान की परम्परा (प्रवाह) को औवल्ली के नाम से भी जाना जाता है। तन्त्रालोक (29/36) में बताया गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने अपना ज्ञान छः राजपुत्रों को दिया और उनका नाम आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्दान्त रखा, अर्थात उनको यह निर्देश दिया कि अपने शिष्यों के नामों के अन्त में इन शब्दों को जोड़ें। मत्स्येन्द्रनाथ

के इन षड्विध शिष्यों की यह परंपरा (प्रवाह) ही औवल्ली के नाम से अभिहित है। मत्स्येन्द्रनाथ कौल शास्त्र के आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं। बौद्ध और जैन योग पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। बौद्ध तन्त्रशास्त्र (वज्रयान) के अनेक प्रसिद्ध आचार्यों के नाम बोधि, प्रभु और पाद नामक ओवल्लियों से संबद्ध हैं। स्पष्ट है कि इन नामों से अंकित आचार्यगण मत्स्येन्द्रनाथ के ही ज्ञानप्रवाह से किसी न किसी प्रकार से जुड़े हुए हैं।

करण

'करणं देहसंनिवैशविशेषात्मा मुद्रादिव्यापारः' (पृ. 35) शिवसूत्र विमर्शिनी के परिशिष्ट (टि. 19) में करण का यह लक्षण बताया गया है। योग शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित खेचरी प्रभृति मुद्राओं और जालन्धर प्रभृति बन्धों का इसी में समावेश किया जाता है। इनमें शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखने का अभ्यास किया जाता है। करण की गणना आणव उपाय में की जाती है। त्रिशिरोभैरव के आधार पर तन्त्रालोक के पंचम आह्निक (पृ. 438–443) में करण के सात भेद बताये गये हैं। इनके नाम हैं – ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, संनिवेश, व्याप्ति, आक्षेप और त्याग। तन्त्रालोक के 16वें आह्निक में ग्राह्य और ग्राहक का, 11वें आह्निक में संवित्ति का, 15वें आह्निक में व्याप्ति का, 29वें आह्निक में त्याग और आक्षेप का और 32वें आह्निक में संनिवेश (मुद्रा) का संकेत भाव से वर्णन मिलता है।

कादि-हादि-कहादि मत

शक्तिसंगम तन्त्र (1/1/9–10, 2/58/78–79) में बताया गया है कि तन्त्रराज तन्त्र में आठ खण्ड हैं। चार खण्ड पूर्वार्ध में और चार खण्ड उत्तरार्ध में हैं। पूर्वार्ध में कादिमत का और उत्तरार्ध में हादि मत का प्रतिपादन किया गया है। काली के मन्त्र का प्रथम अक्षर ककार है और सुन्दरी के मन्त्र का पहला वर्ण हकार है। अतः काली का सम्प्रदाय कादिमत के नाम से और सुन्दरी का सम्प्रदाय हादिमत के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। ककार ब्रह्मरूप है और हकार शिव स्वरूप। यहीं अन्यत्र (1/2/98–99) बताया गया है कि उक्त उभय मतों का प्रतिपादक होने से ही तन्त्रराज तन्त्र को विराण्मत के नाम से भी जाना जाता है। उक्त दो मतों के अतिरिक्त इस

तन्त्र (2/6/35) में कहादि मत का उल्लेख कर उसकी व्याख्या की गई है कि इस मत में तारिणी (तारा) विद्या की आराधना की जाती है। वहीं इसको उत्तराम्नाय विद्या भी कहा गया है। इस विषय की विशेष जानकारी उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के उपोद्घात (पृ. 28–30) से प्राप्त की जा सकती है।

कामकला

अकार रूप प्रकाश के साथ हकाररूप विमर्श का, अर्थात् अग्नि के साथ सोम का साम्य भाव ही काम अथवा रवि के नाम से प्रसिद्ध है। शास्त्रों में जिस अग्नीषोमात्मक बिन्दु का उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है। शिव ही अकार और शक्ति ही हकार है। बिन्दु रूप में यही अहम् अथवा अहन्ता है। साम्य के भंग होने पर यह बिन्दु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त बिन्दु के रूप में आविर्भूत होता है। इसमें प्रकाश शुक्ल बिन्दु और विमर्श रक्त बिन्दु है। दोनों ही परस्पर अनुप्रवेशात्मक साम्यावस्था मिश्र बिन्दु है। शुक्ल बिन्दु अग्नि का, रक्त बिन्दु सोम का और मिश्र बिन्दु रवि या काम का प्रतिनिधित्व करता है। अग्नीषोमात्मक बिन्दु भी रवि या काम के ही कलाविशेष हैं। अतः कामकला के नाम से उक्त तीनों बिन्दुओं का बोध होता है। इन तीन बिन्दुओं की समष्टि ही भगवती त्रिपुरा का अपना स्वरूप है। इसका ऊर्ध्व बिन्दु (रवि) देवी के मुख के रूप में अग्नि और सोम बिन्दु स्तनद्वय के रूप में तथा हकार की अर्धकला योनि के रूप में ध्येय है। कामकला का यही स्वरूप है। नित्याषोडशिकार्णव (1/185–186), कामकला–विलास (1–6 श्लो.) प्रभृति ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। 'हर' इस पद का आधा भाग 'र' अक्षर है। इसी को अक्षरोवासना के क्रम में हराध कहा गया है। इसका आकार प्राचीनतर लिपि में जैसा है उसी के ऊपर यदि दो बिन्दुओं को और उन दो के ऊपर एक और बिन्दु को लगा दिया जाए तो निष्कला कामकला का अक्षरमय रूप बन जाता है। इसी अक्षररूपिणी कामकला का वर्णन 'मुखं बिन्दुं कृत्वा' इत्यादि श्लोक के द्वारा सौन्दर्यलहरी में किया गया है। परन्तु इस रहस्य को और प्राचीन लिपियों को न जानने के कारण चिद्विलास टीका आदि ग्रन्थों में बड़े–बड़े विद्वानों ने भी पाठकों के सामने भ्रान्त धारणाओं को उपस्थित किया है।

मातृका–उपासना कश्मीर में बहुत प्रचलित थी। शारदा लिपि में अब भी कामकला भगवती के निष्फल रूप को बिन्दुत्रय युक्त हरार्ध में स्पष्ट देखा जा सकता है। वही सौन्दर्यलहरी में वर्णित मन्मथकला का लिपिमय आकार है। आगे 'हार्धकला' शब्द की व्याख्या को भी देखिए।

कामराज विद्या

कामराज संतान और लोपामुद्रा सन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। कामराज सन्तान के प्रवर्तक क्लीमानन्द, अर्थात् रति के पति कामदेव हैं। इन्होंने ही सर्वप्रथम लोक में कादि विद्या को प्रवृत्त किया। इसीलिये इस विद्या का नाम कामराज विद्या पड़ा। कादि विद्या का अभिप्राय त्रिपुरा भगवती के उस मन्त्र से है, जिसका आरंभ ककार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या आज भी लोक में प्रवृत्त है। प्रपंचसार, सौन्दर्यलहरी नित्याषौडशिकार्णव प्रभृति ग्रन्थों में इस विद्या का उद्धार और उपासना विधि विस्तार से वर्णित है। ज्ञानार्णव, श्रीविद्यार्णव प्रभृति ग्रन्थों में इस विद्या के अनेक भेदों और उपभेदों का वर्णन मिलता है। भास्कर राय इस विद्या की परम्परा के उज्जवल रत्न हैं। नित्याषोडशिकार्णव की टीका सेतुबन्ध, ललितासहस्त्रनामभाष्य, वरिवस्यारहस्य प्रभृति ग्रन्थों में इस विद्या के गरिमामय दर्शन का उन्होंने बड़ी ही ओजपूर्ण भाषा में प्रतिपादन किया है।

कामेश्वर-कामेश्वरी

शिव और शक्ति ही त्रिपुरा सिद्धांत में कामेश्वर और कामेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः परम शिव ही प्रकाश और विमर्श के रूप में विभक्त होकर कामेश्वर और कामेश्वरी का रूप धारण करते हैं। शृंगाट के मध्य स्थित महाबिन्दु में, जो कि ओड्याण पीठ का प्रतीक है, इनकी उपासना की जाती है। त्रिपुरा विद्या का प्रथम उपदेश भगवान् कामेश्वर भगवती कामेश्वरी को ही करते हैं। ये ही कृतयुग में चर्यानाथ और त्रिपुरसुन्दरी के रूप में अवतीर्ण होते हैं। त्रेता, द्वापर और कलियुग में भी ये विभिन्न नामों से मिथुन भाग में अवतीर्ण होते हैं। इनका विवरण नित्याषोडशिकार्णव प्रभृति ग्रन्थों में मिलता है। त्रिकोण के बाहर पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण

दिशाओं मे बाण, धनुष, पाश और अंकुश नामक आयुधों की पूजा का विधान है। (नि.षो. 1/179–180)। योगिनी–हृदय (1/54) में आश्रय और आश्रयी (कामेश्वर और कामेश्वरी) के भेद से इनकी संख्या आठ बताई गई है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक स्त्री को साध्य मान कर यदि प्रयोग करना चाहे तो उक्त चार आयुधों से संवलित कामेश्वरी का ध्यान करे। त्रिपुरा सम्प्रदाय में कामेश्वरी पद का प्रयोग षोडश नित्याओं में से द्वितीय नित्या, वशिनी प्रभृति आठ आवरण देवताओं में द्वितीय देवता तथा कामरूप पीठ की अधिष्ठात्री के लिये भी होता है। किन्तु इनमें से किसी का भी संबंध कामेश्वर के साथ नहीं है, अर्थात् सदाशिवाय बैन्दव चक्र में बैन्दवासन पर तो कोमश्वरांक निलया कांमेश्वरी की ही उपासना होती है, जो कि कामेश्वर के साथ वहां नित्य समरसभाव में अवस्थित रहती हैं।

कारण बिन्दु

भास्कर राय आगम और तन्त्रशास्त्र के अंतिम महान् आचार्य माने जाते हैं। नित्याषोडशिकार्णव की सेतुबंध टीका, वरिवस्या रहस्य और ललिता सहस्त्र नाम की सौभाग्य भास्कर व्याख्या इनके प्रसिद्धतम ग्रन्थ हैं। सौभाग्य भास्कर में प्रसंगवश इन्होंने प्रपंचसार में प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या की है। वे लिखते हैं कि प्रलयावस्था में ब्रह्म घनीभूत दशा में अवस्थित रहता है। उस समय आगे जिन प्राणियों की सृष्टि की जाने वाली है, उनके कर्मों के साथ ब्रह्मा की माया शक्ति भी प्रसुप्तावस्था में रहती है। समय के अनुसार कर्मों का परिपाक होने पर ब्रह्म की विचिकीर्षा उत्पन्न होती है। उस समय माया शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है। ब्रह्म की यह शक्ति अव्यक्त के नाम से अभिहित होती है, क्योंकि इस दशा में यद्यपि कर्मों का परिपाक हो जाता है और उसकी शक्ति भी प्रबुद्ध हो जाती है, किन्तु वह अभी अव्यक्त रहती है। इसी को कारण बिन्दु कहते हैं, क्योंकि यह जगत रूपी अंकुर का कन्द भाग है। कन्द भाग, अर्थात् जड़ के विकसित होने के बाद ही जैसे अंकुर फूटकर ऊपर आता है, उसी तरह से इस कारण बिन्दु के विकास के बाद ही आगे की सृष्टि चलती है 'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदम्योति बिन्दुताम्' प्रपंचसार के इस वचन में बिन्दु पद कारण बिन्दु का बोधक है।

कार्य बिन्दु

कारण बिन्दु से क्रमशः कार्य बिन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति होती है, जो कि पदार्थों की पर, सूक्ष्म और स्थूल दशा के प्रतीक हैं। ये क्रमशः चित्स्वरूप, चिदचिन्मिश्रित स्वरूप और अचित्स्वरूप होते हैं। ये ही कारण बिन्दु प्रभृति चार तत्त्व अधिदैवत अवस्था में अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् के, शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री शक्ति के तथा अम्बिका, इच्छा, ज्ञाना, क्रिया शक्ति के रूप में विकसित होते हैं। अधिभूत अवस्था में ये कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ का रूप धारण करते हैं और अध्यात्म पक्ष में कारण बिन्दु, शक्ति, पिण्ड, कुण्डली प्रभृति शब्दों से अभिहित होते हैं, जिनकी कि स्थिति मूलाधार में रहती है।

कालचक्र

कालचक्र शब्द का सामान्य अर्थ समय का चक्र है, जो कि निरन्तर गतिशील है, रात–दिन घूमता रहता है। किन्तु बौद्ध तन्त्रों में यह एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहां इसका अर्थ अद्वय, अक्षर, परम तत्त्व है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्ति है। चक्र पद का अर्थ संवृति रूप शून्यता है। बौद्ध तन्त्रों में बताया गया है कि जाग्रत् अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधिचित काय शान्त या विकल्पहीन होता है, यही 'का' से अभिप्रेत है। कायबिन्दु के निरोध से ललाट में निर्माणकाय नाम का बुद्धकाय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है, यही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग्बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में संभोगकाय का उदय होता है, जो 'ल' से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त बिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्द आदि विषयों में विचरण करता है। इसीलिये चंचल रहता है और तम से अभिभूत हो जाता है। अठारह प्रकार के धातु विकारों से यह विकृत रहता है। इनका अपसारण करने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही 'च' का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब काय आदि सभी बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का भी नाश हो जाता है। स्वरगत ज्ञानबिन्दु के निरोध से नाभि में सहजकाय का

अविर्भाव होता है। यही 'क्र' का अभिप्राय है। इस तरह से इस कालचक्र में चार बुद्धकायों का समाहार है। इसी को प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य कहते हैं। वज्रयान और सहजयान के समान कालचक्रयान भी बौद्ध तन्त्रों की एक विशिष्ट उपासना विधि है। इसका विपुल साहित्य उपलब्ध है (भारतीय साधना और संस्कृति, भा.2, पृ. 540)।

काश्मीर सम्प्रदाय

शक्ति संगम तन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से 56 देशों में बांटा गया है और बताया गया है कि मरुदेश से नेपाल तक काश्मीर सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादि मत के अनुसार काश्मीर में त्रिपुरा की और कादि मत के अनुसार तारिणी की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में शक्तिपात के अनुसार ऊर्ध्वाम्नाय दीक्षा प्राप्त होती है। प्रथमतः यह ऋक्काश्मीर, यजुःकाश्मीर, सामकाश्मीर और अथर्वकाश्मीर के रूप में चतुर्धा विभक्त है। शैवकाश्मीर, शाक्तकाश्मीर और शिवशक्तिकाश्मीर विभागों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इसके 9 भेद होते हैं। काश्मीर सम्प्रदाय को सर्वदिव्य नाम यहां दिया गया है और फिर उसके भावनाथ, क्रियानाथ, ज्ञाननाथ, चित्पर, चेतनेश, सिद्धनाथ और ऋद्धिनाथ नामक भेद गिनाये गये हैं। भावदिव्य और क्रियादिव्य के भेद से भी काश्मीर सम्प्रदाय के दो भेद होते हैं। पूजा विधि और पात्रासादन विधि के भेद के अनुसार ही उक्त भेद प्रदर्शित हैं। वस्तुतः देखा जाए तो इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है।

कुण्डलिनी

कुण्डलिनी को कुलकुण्डलिनी अथवा शक्तिकुण्डलिनी भी कहते हैं। कुल चक्र में कुण्डलाकार अवस्थित होने से इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। अथवा कु अर्थात् पृथ्वी तत्त्व के आधार मूलाधार में लीन रहने से इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। तन्त्रशास्त्र में मूलाधार में सर्पतुल्य कुण्डलाकार स्थित शक्ति का नाम कुण्डलिनी है, अतः इसको शक्तिकण्डलिनी भी कहते हैं। इसको कुण्डलिनी इसलिये कहते हैं कि यह कुण्डलाकार स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति निद्रित नागिन के समान आकृति वाली है। वह स्वयंभू

लिंग को वेष्टित किये रहती है। कोटि विद्युत् के समान दीप्तिमती, नाना प्रकार के वस्त्र और अलंकार से विभूषित है। यह शृंगार रस से ओत–प्रोत है और इसको कारण द्रव्य प्रिय है। कारण द्रव्य् को कुल द्रव्य कहा जाता है। इसलिये भी इसको कुलकुण्डलिनी कहते हैं। यह सर्वमन्त्रमयी और सर्वतत्त्वस्वरूपिणी है। रुद्रयामल आदि तन्त्रों में इसकी उपासना विस्तार से वर्णित है। संमोहन तन्त्र में इसको कुण्डली कहा गया है। वहां बताया गया है कि यह मनोहर शक्तिपीठ त्रिकोणाकार है। उसके गह्वर में जीव रूपी अतिचंचल कामवायु स्थित है। उसमें अधोमुख लिंग रूपी स्वयंभू भगवान् निवास करते हैं। इसमें नीवार धान्य के अग्रभाग तुल्य सूक्ष्म शंख वर्ण और साढ़े तीन बलय युक्त श्रेष्ठ देवता कुण्डली का निवास है। वह अपने मुख से ब्रह्ममुख को आच्छादित किये रहती है। जो साधक इस कुण्डलिनी शक्ति को अपने वश में कर लेता है, वह मानव नहीं, देवता बन जाता है। तन्त्रसार (शब्दकल्पद्रुम, भा.2, पृ. 140 पर उद्धृत) में बताया गया है कि मूलाधार निवासिनी, इष्ट देवता स्वरूपिणी, सार्धत्रिवलयवेष्टिता, विद्युत् के समान कान्तिवाली, स्वयंभू लिंग को वेष्टित कर स्थित, उदयोन्मुख दिनकर के समान कान्ति वाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान कर उसको प्राण मन्त्र द्वारा उत्थापित करना चाहिये। समस्त अशुभ कर्मों की शान्ति के लिये साधक को एकाग्रचित्त होकर दृढ़ संकल्प के साथ इस बात की भावना करनी चाहिये कि मेरा समस्त शरीर उस शक्ति के प्रभा पटल से व्याप्त है। जाग्रत् होने पर यह कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार चक्र में शिव के साथ समरस हो जाती है।

कुण्डलिनी योग

यह सत्य है कि पातंजल योगसूत्र में कुण्डलिनी अथवा षट्चक्र आदि में से किसी एक का भी उल्लेख नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि कुण्डलिनी योग एक प्राचीन भारतीय योग की विशेष पद्धति है। आगम और तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसका वर्णन मिलता है। कहा जा सकता है कि यह एक तान्त्रिक योगपद्धति है। कुछ आचार्य "अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या" (10/2/31) इस अथर्ववेद के मन्त्र में कुण्डलिनी का उल्लेख मानते हैं। प्रायः सभी आगमिक और तान्त्रिक आचार्य प्रसुप्तभुजागाकारा, सार्धत्रिवलयाकृति, मूलाधार स्थित शक्ति को कुण्डलिनी के नाम से जानते

हैं। जिस योगपद्धति की सहायता से इस कुण्डलिनी शक्ति को जगा कर सुषुम्ना मार्ग द्वारा षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार चक्र तक पहुंचाया जाता है और वहां उसका अकुल शिव से सामरस्य सम्पादन कराया जाता है, उसी का नाम कुण्डलिनी योग है। आधारों अथवा चक्रों आदि के विषय में मतभेद होते हुए भी मूलाधार स्थिति कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार स्थित शिव से सामरस्य सम्पादन सभी मतों में निर्विवाद रूप से मान्य है। सम्प्रति षट्चक्र भेदन का पूर्णानन्द यति विरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षष्ठ प्रकाश में वर्णित क्रम ही प्रायः सर्वमान्य है। अतः तदनुसार ही यहां इस विषय का निरूपण किया गया है। यम और नियम के नित्य नियमित आदरपूर्वक निरन्तर अभ्यास में लगा हुआ योगी गुरुमुख के मूलाधार से सहस्रार पर्यन्त कुण्डलिनी के उत्थापन के क्रम को ठीक से जान लेने के उपरान्त पवन और दहन के आक्रमण से प्रतप्त कुण्डलिनी शक्ति को, जो कि स्वयंभू लिंग को वेष्टित कर सार्धत्रिवलयाकार में अवस्थित है, हूंकार बीज का उच्चारण करते हुए जगाता है और स्वयंभू लिंग के छिद्र से निकाल कर उसको ब्रह्म द्वार तक पहुंचा देता है। कुण्डलिनी पहले मूलाधार चक्र स्थित स्वयंभू लिंग का, तब अनाहत चक्र स्थित बाण लिंग का और अन्त में आज्ञाचक्र स्थित इतर लिंग का भेदन करती हुई ब्रह्मनाडी की सहायता से सहस्र दल में प्रविष्ट होकर परमानन्दमय शिवपद में प्रतिष्ठित हो जाती है। योगी अपने जीवभाव के साथ इस कुलकुण्डलिनी को मूलाधार से उठाकर सहस्रार चक्र तक ले आता है और वहां उसको पर बिन्दु स्थान में स्थित शिव (पर लिंग) के साथ समरस कर देता है। समरसभावापन्न यह कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार चक्र में लाक्षा के वर्ण के समान परमामृत का पान कर तृप्त हो जाती है और इस परमानन्द की अनुभूति को मन में सजोये वह पुनः मूलाधार चक्र में लौट आती है। यही है कुण्डलिनी योग की इतिकर्तव्यता। इसके सिद्ध हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है, शिवभावापन्न बन जाता है।

कुल कुण्डलिनी

अकुल कुण्डलिनी शब्द का विवरण देते हुए बताया गया है कि नीचे अकुल स्थान स्थित अरुण वर्ण के ऊर्ध्वमुख सहस्रार पद्म को कुल कुण्डलिनी कहा जाता है। यह विमर्शात्मक हकार स्वरूपा है।

नित्याषोडशिकार्णव (4/14) में इसको कुलयोषित तथा त्रिपुरसुन्दरी दण्डक (26 अनु.) में कूलवधू कहा गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में बताया गया है कि यह कुलवधू (कुलेश्वरी = कुलाभिमानिनी संवित्) मूलाधारगत चतुर्दल कमल के मध्य में स्थित त्रिकोणात्मक कुल स्थान, अर्थात् शृंगाट पीठ से उठ कर कुटिल मार्ग पर, अर्थात् स्वाभाविक सृष्टि मार्ग को छोड़कर गुरु प्रदर्शित युक्ति के सहारे संहार मार्ग पर चल कर सूक्ष्म रूप से सुषुम्ना मार्ग के भीतर प्रविष्ट हो आगे बढ़ती है। वह अनाहत स्थान स्थित सूर्यमण्डल को भेदती हुई अकुल कुण्डलिनी से जा मिलती है। वहां यह शिव और शक्ति के सामरस्य से समुद्रभूत अमृतमय परमानन्द में डूब जाती है, निर्लक्षण, निर्गुण, कुल और रूप से रहित पर–पुरूष को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया में यह कुण्डलिनी अकुल स्थान से कुल स्थान की ओर गतिशील होती है और संहार प्रक्रिया में कुल स्थान से अकुल स्थान तक आती है। इसकी अकुल स्थान से कुल स्थान की ओर गति ही सृष्टि, अर्थात् बन्ध का तथा कुल स्थान से अकुल स्थान तक की गति संहार, अर्थात् मोक्ष का कारण बनती है। शैव सिद्धान्त (अघोरशिवाचार्य कृत मृगेन्द्र वृत्ति–दीपिका, पृ. 349) में कुण्डलिनी को महामाया कहा गया है।

पूर्णानन्द की श्रीतत्त्वचिन्तामणि (6/11–14) में कुल कुण्डलिनी का वर्णन इस प्रकार किया गया है – चतुष्कोणात्मक मूलाधार चक्र के मध्य में स्थित त्रिकोणाकार कामरूप पीठ के बीच स्वयंभू लिंग का निवास माना जाता है। इस स्वयंभू लिंग के ऊपर विषतन्तु के समान अत्यंत सूक्ष्म, ब्रह्मरन्ध्र के द्वार को अपने मुंह में पकड़े हुए, शंख के आवर्त के समान आकार वाली, सोये हुए सर्प के समान सार्धत्रिवलयाकृति कुण्डलिनी शक्ति सोई रहती है। यह कुण्डलिनी शक्ति वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों की जननी है और यहीं से प्राण और अपान, श्वास और प्रश्वास की भी उत्पत्ति होती है। इसी के मध्य में वह पराशक्ति अवस्थित है, जिससे कि इस पूरे विश्व की उत्पत्ति होती है। योगी के हृदय में इसी की कृपा से ब्रह्मज्ञान का उदय होता है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वयंभू लिंग के ऊपर प्रसुप्त सार्धत्रिवलया कुण्डलिनी शक्ति के ऊर्ध्व भाग में नादात्मक परा शक्ति का निवास है। यही कुल कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है। मूलाधार चक्र में इसका ध्यान किया जाता है।

कुल शक्ति

कुलार्णव तन्त्र (17/27) में कुल शब्द का अर्थ शक्ति तथा अकुल शब्द का अर्थ शिव किया है। इस संबंध में अकुल शब्द की व्याख्या करते समय कुछ लिखा जा चुका है। शाक्त दर्शन में शक्ति को विमर्श के नाम से अभिहित किया गया है। हलिपि (हकार) इसकी वाचिका है। प्रकाशात्मक अकुल शिव के बोधक अकार के साथ विमर्शात्मक कुल शक्ति के बोधक हकार को मिलाने से 'अहम्' पद बनता है। प्रकाश विमर्शात्मक इस अहंतत्त्व से ही शब्दार्थात्मक षडध्वमय जगत् की सृष्टि होती है। तन्त्रालोक (3/67) में कुल शक्ति को कौलिकी कहा है। इस कौलिकी शक्ति से अकुल शिव कभी जुड़ा नहीं रहता। नित्याषोडशिकार्णव (4/6–7) और सौन्दर्य लहरी के प्रथम श्लोक में बताया गया है कि बिना शक्ति के शिव कुछ भी नहीं कर सकता, वह शव के तुल्य है। शक्तिसंवलित शिव ही जगत् की रचना करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिये विज्ञानभैरव (श्लो. 20) में शक्ति को शिव का मुख कहा गया है, क्योंकि इस शक्ति की सहायता से ही शिव स्वरूप की अभिव्यक्ति हो सकती है।

शक्ति के अतिरिक्त कुल शब्द के अन्य भी अनेक अर्थ शास्त्रों में मिलते हैं। अकारादि हकारान्त वर्णमातृका को आठ वर्गों में बांटा गया है। इन आठ वर्गों की ब्रह्माणी प्रभृति महालक्ष्मी पर्यन्त आठ अधिष्ठातृ देवियां हैं। इस समूह को कुल कहा गया है (नि.अ.पृ. 26)। षट्त्रिंशतत्त्वात्मक जगत् को तथा शरीर को भी कुल कहा जाता है (नि.कृ.पृ. 27, 213)। शैव और शाक्त दर्शन में कुल नाम का एक स्वतन्त्र शास्त्र है (नि.अ.पृ. 74)। भैरव को भी कुल कहते हैं (नि.अ.पृ. 139)। मेय, माता और मिति लक्षण जगत को भी कुल कहा गया है (चि.च.श्लो. 72)। देह से संबद्ध दस इन्द्रियां भी कुल कही गई हैं (यो.दी.पृ. 295)। अर्ध्यभट्टारक को भी कुल बताया गया है (भ.म.पृ. 115)। महानिर्वाणतन्त्र में जीव, प्रकृति, दिक्, काल, आकाश, क्षिति, जल, तेज और वायु इन नौ पदार्थों को कुल शब्द से अभिहित किया गया है। कुल रत्न में आचार, विनय, विद्या, प्रतिष्ठा, तीर्थदर्शन, निष्ठा (श्रद्धा), वृत्ति, तप और दान – इन नौ पदार्थों को कुल की संज्ञा दी है।

केरल सम्प्रदाय

शक्ति संगत तन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से 56 देशों में बांटा गया है तथा बताया गया है कि अंग से मालव पर्यन्त केरल सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादि मत के अनुसार केरल सम्प्रदाय में कालिका की और कादि मत के अनुसार त्रिपुरा की उपासना की जाती है। यह उपासना षट्शाम्भव पद्धति से होती है और इसमें साधक सर्वोत्कृष्ट मेधा दीक्षा भी प्राप्त कर सकता है। प्रथमतः यह सम्प्रदाय ऋक्केरली, यजुःकेरली, सामकेरली और अथर्वकेरली नाम से चार भागों में विभक्त है। इस सम्प्रदाय के पुनः शैवकेरल, शक्तिकेरल और शिवशक्तिकेरल के विभाग होते हैं और इन तीनों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त करने पर इसके 9 भेद हो जाते हैं। द्रविड़ सम्प्रदाय का भी केरल में ही अन्तर्भाव होता है। भवसिद्ध, हरसिद्ध, कलहट्ट, गोमुख, विज्ञानी, पूर्वकेरल, उत्तरकेलर, दिव्य, सत्य, चैतन्य, चिद्धन, सर्वज्ञ, ईश, माहेश्वर, विश्वरूप, ज्ञानकेरल, व्यंकटेशाख्यकेरल प्रभृति भी केरल सम्प्रदाय के ही अंग हैं। इस सम्प्रदाय के दिव्य, कौल और वाम भेद भी इसी ग्रन्थ में प्रदर्शित हैं, किन्तु वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केरल सम्प्रदाय में दक्षिणाचार की प्रधानता है और यह वेद मार्ग का अनुवर्तन करता है। इसीलिये इसको शुद्ध मार्ग भी कहा जाता है। सम्प्रदायों के भेद का मुख्य कारण पूजाविधि और पात्रासादन विधि का अन्तर है।

कौल मत

श्रीचक्र को वियच्चक्र भी कहा जाता है। दहराकाश और बाह्याकाश में भी इसकी पूजा होती है, अतः इसको वियच्चक्र कहा जाता है। बाह्याकाश का अभिप्राय यह है कि बाह्य आकाश, अर्थात् अवकास में स्थित पीठ, भूर्जपत्र, शुद्ध पट अथवा सुवर्ण, रजत आदि से निर्मित पट्ट पर श्रीचक्र को अंकित कर उसकी पूजा की जाए। इसी को कौल पूजा कहते हैं। पांच शक्ति चक्र और चार वह्नि (शिव) चक्रों के संयोग से श्रीचक्र बनता है। यहां समय मत के विपरीत चार शिव चक्रों की स्थिति अधोमुख और पांच शक्ति चक्रों की स्थिति ऊर्ध्वमुख मानी गई है। कौल मत में संहार क्रम से श्रीचक्र लिखा जाता है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने

(श्लो. 34, पृ. 161) कौल मत के दो भेद बताये हैं — पूर्वकौल और उत्तर कौल। पूर्व कौल पीठ प्रभृति में अंकित श्रीचक्र की पूजा करते हैं और उत्तर कौल तरुणी की प्रत्यक्ष योनि में श्रीचक्र की भावना कर उसकी सविधि उपासना करते हैं। उत्तर कौल सिद्धान्त में शक्ति तत्त्व से पृथक् शिव तत्त्व नहीं है, वह शक्ति में ही अन्तर्भूत है। अतः यहां शक्ति की ही उपासना की जाती है। अर्थरत्नावली (पृ. 74) में विद्यानन्द ने कुलपंचक शास्त्र का उल्लेख करते हुए उसके कुल, अकुल, कुलाकुल, कौल और शुद्ध कौल नामक भेद गिनाये हैं। कौलज्ञाननिर्णय में पदोत्तिष्ठ कौल, महाकौल, मूलकौल, योगिनीकौल, वह्निकौल, वृषणोत्थकौल, सिद्धकौल नामक सात भेद कौलों के मिलते हैं। इंनमें से योगिनीकौल और सिद्धकौलों का उल्लेख मृगेन्द्रागम के चर्यापाद में (पृ. 221) भी आया है।

कौलिक योग

नेत्रतन्त्र के सप्तम अधिकार में सूक्ष्म ध्यान का वर्णन मिलता है। व्याख्याकार क्षेमराज ने इसको कुलप्रक्रिया, अर्थात् कौलिक योग कहा है। कुलागम, कुलतन्त्र, अर्थात् शिवोक्त शास्त्रविशेष में वर्णित योग का नाम है कौलिक योग। तदनुसार छः चक्र, षोडश आधार, तीन लक्ष्य, पांच व्योम, बारह ग्रंथि, तीन शक्ति, तीन धाम, तीन और दस नाडी तथा दस प्राणों से समन्वित व्याधिग्रस्त इस पिण्ड (शरीर) को सूक्ष्म ध्यान के माध्यम से आप्यायित करने पर योगी को दिव्य देह की प्राप्ति होती है। जन्म, नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और नाद स्थान में नाडी, माया, योग, भेदन, दीप्ति और शान्त नामक छः चक्र स्थित हैं। अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मेढ़, पायु, कन्द, नाभि, जठर, हृदय, कूर्मनाडी, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्त ये सोलह आधार हैं। अथवा कुल, विष, शाक्त, वह्नि, घट, सर्वकाम, संजीवन, कूर्म, लोल, सुधाधार, सौम्य, विद्याकमल, रौद्र, चिन्तामणि, तुर्याधार, नाड्याधार नामक कुलप्रक्रियासंमत सोलह आधारों को यहां ग्रहण किया जा सकता है। अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और उभयविध लक्ष्य ये तीन लक्ष्य हैं। माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, बैन्दव, नाद और शक्ति ये बारह ग्रन्थियां अर्थात् पाश हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये तीन शक्तियां हैं। सोम, सूर्य और वह्नि ये तीन धाम हैं। सव्य, अपसव्य

और मध्य पवन स्थित इडा, पिंगला और सुषुम्णा नामक तीन नाडियों तथा इनके साथ गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नाडी को जोड़ देने पर दस नाडियों और इनके माध्यम से बहने वाले प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त, धनंजय नामक दस प्राणों से यह शरीर आवृत है। वस्तुतः यह शरीर 72 हजार अथवा साढ़े तीन करोड़ नाडियों से जकड़ा हुआ है और आणव, मायीय और कार्म मलों के कारण मलिन भी हो गया है। अतः दिव्य देह की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि साधक योगी कन्द स्थान में चित्त को एकाग्र कर संकोच और विकास का अभ्यास करें। मध्यविकास की प्रतीक्षा करता हुआ वह मतगन्ध स्थान को दबावे, जिससे कि मध्यधाम सुषुम्णा की ऊर्ध्व गति उन्मुक्त हो जाए। कन्द भूमि में जब यह शक्ति जग जाती है, तो साधक को खेचरी मुद्रा प्राप्त हो जाती है। इसके प्राप्त होने से प्राण उसके अधीन हो जाता है और मन्त्र के प्रभाव से उसकी गति द्वादशान्त की तरफ मुड़ जाती है। पहले उसका प्राण समना धाम में प्रविष्ट होता है। वहां उसे अपान के उल्लास के लिये चन्द्रोदय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। चन्द्रोदय हो जाने पर योगी उससे प्राप्त अमृत से शरीरवर्ती चक्र, आधार प्रभृति को सिंचित करता है और इस प्रकार अपने पूरे शरीर को दिव्य बना लेता है, अर्थात् उसका स्वात्मस्वरूप प्रस्फुटित हो उठता है। नित्याषोडशिकार्णव (4/12–14) में भी इस स्थिति का वर्णन मिलता है।

क्रम दर्शन

क्रम दर्शन को कालीनम भी कहते हैं। इसमें शाक्त उपाय का सहारा लिया जाता है। तन्त्रालोक के चतुर्थ आह्निक में और महार्थमंजरी प्रभृति ग्रन्थों में क्रमदर्शन का अच्छा विश्लेषण किया गया है। इन ग्रन्थों के आधार पर स्वर्गीय डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने और विशेष कर उनके प्रिय शिष्य डॉ. नवजीवन रस्तोगी ने क्रमदर्शन पर सराहनीय कार्य किया है। अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसकी विशेषता यह है कि इसके आगम ग्रन्थों का उपदेश भगवती ने किया है और श्रोता भगवान् शिव हैं। पंचकृत्यों में निग्रह और अनुग्रह के स्थान पर अनाख्या और भासा का समावेश है। इस दर्शन में द्वादश या त्रयोदश काली की वृन्दचक्र में पंचवाह पद्धति से

उपासना की जाती है। पंचवाह क्रम में ज्ञान सिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मेलापसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध समाविष्ट हैं। धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित्, भाव, पात और अनिकेत—इनसे वृन्दचक्र बनता है। यह शुद्ध अद्वैतवादी दर्शन है।

खेचरी मुद्रा

ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द ने (पृ. 184—185) खेचरी मुद्रा के तीन भेद बताये हैं — अंगुलिविरचनात्मा, बोधगगनरूपा और संस्थानविशेष—रूपा। प्रथम प्रकार की खेचरी मुद्रा में अंगुलियों का उपयोग किया जाता है। तन्त्रसार (वाचस्पत्य, पृ. 2478) में इसकी विधि यह बताई गई है — बायें हाथ को दाहिनी ओर तथा दाहिने हाथ को बाईं ओर कर लें। फिर अनामिका को मिलाकर तर्जनी से लगायें और बीच की अंगुली को सटाकर अंगूठे पर जमायें। इसी से मिलती—जुलती विधि नित्याषोडशिकार्णव (3/15—17) में भी वर्णित हैं। इसको संहार मुद्रा या समय मुद्रा भी कहा जाता है। विसर्जन के समय इसका उपयोग किया जाता है।

बोधगगन में विचरण करने वाली खेचरी को शिवानन्द ने अख्याख्येय माना है, किन्तु क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी (2/5) में इसकी व्याख्या की है कि यह स्वात्मस्वरूप में उछलती हुई आनन्द की लहरी है। तन्त्रसद्भाव (शि.वि. 2/5) में इसका परसंवित्ति के रूप में वर्णन किया गया है।

तृतीय प्रकार की खेचरी का वर्णन यहां भिन्न—भिन्न ग्रन्थों के वचनों के आधार पर किया गया है। यह वर्णन विज्ञानभैरव, विवेकमार्तण्ड, स्कन्दपुराण काशीखण्ड तथा हठयोगप्रदीपिका प्रभृति ग्रन्थों में वर्णित क्रम से मिलता—जुलता है। तदनुसार जीभ को उलट कर कपाल के कुहर में तथा दृष्टि को ऊपर उठाकर भौंहों के बीच में लगाने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके अभ्यास से सभी रोग और कर्म फल नष्ट हो जाते हैं। चित्त और जिह्वा दोनों के आकाश में अवस्थान करने से ही इसको खेंचरी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु स्थिर हो जाता है। अतः इसका अभ्यास करने वाले योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता। वह सदा अमर वारुणी का पान करता रहता है। यह साधक को उन्मना अवस्था में प्रतिष्ठित कर देती

है। आकाश में गमन का सामर्थ्य भी उसको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार इसकी यह अन्वर्थक (सार्थक) संज्ञा है।

ख्याति

दर्शन शास्त्र में ख्याति शब्द प्रतीति या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अभेद ख्याति का अर्थ है अद्वय बोध। सब कुछ शिवमय है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, इस तरह की एकाकार निःशङ्क प्रतीति ही यहां अभेद ख्याति कही गई है। भ्रान्त ज्ञान के अर्थ में भी ख्याति शब्द प्रयुक्त होता है। अपूर्णता ख्याति का अर्थ है भ्रमवश अपने पूर्ण स्वरूप का ज्ञान न होना। भारतीय दर्शन में छः प्रकार की ख्याति मानी गई है। विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध आत्मख्याति को और शून्यवादी माध्यमिक असत् ख्याति को मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक अख्यातिवादी है और नैयायिक अन्यथाख्याति को मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादी शांकर वेदान्त के अनुयायी अनिर्वचनीय ख्याति और रामानुज प्रभृति आचार्य सत्ख्याति को स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त प्रभृति सभी तान्त्रिक आचार्य अपूर्णख्याति के पोषक हैं उनके अनुसार परिमित प्रमाता को अपने अपरिमित स्वरूप का बोध नहीं होने पाता।

गौड सम्प्रदाय

शक्तिसंगम तन्त्र में पूरे भारतवर्ष को कादि और हादि के भेद से 56 देशों में बांटा गया है और बताया गया है कि सिलहट्ट से सिन्धु देश तक गौड सम्प्रदाय को मान्यता प्राप्त है। हादिमत के अनुसार गौड सम्प्रदाय में तारा की और कादिमत के अनुसार काली की उपासना की जाती है। इस सम्प्रदाय में पूर्णाभिषेक की प्रधानता है। प्रथमतः यह ऋग्गौड, यजुर्गौड, सामगौड और अथर्वगौड के भेद से चतुर्धा विभक्त है। शिवगौड, शक्तिगौड और शिवशक्तिगौड भेदों को शुद्ध, उग्र और गुप्त भेदों में विभक्त कर पुनः इसके 9 भेद बताये गये हैं। गौड सम्प्रदाय के वाम और दक्षिण भेद भी यहां वर्णित हैं, किन्तु प्रधानतः गौड सम्प्रदाय वाममार्गी ही माना जाता है। इस सम्प्रदाय का आविर्भाव निगम, अर्थात् तंत्रशास्त्र से माना गया है।

चीनाचार

शक्तिसंगम तन्त्र (3/7/47–49) में भूटान, चीन और महाचीन देशों की सीमा बताई गई है। तदनुसार भूटान के पास ही चीन और महाचीन देश स्थित हैं। इनकी सीमा मानसरोवर और कैलाश पर्वत के आस–पास मानी गई है। इनमें कभी तान्त्रिक धर्म का विशेष प्रचार था। आज भी तिब्बत में प्रचलित धर्म प्रधानतः तान्त्रिक ही है। चीन और महाचीन देश में प्रचलित तान्त्रिक आचार–विचार ही क्रमशः चीनाचार और महाचीनाचार के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शक्तिसंगम तन्त्र (1/8/11–12) में चीनाचार का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसमें स्नान–दान, शौच–अशौच, जप, तपस्या आदि का कोई नियम नहीं है। सकल और निष्कल के भेद से यह दो प्रकार का होता है। वहीं द्वितीय खण्ड (21/1–4) में ब्रह्मचीन, दिव्यचीन, वीरचीन, महाचीन और निष्कलचीन के भेद से इसके पांच प्रकार बताए गए हैं और कहा गया है कि महाचीनाचार के अनुसार तारा विद्या की उपासना शीघ्र फल देती है। महाचीनाचार के भी दो भेद किये गये हैं – सकल और निष्कल। इनमें से सकल उपासना बौद्धों के लिये और निष्कल उपासना ब्राह्मणों के लिये विहित है। चीनाचार में विहित स्नान, नमस्कार, वेष आदि का भी यहां वर्णन मिलता है। चीनाचार, महाचीनाचार के प्रतिपादक स्वतंत्र तन्त्र ग्रंथ भी उपलबध हैं।

जप

मन्त्र की पुनः पुनः आवृत्ति, उसका बार–बार उच्चारण जप कहलाता है। मन्त्र का जप करते समय उसके अर्थ की भी भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से मन्त्रवीर्य, मन्त्रचैतन्य का आविर्भाव शीघ्र होता है। जप तीन प्रकार का होता है – मानस, उपांशु और वाचिक (भाष्य)। मन्त्रार्थ का विचार करते हुए उसकी मन ही मन आवृत्ति करना मानस जप है। देवता का चिन्तन करते हुए जिह्वा और दोनों होठों को थोड़ा हिलाते हुए किंचित् श्रवण योग्य जप उपांशु कहलाता है। जो दूसरे व्यक्ति को भी स्पष्ट सुनाई पड़े, ऐसा उच्च स्वर से किया गया जप वाचिक (भाष्य) कहलाता है। वाचिक से उपांशु दस गुना और मानस जप सहस्त्र गुना फल देने वाला है। उत्तम सिद्धि के लिये मानस, मध्यम सिद्धि के लिये उपांशु और क्षुद्र सिद्धि के

लिये वाचिक जप किया जाता है। उत्तम मन्त्रों का जप मानस, मध्यम मन्त्रों का उपांशु और अधम मन्त्रों का जप वाचिक विधि से किया जाना चाहिये। इसीलिये कुलार्णव तन्त्र में मानस को उत्तम, उपांशु को मध्यम तथा वाचिक जप को अधम बताया है। जप की सिद्धि हो जाने पर मन्त्र में चैतन्य का आविर्भाव होता है और ऐसा होने पर साधक उसकी सहायता से अनायास सिद्धि लाभ कर सकता है। जप के लिये पद्म, स्वस्तिक आदि आसनों का, पुण्य क्षेत्र, नदीतीर प्रभृति स्थलों का, ग्रहण प्रभृति कालों का भी शास्त्रों में विधान है। गुरुमुख से प्राप्त मन्त्र का जप ही फलदायक होता है। पुस्तक में लिखे मन्त्र का जप करने से कोई सिद्धि नहीं मिलती। स्वप्नलब्ध मन्त्र का जप भी सिद्धिकर माना गया है।

योगिनी हृदय (3/176–189) में शून्यषट्क, अवस्थापंचक और विषुवसप्तक की भावना के साथ मानस जप की विधि विस्तार से वर्णित है। स्थान, ध्यान और वर्ण की कल्पना के साथ मानसिक जप का विधान नित्याषोडशिकार्णव की व्याख्या ऋजुविमर्शिनी और अर्थरत्नावली (पृ. 268) में उद्धृत सिद्धनाथ पाद के एक वचन में मिलता है।

जपमाला

जप की परिभाषा अलग से की गई है। जप की संख्या को जानने के लिये माला का उपयोग किया जाता है। इसी को जपमाला कहते हैं। यह तीन प्रकार की होती है – करमाला, वर्णमाला और अक्षमाला। तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठा तथा इनके पर्वों को ही माला के रूप में कल्पित कर उन पर जप किया जाता है। विभिन्न सम्प्रदायों और विभिन्न मन्त्रों के लिये इसके विभिन्न प्रकार शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं। शक्तिसंगम, सनत्कुमार, विश्वसार प्रभृति तन्त्रों में इनका वर्णन मिलता है। अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णों की माला के रूप में कल्पना ही वर्णमाला है। ळकार का भी इसमें समावेश करने पर इनकी संख्या 51 हो जाती है। यह ऋग्वेद के अग्निमीळे आदि मन्त्रों में प्रयुक्त होने वाला अक्षर है। मराठी में यह अक्षर अब भी प्रचलित है। रुद्राक्ष, स्फटिक, तुलसी, कमलगट्टा तथा विभिन्न धातुओं और रत्नों के मनकों से बनी माला को अक्षमाला कहते हैं। विभिन्न प्रकार के मनकों की मालाओं पर जप करने से विभिन्न काम्य कर्मों की सिद्धि

होती है। शास्त्रों में बताया गया है कि रुद्राक्ष की माला से जप करने पर अनन्तगुण फल मिलता है। त्रिपुरा के जप में रक्त चन्दन की, गणेश के जप में गजदन्त की, वैष्णव जप में तुलसी की, छिन्नमस्ता आदि के जप में रुद्राक्ष की, नीलसरस्वती, काली तारा आदि के जप में महाशंख की माला विहित है। अक्षमाला के ग्रथन के उपयोग में आने वाले सूत्रों के लिए भी विभिन्न काम्य कर्मों में विभिन्न द्रव्यों और वर्णों का विधान है। माला के संस्कार की भी विभिन्न विधियां हैं। साथ ही यह भी बताया गया है कि इन पर कब जप करना चाहिये और कब नहीं। सभी धर्मों में जपमाला का विधान है। यह भी आवश्यक माना गया है कि माला को वस्त्र आदि से ढंककर ही जप किया जाए। शक्तिसंगमतन्त्र के द्वितीय तारा खण्ड में इस विषय का अवलोकन करना चाहिये।

जीवन्मुक्ति

अद्वैतवादी शाक्त दर्शन में बन्ध और मोक्ष को भी विकल्प का व्यापार माना गया है। भोग और मोक्ष की समरसता का यहां प्रतिपादन किया गया है। इसकी अनुभूति जीवन्मुक्ति दशा में होती है। प्रत्यभिज्ञा हृदय (सू. 16) में बताया गया है कि चिदानन्दात्मक स्वस्वरूप की अनुभूति हो जाने पर शरीर, इन्द्रिय प्रभृति की चेष्टाओं के चलते रहने पर भी साधक योगी चिदेकात्मस्वभाव से विचलित नहीं होता। इसी स्थिति को जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। अपनी विश्वात्मकता का अनुसंधान करने वाले साधकों का यह स्वभाव है। यह कोई आगन्तुक विशेषता नहीं है। रत्नमाला शास्त्र में बताया गया है कि जिस क्षण गुरु निर्विकल्प स्वरूप को प्रकाशित कर देते हैं, तभी शिष्य मुक्त हो जाता है। क्रम दर्शन की दृष्टि से यह स्थिति क्रमपरामर्श की पद्धति से उन्मीलित होती है। योगवासिष्ठ में अनेक कथानकों के माध्यम से इस स्थिति को समझाया गया है।

ज्येष्ठा

पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त वामा और इच्छा शक्ति का अगला विकास ज्येष्ठा शक्ति के रूप में होता है। ज्ञान शक्ति के साथ मिलकर यह ज्येष्ठा शक्ति सृष्ट विश्व की रक्षा का कार्य करती है। ऋजु (सीधी)

रेखा के रूप में यह स्थित है। इससे शृंगाट की ऊर्ध्व रेखा बनती है। इसी को मध्यमा वाक् भी कहा जाता है (योगिनीहृदय, 1/38–39)।

तान्त्रिक साधना

तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति और इसकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के संबंध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रंथों में विस्तार अथवा संक्षेप में लिखा गया है। यह शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा–विशेष में रूढ़ है, जो पहले आगम और बाद में तन्त्र शब्द से अभिहित हुई। प्रो. विण्टरनित्ज के अनुसार संहिताएं वैष्णवों के, आगम शैवों के तथा तन्त्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं, किन्तु आगम शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों प्रकार के आगम ग्रंथों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही संहिता शब्द से केवल वैष्णवागमों का बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण में भी संहिता ग्रन्थ विद्यमान हैं। अतः आगम अथवा तन्त्र शब्द ही इस पूरे वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करता है। इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएं हैं। ये पवित्र ग्रन्थ द्विजाति के लिये ही नहीं, बल्कि शूद्रों और स्त्रियों के लिये भी हैं।

आगम अथवा तन्त्र शास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बांटा गया है – ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग। बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है। यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्र संहिताएं ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु बिना पाद विभाग के ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्र ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है।

भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी साधना पद्धति का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्त्ति, पट, मन्त्र, मण्डल, यन्त्र आदि में प्रतिष्ठित करता है और इस प्रकार अपने इष्टदेव

की बाह्य वरिवस्या सम्पादित करता है। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये यहां व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान है और आन्तर वरिवस्या के लिये वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता है। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिये जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिये इसका अपना दर्शन है, योग पद्धति है और बाह्य वरिवस्या के लिये मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट पद्धति इसमें वर्णित है। उक्त विषयों के प्रतिपादन के लिये ही प्रत्येक ग्रन्थ में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या नामक चार पादों का विधान किया गया था। शिव, विष्णु, बुद्ध और महावीर के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द प्रभृति देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी थी। इन पूर्ववर्ती शैव और वैष्णव आगमों की तथा परवर्ती शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तन्त्रों की साधना पद्धति में कोई अन्तर नहीं है।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र पूरी मानव जाति के उद्धार के लिये प्रवृत्त हैं। इसकी साधना पद्धति की दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से समझा जा सकता है। तान्त्रिक साधना अधिकतर रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, मन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुंचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास लाने का प्रयत्न किया जाए। तान्त्रिक साधना का दूसरा लक्ष्य है — भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उनको रूपांतरित कर भगवान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ संबंध रखते हुए विश्व के साथ भी संबद्ध रहता है। तान्त्रिक दर्शन में इस स्थिति को विश्वाहन्ता नाम दिया गया है। यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप है। इस विश्व के छोटे–बड़े सभी अंशों में ये शक्तियां समान रूप से कार्यरत हैं।

आगम और तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे वाङ्मय में उक्त विषयों का समान रूप से प्रतिपादन किया गया है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से जानी जाने वाली धारा का प्रादुर्भाव

पहले और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। आश्चर्य की बात है कि भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगम शास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है। इसीलिये वे अनेक असंगतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुतः कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्र शास्त्र ने, अपितु इनसे पहले आगम शास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा भी न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया। आज के हिन्दू धर्म पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तान्त्रिक साधना पद्धति का अधिक गहरा प्रभाव हैं।

वैदिक उपासना अभी लुप्तप्राय हो गई है। वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझना तो दूर रहा, उनका ठीक तरीके से उच्चारण कर पाना भी कठिन हो गया है। यही स्थिति वैदिक यज्ञ–याग आदि की भी है। उनको जानने वाले अब विरल ही लोग बचे हैं। अभी सर्वत्र तान्त्रिक और पौराणिक साधना पद्धति का ही प्रचार है। पौराणिक पद्धति पर भी तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, यह अभी बताया जा चुका है।

इस वाङ्मय की विशालता का कुछ परिचय पर्यायसप्तक शब्द की व्याख्या के अन्तर्गत दिखाये गये विभागों और उपविभागों से मिलता है। साधना पद्धति की विचित्रताओं का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि अकेले शक्तिसंगम तन्त्र में मत, क्रम और मार्ग के भेद से 160 से ऊपर मत–मतान्तरों का उल्लेख मिलता है।

त्रिक दर्शन

काश्मीर का शैव (प्रत्यभिज्ञा) दर्शन त्रिक दर्शन कहलाता है। त्रिक शब्द की अनेक व्याख्याएं मिलती हैं, किन्तु इसमें कुल, क्रम और प्रत्यभिज्ञा इन तीनों अद्वैतवादी दर्शनों के तत्त्वों की समष्टि होने से इसको यह नाम दिया गया है। तन्त्रालोक के टीकाकर जयरथ ने (1/18, पृ. 49) त्रिकशास्त्र को सिद्धा, नामक और मालिनी नाम के तीन खण्डों में विभक्त किया है। इनमें क्रिया–प्रधान तन्त्र को सिद्धा और ज्ञान–प्रधान तन्त्र को नामक बताया

गया है। मालिनीमत में क्रिया और ज्ञान दोनों प्रतिपादित हैं। अभिनवगुप्त ने स्वयं 'तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम्' (1/18) ऐसा कहकर इनमें मालिनीमत को प्रधानता दी है। क्षेमराज अपने विज्ञानोद्योत (पृ. 4) में सिद्धा, मालिनी और उत्तर यह नाम देकर इनका उत्तरोत्तर उत्कर्ष बताते हैं। नामक नाम का कोई तन्त्र हमारी दृष्टि में नहीं आया। क्षेमराज के 'उत्तर' नाम के आधार पर ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जयरथ के ग्रन्थ में 'नामक' न होकर 'वामक' पाठ होना चाहिये। वामतन्त्र शिव के उत्तर मुख से उद्भूत माने जाते हैं। वामक के नाम से वामकेश्वर तन्त्र का भी ग्रहण किया जा सकता है।

त्रिपुरा

वामकेश्वर दर्शन में (नि.षो.उ.पृ. 85) त्रिपुरा ही परा संवित् अथवा परब्रह्म है। प्रपंचसार (9/2) में बताया गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी पहले उसकी स्थिति है। यही इस त्रिमूर्ति की जननी है। यह त्रयीमय है और प्रलयावस्था में त्रिलोकी की इसी में स्थिति रहती है। इसीलिये इस अम्बिका का नाम त्रिपुरा है। विवरणकार द्वारा उद्धृत श्लोक में (पृ. 571) वहीं बताया गया है कि शिव, शक्ति और आत्मा – इन तीनों तत्त्वों की पूरिका और त्रिलोकी की जननी होने से यह त्रिपुरा कहलाती है। नित्याषोडशिकार्णव (4/4–16) में भगवती त्रिपुरा का यह स्वरूप विस्तार से वर्णित है। वहां बताया गया है कि शक्ति से रहित परम पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता। टीकाकारों ने त्रिपुरा पद की अनेक प्रकार की निरुक्तियां बताईं हैं। तीन शक्ति, तीन चक्र, तीन धाम, तीन बीज, तीन तत्त्व, तीन गुण, तीन कोण, तीन पीठ, तीन लिंग प्रभृति सभी तीन संख्या वाली वस्तुओं की यह जननी है, इन सबसे पहले इसकी स्थिति होने से यह त्रिपुरा कहलाती है। वामा, ज्येष्ठा और रौद्री शक्तिरूप त्रिपुर (शृंगार, त्रिकोण) की भी यह जननी है। औपनिषद त्रिवृत्करण प्रक्रिया के प्रधान आधार तेज, जल और अन्न नामक तीनों तत्त्वों की यह पूरिका है। अथवा पुर शब्द का अर्थ शरीर भी किया जा सकता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामक शरीरों को यही धारण करती है। लघुस्तव (श्लो. 16) में बताया गया है कि देवत्रय, अग्नित्रय, शक्तित्रय, लोकत्रय प्रभृति सभी तीन संख्या वाले पदार्थ भगवती त्रिपुरा के ही स्वरूप हैं।

दीक्षा

वेदाध्ययन और द्विजत्व संपादन के लिये जैसे उपनयन संस्कार आवश्यक है, उसी तरह से तान्त्रिक उपासना में अधिकार की प्राप्ति के लिये दीक्षा की आवश्यकता मानी गई है। पूर्णाभिषिक्त गुरु ही दीक्षा देने का अधिकारी होता है। दीक्षा से दिव्य भाव और दिव्य ज्ञान की प्राप्ति होती है और सभी प्रकार की पाप वासनाएं क्षीण हो जाती हैं। यह शिव से, इष्ट से तादात्म्य स्थापित करने का प्रधान साधन है और इससे मायीय, कार्म और आणव तीनों प्रकार के मल तथा मनसा, वाचा, कर्मणा किये गये पाप दूर हो जाते हैं। दीक्षा के विषय में बताया गया है कि यह विज्ञानफलदा, लयकारिका और मुक्तिदा है। बिना दीक्षा के कोई सिद्धि नहीं मिल सकती। उसके जप, पूजा आदि सब निष्फल जाते हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह योग्य गुरु से दीक्षा अवश्य ग्रहण करे। कुलार्णव तन्त्र (14/89–98) में बताया गया है कि पारद से विद्ध लोहा जैसे सुवर्ण बन जाता है, उसी तरह से दीक्षा से संस्कृत जीव; स्त्री, शूद्र, श्वपच प्रभृति भी संस्कृत होकर शिवभाव को प्राप्त कर लेते हैं। दीक्षा वस्तुतः आत्मसंस्कार का ही नाम है। इससे पूर्णता प्राप्त होती है। दीक्षा प्राप्ति से पूर्णत्वलाभ पर्यन्त अवस्थाओं का क्रम इस प्रकार है – दीक्षा, पौरुष अज्ञान का ध्वंस, शास्त्र श्रवण में अभिरुचि, बौद्ध ज्ञान का उदय, बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति, जीवन्मुक्ति, भोग आदि के द्वारा प्रारब्ध कर्म का नाश, देहत्याग के अनन्तर पौरुष ज्ञान का उदय, मोक्ष अथवा परमेश्वरत्व की प्राप्ति।

उपनयन संस्कार के समान दीक्षा से भी मनुष्य को द्विजत्व की प्राप्ति होती है, वागीशी गर्भ से उसका नया जन्म होता है। दीक्षा की विशेषता यह है कि इसके बाद उसकी पूर्व जाति नहीं रह जाती। दीक्षित होने के उपरान्त पूर्व जाति का स्मरण प्रायश्चित का हेतु माना गया है। किससे दीक्षा ली जाए और किसको दी जाए, इसके लिये शास्त्रों में गुरू और शिष्य दोनों की योग्यताएँ निर्धारित हैं। स्त्री को दीक्षा देने और उससे दीक्षा लेने के भी विशेष नियम हैं। पति–पत्नी को दीक्षा दे या न दे, इस विषय पर भी शास्त्रों में विचार किया गया है।

तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि का दीक्षा देते समय पूरा विचार किया जाता है। काल के साथ ही देश का भी विचार किया जाता है कि किस स्थान पर दीक्षा दी जाए। शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, कौल, बौद्ध प्रभृति सम्प्रदायों में दीक्षा की अपनी स्वतंत्र विधियां हैं।

दीक्षा सामान्य तथा विशेष के भेद से दो प्रकार की होती है। सामान्य दीक्षा साधारणतः समय दीक्षा कही जाती है। इसमें दीक्षित हो जाने पर शिष्य को समयी धर्मों का पालन करना पड़ता है। इसको समयी कहा जाता है। विशेष दीक्षा के अनेक प्रकार हैं। मनुष्य भोग और मोक्ष दोनों को चाहता है। रुचि के अनुसार वह भोग के लिये अथवा मोक्ष के लिये दीक्षा लेता है। इन्हीं विभागों के अन्तर्गत दीक्षा के शताधिक प्रकार शास्त्रों में वर्णित हैं। शैव शास्त्रों में आणवी, शाक्ती और शाम्भवी दीक्षाएं वर्णित हैं। इनका निरूपण उपायों के अन्तर्गत किया गया है। आणवी दीक्षा को ही मान्त्री दीक्षा भी कहा जाता है। इसी का क्रिया अथवा क्रियावती के नाम से भी शास्त्रों में वर्णन है। शारदा–तिलक (4/2–3) में चार प्रकार की दीक्षा वर्णित है – क्रियावती, वर्णमयी, कलावती और वेधमयी। तन्त्रालोकविवेक (भा. 8, पृ. 182) में बताया गया है कि सिद्धान्त शास्त्र में होत्री, तन्त्रशास्त्र में योजन्तिका, त्रिकशास्त्र में समावेशमयी, कुलशास्त्र में स्तोभात्मिका और कौल शास्त्र में सामरस्यमयी दीक्षा का विधान है। कुलार्णवतन्त्र (14/39–41) में दीक्षा के सप्तविध भेद तथा पुनः क्रिया दीक्षा के अष्टविध भेद वर्णित हैं। इनमें से कुछ मुख्य दीक्षाओं का यहां अलग से संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

दीक्षित व्यक्ति को भी शास्त्रों में चार कोटियों में बांटा गया है – समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य। दीक्षित होने के उपरान्त साधक एक के बाद दूसरी कोटि में प्रविष्ट होता है। इनके कर्तव्यों का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन मिलता है। आचार्य पद पर अभिषिक्त व्यक्ति ही प्रतिष्ठित हो सकता है। अभिषिक्त आचार्य को ही दूसरे को दीक्षा देने का अधिकार है।

(क) कला दीक्षा

शारदातिलक (4/2–3), तन्त्रसार (शब्दकल्पद्रुम, भा. 2, पृ. 59–60)

प्रभृति के अनुसार इस दीक्षा में आवाहन पूर्वक सकल कलाओं की पूजा की जाती है। प्रथमतः प्राणप्रतिष्ठापूर्वक अग्नि की धूम्रार्चि प्रभृति दस कलाएं पूजी जाती हैं। इसके बाद सूर्य की तपिनी आदि द्वादश और चन्द्र की अमृता आदि षोडश कलाओं का आवाहन कर उनका विधिवत् पूजन किया जाता है। अन्त में पचास कलाओं का पूजन अकार आदि वर्ण मातृका में निवृत्ति प्रभृति पांच कलाओं के अन्तर्गत किया जाता है।

स्वच्छन्दतन्त्र चतुर्थ पटल में कला दीक्षा का प्रकारान्तर से वर्णन मिलता है। वहां षडध्व दीक्षा में कला दीक्षा को प्रधान मानकर वाच्यवाचक भाव के क्रम से अन्य अध्वों का इसी में समावेश माना गया है। वागीश्वरी के गर्भ से जन्म लेने के कारण जिसके संसार का उपशम हो गया है, उसको तान्त्रिक भाषा में 'पुत्रक' कहा जाता है। पृथ्वी से कला तत्त्व पर्यन्त माया का अधिकार है। इसी का नाम संसारमण्डल है। इसके बाद शुद्ध विद्या का राज्य है। शुद्ध विद्या ही वागीश्वरी है। इसके गर्भ से जन्म लेने पर विशुद्ध भुवनों में अवस्थान और संचार का अधिकार प्राप्त होता है। यह जन्म वस्तुतः बैन्दवदेह अथवा मन्त्रदेह प्राप्ति का ही नामान्तर है। इक्कीस अवान्तर संस्कारों के द्वारा यह जन्म–व्यापार निष्पन्न होता है। इससे द्विजत्व का आपादन (प्राप्ति) होती है। इसके पश्चात् अधिकार, भोग, लय, निष्कृति तथा विश्लेष ये पांच संस्कार और भी किये जाते हैं। इन छः संस्कारों से पशु के पाशों का विनाश किया जाता है। पाश–क्षषण के अतिरिक्त दीक्षा के द्वितीय अंग का नाम शिवत्वयोजन है। इसके लिये तेरह पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त होने पर पाशक्षपण और शिवत्वाभिव्यक्ति दोनों ही पूर्णतया निष्पन्न होते हैं। जिन तेरह विषयों का ज्ञान आवश्यक है, उनके नाम ये हैं – चार–प्रमाण, प्राणसंचार, षडध्व विभाग, हंसोच्चार, वर्णोच्चार, कारणत्याग, शून्य, सामरस्य, त्याग संयोग तथा उद्भव, पदार्थभेदन, आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति और शिवव्याप्ति। इनका विशेष विवरण स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ पटल में देना चाहिये।

(ख) क्रिया दीक्षा

आणवी अथवा मान्त्री दीक्षा को ही क्रिया दीक्षा कहा जाता है, जो कि कुण्ड, मण्डल आदि के निर्माण के माध्यम से सम्पन्न होती है। दीक्षा

क्रिया और ज्ञान के भेद से दो प्रकार की है। क्रिया दीक्षा छः अध्वाओं के भेद से भिन्न प्रकार ही है; जैसे, कला दीक्षा, तत्त्व दीक्षा, पद, मन्त्र, वर्ण और भुवन दीक्षा। तत्त्व दीक्षा साधारणतः चार प्रकार की है – षट्त्रिंशत्तत्त्व दीक्षा, नवतत्त्व दीक्षा, पंचतत्त्व दीक्षा और चितत्त्व दीक्षा। इनके सिवा एकतत्त्व दीक्षा का भी वर्णन मिलता है। छतीस तत्त्वों को नौ तत्त्वों में परिणत करने से नवतत्त्व दीक्षा, उन्हीं को पांच अथवा तीन तत्त्वों में परिणत कर लेने पर पंचतत्त्व अथवा त्रितत्त्व दीक्षा की प्रक्रिया निष्पन्न होती है। एकतत्त्व दीक्षा में छत्तीस तत्त्वों को समष्टि रूप से एकतत्त्व रूप में ग्रहण किया जाता है। स्वच्छन्दतन्त्र तथा अन्य शैव–शाक्त तन्त्र ग्रन्थों में 'सर्व सर्वात्मकम्' इस सिद्धांत के आधार पर एकतत्त्व के शोधन से सभी तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार अध्वा के वैचित्र्य से क्रिया दीक्षा के ग्यारह प्रकार बनते हैं। ज्ञान दीक्षा में वैचित्र्य नहीं है। इस पद्धति से मूलतः दीक्षा के 12 भेद होते हैं। तन्त्रालोक प्रभृति ग्रन्थों में सकल, निष्कल और अधोरेश्वरी प्रभृति अनुष्ठानों के भेद, लोकधर्मी और शिवधर्मी साधकों के अवान्तर वैचित्र्य तथा भौतिक, नैष्ठिक आदि आचार्यों के भेद के आधार पर दीक्षा के प्रायः असंख्य प्रकार निरूपित हुए हैं। इनमें से अधिकांश प्रकारों का अन्तर्भाव क्रिया दीक्षा में ही होता है।

(ग) पञ्चतत्त्व दीक्षा

पञ्चतत्त्व के नाम से पंचमहाभूत तो शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं ही, इसके अतिरिक्त शाक्त, विशेषकर कौल सम्प्रदाय में मत्स्य, मांस, मुद्रा, मद्य और मैथुन इन पांच पदार्थों को पंचतत्त्व कहा जाता है तथा वैष्णव सम्प्रदाय में गुरु, मन्त्र, मन, देव और ध्यान को पंचतत्त्व के नाम से अभिहित किया जाता है।

कुलकुण्ड में कुल द्रव्यों से कुलचक्र की पूजा करने से कौलिकी दीक्षा सम्पन्न होती है। इस दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति को कुलाचार का पालन करना पड़ता है। कुलद्रव्य अर्थात् उक्त पांच तत्त्वों का उपयोग शोधनविधि के अनुसार ही किया जाता है। कुलार्णवतन्त्र (5/108–112) में इनकी आध्यात्मिक व्याख्या मिलती है। अवधूत सिद्ध ही इस दीक्षा का अधिकारी माना जाता है।

पंचमहाभूतात्मक पंचतत्त्व की उपासना की भी तन्त्रशास्त्र में विधि मिलती है। वहां बताया गया है कि पंचतत्त्व का उदय स्थिर करके शांति प्रभृति षट्कर्म करने चाहिये। शान्ति कार्य में जल तत्त्व, वशीकरण में वह्नि तत्त्व, स्तंभन में पृथ्वी तत्त्व, विद्वेषण में आकाश तत्त्व, उच्चाटन में वायु तत्त्व और मारण कर्म में वह्नि तत्त्व का उदय सिद्धिकर माना गया है। भूमि तत्त्व का उदय होने पर दोनों नासापुटों से दण्डाकार में श्वास निकलता है। जल तत्त्व और अग्नि तत्त्व के उदय काल में नासिका के ऊर्ध्व भाग से होकर श्वास प्रवाहित होता है। वायु तत्त्व के उदय के समय वक्रभाव से तथा आकाश तत्त्व के उदय होने पर नासिका के अग्रभाग से होकर श्वास निकला करता है। इन सब श्वास–निर्गमन की प्रणालियों के सूक्ष्म निरीक्षण से ही किस समय किस तत्त्व का उदय होता है, इसका निश्चय करना पड़ता है।

अन्यत्र बताया गया है कि पृथ्वी तत्त्व के उदय में स्तंभन और वशीकरण, जल तत्त्व के उदय में शान्ति और पुष्टि कर्म, वायु तत्त्व के उदय में मारण प्रभृति क्रूर कर्म तथा आकाश तत्त्व के उदय के समय विष प्रभृति नाशकारी द्रव्यों का उपयोग प्रशस्त है। जिस तत्त्व के उदय के समय जिस कार्य को सम्पन्न किया जाता है, तब उस तत्त्व के मण्डल का निर्माण भी आवश्यक माना गया है। आकाश तत्त्व में छः बिन्दुयुक्त मण्डल, वायु तत्त्व में स्वस्तिक के साथ त्रिकोणाकार मण्डल, अग्नि तत्त्व में अर्धचन्द्र के आकार का, जल तत्त्व में पद्माकार और पृथ्वी तत्त्व में चतुरस्त्र मण्डल बना कर कार्य सिद्ध किया जाता है।

निर्वाण तन्त्र के बारहवें पटल में वैष्णवों के लिये गुरुतत्त्व, मन्त्रतत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व नामक पंचतत्त्वों का विधान मिलता है। तदनुसार पहले गुरुतत्त्व शिष्य को मन्त्रतत्त्व का साक्षात्कार कराता है। इससे देव स्थित ब्रह्मतेज उद्दीप्त होता है। बाद में मन्त्र के प्रभाव से इष्ट देवता का शरीर उंत्पन्न होता है। इष्ट देवता के सभी मन्त्र वर्णमय है। इन वर्णों में ईश्वर का अक्षय वीर्य निहित है। उक्त मन्त्र से मन ही मन मैं स्वयं देवता स्वरूप हूं, इस तरह की चिन्ता की जाती है। तब उस मन्त्र का ध्यान किया जाता है। मन्त्र का ध्यान करते–करते सब प्रकार की

सिद्धियां प्रकट होने लगती हैं। इनसे विमुख व्यक्ति विष्णु रूप हो जाता है। उसको फिर कभी यमराज के मंदिर में नहीं जाना पड़ता।

घ) वेध दीक्षा

वेध का अर्थ है बींधना, सूक्ष्म निरीक्षण करना। शक्तिसंगम तन्त्र (1/6/101, 2/34/11) में इसके पांच प्रकार बताये गये हैं – वाग् वेध, श्रुतिवेध, दृष्टिवेध, स्पर्शवेध और क्रिया वेध। कुलार्णवतन्त्र (14/78) में बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दीक्षा के दो प्रकार बताये हैं। इनमें क्रिया दीक्षा को बाह्य और वेध दीक्षा को आभ्यन्तर कहा गया है। बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धि इनके प्रयोजन हैं। स्पर्श दीक्षा, वाग्–दीक्षा, दृग्दीक्षा, मनोदीक्षा, तीव्र और तीव्रतर दीक्षा के भेद से वहां (14/53–66) इस वेध दीक्षा के विभिन्न प्रकार वर्णित हैं। इनकी शक्तिसंगमतन्त्र में प्रदर्शित वेधों से तुलना की जा सकती है। तीव्रतर वेध दीक्षा में शिष्य साक्षात शिवमय हो जाता है। वेध दीक्षा को देने वाला गुरु और प्राप्त करने वाला शिष्य दोनों दुर्लभ माने गये हैं। आनन्द, कम्प, उद्‌भव घूर्णि, निद्रा और मूर्छा – ये छः वेध की अवस्थाएं हैं। अभिनवगुप्त ने तन्त्रवटधानिका (2/13) में आनन्द, उद्‌भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि – इन पांच अवस्थाओं को ही स्वीकार किया है। मालिनीविजयतन्त्र (11/35) में भी इन्हीं का उल्लेख मिलता है। कुलार्णव वर्णित मूर्छा की यहां गणना नहीं है। वेध दीक्षा का अभिप्राय यह है कि सद्‌गुरु द्वारा दृष्टि, स्पर्श अथवा शब्द आदि से विद्ध शिष्य के सभी पाश क्षीण हो जाते हैं और वह आनन्द से लेकर घूर्णि पर्यन्त दशाओं से आविष्ट हो जाता है, निर्मल स्वच्छ स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

द्‌वादशान्त

प्राण और अपान की गति की जिस स्थान पर उत्पत्ति होती है, अथवा जाकर जहां रुक जाती है, उसको हृदय और द्वादशान्त कहते हैं। बाह्य और आन्तर शिव द्वादशान्त और शक्ति द्वादशान्त के भेद से द्वादशान्त की द्विविध स्थिति मानी गई है। कभी–कभी शून्यातिशून्य मध्यधाम, अर्थात् सुषुम्ना नाडी को भी द्वादशान्त कहा जाता है। तंत्रालोक की टीका (5/71) में सभी नाड़ियों के अग्रभाग में द्वादशान्त की स्थिति मानी गई है। द्वादशान्त

पद की व्याख्या करते हुए शिवोपाध्याय (वि.भै.पृ. 43) कहते हैं कि शरीर के प्रत्येक रोमकूप में द्वादशान्त की स्थिति है। यहां द्वादशान्त पद का प्रयोग लाक्षणिक है। जैसे मुख्य द्वादशान्त की स्थिति द्वादश आधारों के अन्त में है, उसी तरह से सभी नाडियों के अन्त (रोमकूप) में भी प्राण शक्ति की स्थिति है। अतः यहां विद्यमान प्राणशक्ति को भी द्वादशान्त कह दिया जाए तो कोई अनौचित्य नहीं है। हकार की उत्पत्ति हृदय में और सकार की उत्पत्ति द्वादशान्त में मानी जाती है।

हृदय स्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। इसीलिये बाह्य आकाश योगशास्त्र में द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। द्विषटकान्त, मुष्टित्रयान्त या शिरवान्त शब्द द्वादशान्त के पर्यायवाची हैं। नेत्रतन्त्र (8/41) की टीका में क्षेमराज ने तथा तन्त्रालोक (5/89–91) की टीका में जयरथ ने द्वादशान्त पद का अर्थ ऊर्ध्व द्वादशान्त किया है, जिसकी कि स्थिति शिखा के अन्त में है। इसमें उन्मना शक्ति का निवास है। इस प्रकार द्वादशान्त की स्थिति ब्रह्मरन्ध्र से पृथक मानी गई है। इसको द्वादशान्त इसलिये कहते हैं कि द्वादश आधारों के अन्त में इसकी स्थिति है।

निर्विकल्प महायोगी द्वादशान्त के भी ऊपर स्थित परमाकाश में जब पहुंच जाता है, तो उस स्थिति में सर्वात्मता का विकास होने से वह अनुत्तर शून्य में लीन हो जाता है। योगिनीहृदय (1/27, 34) में इसको महाबिन्दु कहा गया है। वहां आज्ञाचक्र तक की स्थिति को सकल, उन्मना पर्यन्त स्थिति को सकल–निष्कल और महाबिन्दु को निष्कल माना गया है। इस निष्कल स्वरूप में भगवती त्रिपुरसुन्दरी निवास करती है।

नवमुण्डी आसन

कुशासन, कम्बल, गलीचा, अजिन (मृगचर्म), व्याघ्रचर्म आदि आसनों से सभी परिचित हैं, सुखदायक आसन पर बैठकर योगांग आसन का अनायास अभ्यास किया जा सकता है एवं उससे प्राणायाम और चित्त की एकाग्रता सहज सिद्ध हो सकती है। शक्तिसंगमतन्त्र के द्वितीय ताराखण्ड (4/27) में 32 प्रकार के आसनों का उल्लेख है। उनमें से मृदु, समारूढ़,

कोमल, अचूलक, योनित्वक्, विष्टर, अस्थिभूमि, कुश, सुरत, मुण्ड, पंचमुण्ड, त्रिमुण्ड, एकमुण्ड, चिता, श्मशान, शव, मृत महाशव, वीर, महावीर और योनि नामक आसनों का वहां (2/9/2–6) नामोल्लेख किया गया है। नवम और दशम पटल में मुण्डरहस्य तथा कालिका परिशिष्ट के आधार पर कुछ विशिष्ट आसनों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। इसी तरह से 20, 27, 47–50, 60, 67–68, 71 पटलों में इन्ही में से कुछ आसनों का विस्तृत परिचय मिलता है। अन्त में बताया गया है कि इन आसनों की भी संख्या 84 होती है।

यहां यह अवश्य ज्ञान लेना चाहिये कि योगशास्त्र में वर्णित आसनों से ये सर्वथा भिन्न हैं। योगासनों से शरीर की विभिन्न स्थितियों में सुविधाजनक स्थिरता प्राप्त की जाती है, जब कि प्रस्तुत आसनों का उपयोग साधना में बैठते समय स्थिर और सुखदायक आधार के रूप में किया जाता है। वंगदेश में एकमुण्डी, त्रिमुण्डी और पंचमुण्डी आसन तन्त्रसाधना में प्रसिद्ध हैं। परमहंस रामकृष्ण, साधक रामप्रसाद, कमलाकान्त आदि ने पंचमुण्डी आसन पर बैठकर ही सिद्धि प्राप्त की थी। इस समय भी बंगदेश तथा काशी प्रभृति स्थानों में भी किसी न किसी साधक का पंचमुण्डी आसन प्रसिद्ध है।

नवमुण्डी आसन का रहस्य अब तक रहस्य ही बना हुआ था। परमाराध्यपाद श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस द्वारा श्री काशीधाम स्थित अपने आश्रम में श्री श्री नवमुण्डी आसन की स्थापना होने के अनन्तर आध्यात्मिक मात्रा में इस आसन का रहस्य कुछ–कुछ उन्मीलित हुआ। इस नवमुण्डी आसन के आध्यात्मिक रहस्य को समझाने का प्रयत्न स्वयं श्रद्धेयचरण गुरुप्रवर श्री श्री गोपीनाथ कविराज महोदय ने अपने ग्रन्थ 'तान्त्रिकवाङ्मय में शाक्तदृष्टि' के 'श्री श्री नवमुण्डी महासन' शीर्षक निबन्ध (पृ. 261–278) में किया है। जिज्ञासु जनों को इस रहस्य को वहीं समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

नाडी

तोडलतन्त्र (8/1) में बताया गया है कि मानव देह में साढ़े तीन करोड़

नाडियां हैं। शारदातिलककार (1/39–43) इस देह को अग्नीषोमात्मक मानते हैं, क्योंकि देह का कारणभूत शुक्लबिन्दु अग्निस्वरूप और रक्त बिन्दु सोमात्मक है। इसका दक्षिण भाग सूर्यात्मक और वाम भाग सोमात्मक है। इसमें अनन्त नाडियों का निवास है। इनमें दस नाडियां मुख्य हैं और उनमें भी तीन नाड़ियां प्रधान हैं। शरीर के वाम भाग में इडा, मध्य में सुषुम्णा और दक्षिण में पिंगला नाडी स्थित है। इन तीन नाडियों में भी मध्य नाडी सुषुम्णा मुख्य हैं। यह अग्निषोमात्मक है। इनके अतिरिक्त गान्धारी, हस्ति–जिह्वा, पूषा, अलम्बुषा, यशस्विनी, शंखिनी और कुहू ये सात नाडियां और हैं। इस तरह से इनकी संख्या दस हो जाती है। नैत्रतन्त्र (7/1–5) की टीका में क्षेमराज ने भी इन्हीं दस नाडियों की नामावली दी है। अन्तर केवल इतना है कि वहां यशस्विनी को यशा कहा गया है। ज्ञानसंकलिनी तन्त्र (76 श्लो.) में भी इसका यश ही नाम है।

शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट शरीर के विभिन्न संस्थानों में इनकी स्थिति और स्वरूप का वर्णन करते हैं। वह यह भी कहते हैं कि अन्य आचार्य इनके अतिरिक्त पयस्विनी, वारणा, विश्वोदरी और सरस्वती इन चार नाडियों को भी प्रधान मान कर इनकी संख्या 14 बताते हैं। तोडलतन्त्र (8/5–6) में 11 नाडियां प्रदर्शित हैं। उनके नाम हैं — इडा, पिंगला, सुषुम्ना, चित्रिणी, ब्रह्मनाडी, कुहू, शंखिनी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, नर्दिनी और निद्रा। इनमें से चित्रिणी, ब्रह्मनाडी, नर्दिनी और निद्रा को छोड़कर बाकी नाम पूर्वोक्त ही हैं। संगीतदर्पण में सुषुम्णा, इडा, पिंगला, कुहू, पयस्विनी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, वारणा और यशस्विनी नाडियां वर्णित हैं। इनमें पयस्विनी और वारणा नाडियों के नाम 14 नाडियों में समाविष्ट हैं।

पांचरात्र आगम की पारमेश्वर संहिता (3/90–106) में नाडी चक्र का वर्णन करते हुए बताया गया है कि शरीर में 72 हजार नाडियां विद्यमान हैं। ये सब आग्नेय, सौम्य और सौम्याग्नेय वर्ग में विभक्त हैं। आग्नेय नाडियां ऊर्ध्वमुख, सौम्य नाडियां अधोमुख और सौम्याग्नेय नाडियां तिरछी हैं। इन नाडियों में दस नाडियां प्रधान हैं। इनके नाम हैं — इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और

कोशिनी। इनमें से कोशिनी नाम अन्यत्र नहीं आया है। इडा, पिंगला और सुषम्ना नामक प्रमुख नाड़ियों का विवरण अलग से दिया गया है। सुषुम्ना नाडी के अग्र भाग में गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाडियां कन्द देश के वाम और दक्षिण भाग से उठकर नेत्रपर्यन्त तथा पूषा और यशस्विनी नाडियां सुषुम्ना नाडी के पृष्ठ भाग से कन्द देश से उठकर वाम और दक्षिण कर्णपर्यन्त स्थित हैं, अलम्बुषा नाडी कन्द से पादमूल, पर्यन्त, कुहू मेढ़ के अन्तिम भाग में और कोशिनी पैर के अंगूठे में स्थित है। गान्धारी का वर्णपीत, हस्तिजिह्वा का कृष्ण, पूषा का कृष्णपीत, यशस्विनी का श्याम, अलम्बुषा का चितकबरा, कुहू का अरुण और कोशिनी का वर्ण अंजन के समान है। इन दस नाडियों में यहां दस प्राणों की भी स्थिति बताई गई है। इडा नाडी प्राण की, गान्धारी अपान की, अलम्बुषा समान की, कुहू व्यान की, सुषुम्ना उदान की, पिंगला नाग की, पूषा कूर्म की, यशस्विनी कृकर की, हस्तिजिह्वा देवदत्त की और कोशिनी धनंजय नामक पवन की वाहिका है। इस संहिता में इस तरह से दशविध प्राणों का और साथ ही इनके वर्णों का भी वर्णन किया गया है।

पारमेश्वर संहिता के ही समान नेत्रतन्त्र (7/1–5) के व्याख्याकार क्षेमराज भी दस नाडियों का उक्त दशविध प्राणों से संबंध बताते हैं। पारमेश्वर संहिता के ही समान शारदातिलक के टीकाकार ने भी योगार्णव नामक ग्रन्थ के प्रमाण पर इन दशविध नाडियों के स्थान और वर्ण का वर्णन किया है, किन्तु इनमें कोई समानता नहीं है। यहां गान्धारी की स्थिति इडा के पृष्ठ भाग में पाद से नेत्र पर्यन्त मानी गई है और इसका वर्ण मयूर के कण्ठ के समान चितकबरा है। इडा के अग्र भाग में उत्पल वर्ण हस्तिजिह्वा नाडी वाम भाग में सिर से पादांगुष्ठ पर्यन्त है। नीलमेघ सदृश पूषा नाडी पिंगला के पृष्ठ भाग में दक्षिण भाग के नेत्रान्त से पादतल पर्यन्त स्थित है। पीत वर्ण अलम्बुषा कण्ठ के मध्य में और शंख वर्ण यशस्विनी पिंगला के पूर्व देश में है। शंखिनी सुवर्ण वर्ण की है और इसकी स्थिति गान्धारी और सरस्वती के मध्य भाग में है। शरीर के वाम भाग में पैर से लेकर कर्ण पर्यन्त और दक्षिण भाग में पादांगुष्ठ से लेकर शिरोभाग पर्यन्त कुहू नाडी स्थित है।

श्रीतत्त्वचिन्तामणि (6/1–4) में षट्चक्र का निरूपण करते समय नाडियों के संबंध में बताया है कि मेरुदण्ड के बाहर वाम भाग में चन्द्रात्मक इडा और दक्षिण भाग में सूर्यात्मक पिंगला नाडी अवस्थित है तथा मेरुदण्ड के मध्य भाग में वज्रा और चित्रिणी नाडी से मिली हुई त्रिगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी का निवास है। इनमें सत्वगुणात्मिका चित्रिणी चन्द्र रूपा, रजोगुणात्मिका वज्रा सूर्य रूपा और तमोगुणात्मिका सुषुम्ना नाडी अग्नि रूपा मानी गई है। यह त्रिगुणात्मिका नाडी कन्द के मध्य भाग से सहस्रार पर्यन्त विस्तृत है। इसका आकार खिले हुए धतूरे के पुष्प के सदृश है। इस सुषुम्ना नाडी के मध्य भाग में लिंग से सिर तक दीपशिखा के समान प्रकाशमान वज्रा नाडी स्थित है। इस वज्रा नाडी के मध्य में चित्रिणी नाडी का निवास है। यह प्रणव से विभूषित है और मकड़ी के जाले के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार की है। योगीगण ही इसको अपने योगज ज्ञान से देख सकते हैं। मेरु दण्ड के मध्य में स्थित सुषुम्ना और ब्रह्मनाडी के बीच में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों को भेदकर यह नाडी सहस्रार चक्र में प्रकाशमान होती है। इस चित्रिणी नाडी के बीच में शुद्ध ज्ञान को प्रकाशित करने वाली ब्रह्म नाडी स्थित है। यह नाडी मूलाधार स्थित स्वयंभू लिंग के छिद्र से सस्रार में विलास करने वाले परम शिव पर्यन्त व्याप्त है। यह नाडी विद्युत् के समान प्रकाशमान है। मुनिगण इसके कमलनाल स्थित तन्तुओं के समान अत्यन्त सूक्ष्म आकार का मानस प्रत्यक्ष ही कर सकते हैं। इस नाडी के मुख में ही ब्रह्म द्वार स्थित है और इसी को योगी गण सुषुम्ना नाडी का भी प्रवेश द्वार मानते हैं।

इनके अतिरिक्त शास्त्रों में प्राणवहा, मनोवहा, अश्विनी, गुह्यिनी, चित्रा, वारुणी, शूरा, नैरात्म्ययोगिनी प्रभृति नाडियों का भी वर्णन मिलता है। इनका विवरण ''तान्त्रिक साधना और संस्कृति'' नामक ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में 17, 139, 263, 291–292 पृष्ठों पर देखना चाहिये। वहां (पृ. 263) बताया गया है कि सहजियों की सांकेतिक भाषा में सभी नाड़ियों को 'योगिनी' कहा जाता है।

नाद

प्रपंचसार, शारदातिलक, रत्नत्रय प्रभृति ग्रन्थों में नाद और बिन्दु को

शिव और शक्ति से उसी तरह से अभिन्न माना गया है, जैसे कि प्रकाश और विमर्शात्मक शिव तथा शक्ति से शब्द और अर्थ को अभिन्न माना गया है। प्रणव की 12 कलाओं में भी बिन्दु और नाद की स्थिति है। आगम और तन्त्र की विभिन्न शाखाओं में नाद और बिन्दु की अपनी–अपनी व्याख्याएं हैं। विज्ञानभैरवोद्द्योत (पृ. 3) और स्वच्छन्दोद्द्योत (1/3; पृ. 6) में 'अदृष्टविग्रहात' प्रभृतिश्लोक उद्धृत है। कुछ पाठ भेदों के साथ यह स्वच्छन्दतंत्र (8/27–28), श्रीकण्ठीसंहिता (स्वच्छन्दोद्द्योत, वहीं, पृ. 19) और पौष्करागम (श.र.सं., पृ. 7) में उपलब्ध होता है। इस श्लोक के प्रमाण पर इन सभी स्थलों में शास्त्रों की नादरूपता का प्रतिपादन किया गया है।

नादकारिका (श.र.सं., पृ. 40) में नाद को मालिनी, महामाया, समना, अनाहत बिन्दु, अघोषा वाक् और ब्रह्मकुण्डलिनी बताया है। नादभट्टारक और प्राणशक्ति के नदन व्यापार को भी नाद कहा जाता है। 'हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः' (4/257) स्वच्छन्दतन्त्र के इस वचन के अनुसार स्वाभाविक रूप से निरन्तर नदन करने वाले हलाकृति प्राण को ही हकार कहा गया है। अनच्क हकार की आकृति वाले प्राण का यह नदन व्यापार ही हंसोच्चार कहलाता है। इसी को अनाहत ध्वनि अथवा नादभट्टारक भी कहा जाता है। भट्टारक शब्द अतिशय आदर का सूचक है। यह नादभट्टारक शब्द ब्रह्म का ही व्यापार है। यह दस प्रकार का होता है।

तन्त्रालोक (5/59) में ब्रह्मयामल के प्रमाण पर दस प्रकार के राव का प्रतिपादन किया गया है। टीकाकार जयरथ ने (खं. 3, पृ. 410) राव शब्द को नाद का पर्यायवाची मानकार दस प्रकार के नाद का परिचय दिया है। स्वच्छन्दतन्त्र (11/6–7) में इसके आठ भेद माने गये हैं। क्षेमराज ने अपनी टीका में धर्मशिवाचार्य की पद्धति को उद्धृत कर इनका विवरण दिया है। अर्थरत्नावली (पृ. 36) में उद्धृत संकेत पद्धति में भी अनाहत नाद के आठ ही भेद माने गये हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (11/7) में महाशब्द के नाम से नवम नाद भी माना गया है। अर्थरत्नावली (पृ. 36) में उद्धृत हंसनिर्णय में नवम नाद को निर्विशेष विशेषण दिया गया है।

दस प्रकार के नाद में धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करने पर योगी शब्दब्रह्म के स्वरूप को भली–भांति समझ लेता है। वह यह जान लेता है कि शब्दब्रह्म से ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी – इन चार प्रकार की वाणियों का विकास होता है। यह नाद तत्त्व परा और पश्यन्ती के क्रम से विकसित होता हुआ मध्यमा में आकर योगाभ्यास द्वारा श्रवणेन्द्रिय के अन्तर्मुख होने पर सुनाई पड़ता है। अन्तर्मुखता की ओर बढ़ते–बढ़ते, अर्थात् इस नाद के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम स्वरूप का अन्वेषण करते–करते योगी शब्दब्रह्म के स्वरूप को भली–भांति समझने में समर्थ हो जाता है, निष्णात हो जाता है। शब्द ब्रह्म के स्वरूप को ठीक से पहचान लेने पर साधक अनायास परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इस निरन्तर नदन करती अनाहत ध्वनि में चित्त को एकाग्र कर लेने पर योगी का परमाकाश स्वभाव, चिदाकाशमय प्रकाशात्मक स्वरूप प्रकट हो जाता है।

नादानुसन्धान

लययोग के प्रसंग में बताया गया है कि लय नाद पर आश्रित है, अतः लययोग की सिद्धि के लिये नाद का अनुसंधान आवश्यक है। आदिनाथ ने चित्त के लय के सवा करोड़ उपाय बताये हैं, उनमें नादानुसन्धान ही प्रमुख है। इसके लिये साधक को चाहिये कि वह सुखपूर्वक आसन पर बैठकर शारीरिक शाम्भवी मुद्रा के माध्यम से अन्तर्मुख होकर दाहिने कान से अन्तःस्थ नाद का श्रवण करे। ऐसा करते समय उसको कान, आंख, नाक और मुंह को अंगूठे और अंगुलियों की सहायता से बन्द कर लेना चाहिये। इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर उसको सुषुम्ना मार्ग में नदन करता हुआ नाद सुनाई पड़ने लगता है। इसकी आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति नामक चार अवस्थाएं होती हैं। निष्पत्ति अवस्था तक पहुंचते–पहुंचते योगी अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगता है। मुक्ति होती हो अथवा न होती हो, किन्तु नादानुसन्धान प्रयत्न की निष्पत्ति दशा तक पहुंच जाने पर योगी को इसी शरीर में अखण्ड आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

योगी को चाहिये कि कान बन्द कर वह जिस नाद को सुनता है, उसमें अपने चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करे। ऐसा करने से उसकी चित्त–वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, वह बाहरी कोलाहल को नहीं सुनता।

नादानुसन्धान की प्रारंभिक दशा में उसे नाना प्रकार की समुद्र, बादल, मर्दल, शंख, घंटा, किंकिणी, वंश, वीणा, भ्रमर आदि की ध्वनि सुनाई पड़ती है और उसकी चित्त–वृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद की ओर उन्मुख होती जाती है। नाद की जिस किसी अवस्था में योगी का मन रमता हो, उसी का वह अभ्यास करे। इस नादानुसन्धान की प्रक्रिया के अन्त में उसी नाद के साथ साधक का चित्त लीन हो जाता है। मकरन्द का पान करने वाला भ्रमर जैसे गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी तरह से नाद में लीन हुआ चित्त फिर विषयों की ओर नहीं लौटता। इस नादानुसन्धान की प्रक्रिया का वर्णन हठयोगप्रदीपिका प्रभृति ग्रन्थों में मिलता है।

नित्योदित-शान्तोदित

उदित शब्द का अर्थ है ऊपर गया हुआ, उठा हुआ, उगा हुआ। नित्योदित का अर्थ है जिसका नित्य उदय ही हो। संसार में जिसका उदय होता है, वह अस्त भी हो जाता है। इस प्रकार की उदित वस्तुको शान्तोदित कहते हैं। किन्तु जिसका सदा उदय ही हो, जो कभी अस्त न हो, वह नित्योदित है। स्वसंवित्ति अथवा आत्म चेतना के प्रकाशन की दो स्थितियां होती हैं – शान्तोदित और नित्योदित। शान्तोदित वह स्थिति है, जिसमें आत्मचेतना का आविर्भाव होता है, किन्तु फिर उसका तिरोभाव भी हो जाता है। नित्योदित स्थिति में आत्मचेतना का सदा आविर्भाव ही बना रहता है, कभी तिरोभाव नहीं होता। आत्मा तो नित्योदित है ही, उसमें हमारी संवेदना की स्थिति बराबर नहीं रहती। शक्तिसंकोच के सिद्ध हो जाने पर हमारी चेतना की नित्योदित स्थिति हो जाती है। मालिनीविजय (2/36–45) तथा तंत्रालोक (10/227–287) में महाप्रचय अथवा सततोदित दशा के रूप में इसका वर्णन हुआ है। प्रत्यभिज्ञाहृदय (19–20 सू.) में नित्योदित समाधि और उससे प्राप्त होने वाली पूर्ण समावेश दशा की चर्चा भी इसी विषय को स्पष्ट करती है।

पांचरात्र आगम के ग्रन्थों में पर वासुदेव के स्वरूप को नित्योदित माना गया है। इसमें आविर्भाव और तिरोभाव, काल की कलना तथा परिणाम कुछ भी नहीं है। इसमें परम आनन्द सर्वदा विराजमान रहता है। व्यूह वासुदेव का स्वरूप शान्तोदित माना जाता है। इसका उदय होता है

और अस्त भी होता है। सृष्टि आदि व्यापारों की निष्पत्ति, जीवों की रक्षा और उपासकों पर अनुग्रह करने के लिये व्यूह वासुदेव की अभिव्यक्ति होती है। सात्वतसंहिता के अलशिंग भाष्य (1/33-34) में बताया गया है कि ईश्वर की दो दशाएं हैं—नित्योदित और शान्तोदित। नित्योदित दशा में वह केवल स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है और शान्तोदित दशा में वह अपनी विभूतियों का विस्तार करता है। इस व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है, कि शैव, शाक्त और वैष्णव सभी सम्प्रदायों में प्रयुक्त ये दोनों शब्द सर्वत्र समान अर्थ की ही अभिव्यक्ति करते हैं।

निरंजन

मुण्डकोपनिषद् (3/1/3) में कहा गया है कि निरंजन परम साम्य को प्राप्त कर लेता है। यहां निरंजन पद मुक्त जीव के लिये प्रयुक्त है। पाशुपत मत में पशु (जीव) के दो भेद बताये गये हैं — सांजन और निरंजन। उनमें से शरीर इन्द्रिय आदि से संबद्ध पशु सांजन और इनसे रहित पशु को निरंजन कहा गया है। तिर्यक् आदि के भेद से सांजन पशु के 14 प्रकार और निरंजन पशु के तीन प्रकार वहां निर्दिष्ट हैं। इनमें से उक्त मुण्डकोपनिषद् का वाक्य तृतीय प्रकार के निरंजन पशु से ही संबद्ध है। अन्य शैव आगमों में भी इनका उल्लेख मिलता है। वहां माया में पड़ा हुआ जीव सांजन और उससे अतीत निरंजन कहा जाता है। उपनिषदों में ही अन्यत्र (त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्, 7/9) निरंजन पद परब्रह्म के पर्याय के रूप में व्यवहृत है। इस उपनिषद् में वैष्णव सिद्धान्त के अनुरूप ही परब्रहम का निरूपण किया गया है। अन्य वैष्णव आगमों में भी इसी अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त है।

नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में अपर, पर, सूक्ष्म, निरंजन और परमात्मा नामक पांच तत्त्व या पद वर्णित हैं। इनमें से निरंजन पद में सहजत्व, सामरस्य, सत्यत्व, सावधानता और सर्वगत्व नामक गुणों की स्थिति मानी गई है। ये सब शिव के विविध रूप हैं। बौद्ध शास्त्रों में शून्य अथवा निर्वाण पद को निरंजन कहा जाता है। परवर्ती सन्त साहित्य में नाथ सम्प्रदाय अथवा बौद्ध सम्प्रदाय में मान्य अर्थ में ही इस पद का प्रयोग हुआ है।

गोरक्षनाथ सिद्ध विरचित अमरौघशासन (पृ. 8–9) में काम, विष और निरंजन तत्त्वों की चर्चा है। ब्रह्मदण्ड के मूलांकुर में इनकी स्थिति मानी गई है। इन्हीं तीन तत्त्वों का निरूपण तन्त्रालोक के तृतीयाह्निक (पृ. 112, 115, 170) में भी मिलता है। वहां इन तत्त्वों को क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्त्यात्मक माना है। इन शक्तियों के द्वारा अंजित होकर ही ब्रह्म नाना रूपों में प्रकट होता है। इन शक्तियों में समरसता स्थापित कर योगी निरंजन पद में प्रतिष्ठित हो जाता है।

विज्ञानभैरव की टीकाओं में निरंजन पद का अर्थ द्वादशान्त किया गया है। योगिनीहृदय के टीकाकार अमृतानन्द योगी रूपातीत स्थिति को निरंजन पद कहते हैं। हठयोगप्रदीपिकाकार स्वात्माराम योगी निरंजन शब्द को समाधि का पर्याय मानते हैं। इन सब प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने वाला यह पद सम्प्रति प्रधानतः बौद्ध शास्त्र में स्वीकृत शून्यता अथवा निर्वाण तथा नाथ सम्प्रदाय में अभिमत शिव के निष्कल निरंजन पद के लिये ही व्यवहृत होता है। हिन्दी और मराठी आदि भाषाओं के कवियों ने इन्हीं अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है। नेत्रतन्त्र (7/38) में भी सूक्ष्म ध्यान के द्वारा निरंजन परम पद की अभिव्यक्ति का उल्लेख मिलता है।

निर्वाण कला

श्रीतत्त्वचिन्तामणि (6/48–50) में बताया गया है कि अमा कला के भीतर निर्वाण कला स्थित है। यह साधक को मुक्ति प्रदान करने वाली है, अतः इसे निर्वाण कला कहा जाता है। मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य प्रभृति शब्द पर्यायवाची हैं। निर्वाण कला केश के अग्र भाग के हजारवें भाग से भी सूक्ष्म है, अतएव दुर्ज्ञेय है। यह प्राणियों की चैतन्य शक्ति है। इसी की सहायता से साधक योगी के चित्त में ब्रह्म ज्ञान का उदय होता है। ध्यान में इसका आकार अर्धचन्द्र के समान तिरछा है। इस निर्वाण कला के भीतर निर्वाण शक्ति का निवास है। बिन्दु–स्वरूपा यह निर्वाण शक्ति जीव को सामरस्यावस्था से उत्पन्न परम प्रेम की धारा से सदा आप्यायित करती रहती है। इस निर्वाण शक्ति के मध्य में स्थित सूक्ष्म स्थान में निर्मल शिवपद, परब्रह्म का स्थान है। योगी ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। यह पद नित्यानन्दमय है। इसी को ब्रह्मपद, वैष्णव परमपद, हंसपद और मोक्षपद भी कहते हैं।

नेत्रत्रय

भगवान् शिव को त्र्यम्बक कहा जाता है। इनके तीनों नेत्र सदा उन्मीलित रहते हैं, किन्तु जीव दशा में तृतीय नेत्र निमीलित हो जाता है। इसकी स्थिति भाल, अर्थात् भ्रूमध्य में मानी जाती है। क्रम दर्शन में इसको मूर्तिचक्र की संज्ञा दी गई है और दक्षिण तथा वाम नेत्रों को क्रमशः प्रकाशचक्र और आनन्दचक्र कहा जाता है। ये तीनों चक्र क्रमशः प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय भाव के प्रतीक हैं। मूर्तिचक्र में मूर्धना, मोह और समुच्छ्राय की स्थिति रहती है। यह मूर्ति अन्दर और बाहर अहन्ता और इदन्ता के रूप में स्फरित होती हैं जब अहन्ता का भाव प्रबल होता है, तो इदन्ता का भाव तिरोहित हो जाता है और जब इदन्ता का भाव प्रबल होता है, तो अहन्ता का भाव तिरोहित हो जाता है। ये दोनों ही स्थितियां मोह के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रक्रिया से प्रमाता अथवा वह्निस्वरूप का परम प्रकाशमय परभैरव की संवित्ति पर्यन्त उत्कर्ष तथा पाषाण प्रभृति जड़ संवित्ति पर्यन्त अपकर्ष, अपनी महती स्वातंत्र्य शक्ति के कारण ही होता है। यही स्वातन्त्र्य शक्ति यहां मूर्तिचक्र शब्द से बोधित हुई है।

दक्षिण नेत्र प्रकाशचक्र का प्रतीक है। प्रमेय पदार्थ को प्रकाशित करने वाला प्रमाण यहां प्रकाशचक्र के नाम से जाना जाता है। यह प्रमाण स्वरूप प्रकाशात्मक सूर्य द्वादशधा विभक्त है। बुद्धि के साथ कर्मेन्द्रियां तथा मन के साथ बुद्धीन्द्रियां मिलकर इस विभाग को पूरा करती हैं। अहंकार की उक्त दोनों स्थितियो में अनुस्यूति रहती है। द्वादशधा विभक्त इस प्रमाण व्यापार से ही सारे प्रमेय प्रकाशित होते हैं। अतः यह प्रमाण व्यापार प्रकाशचक्र के नाम से अभिहित हुआ है।

वामनेत्र आनन्दचक्र का प्रतीक है। स्वात्मस्वरूप परमेश्वर जब इदन्ता के रूप में स्फरित होता है, तो वह प्रमेय (विषय), अर्थात् भोग सामग्री के रूप में प्रकट होकर सर्वत्र आनन्द की सृष्टि करने लगता है। यह सोम (चन्द्रमा) का अंश है। शब्द, स्पर्श आदि सभी वैद्य विषयों का इसमें अन्तर्भाव होता है।

इन्हीं तीन चक्रों से इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक शक्तियां, अग्नि, सूर्य,

सोम नामक बिन्दु, भूः, भूवः, स्वः नामक व्याहृतियां, प्राण, अपान, उदान नामक वायु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग नामक स्थान; सत्त्व, रज, तम नामक गुण; इडा, पिंगला, सुषुम्ना नामक नाडिया; देवयान, पितृयान और महायान नामक यान; स्थूल, सूक्ष्म, पर नामक अवस्थाएं; कुल, कौल, अकुल नामक विभाग; मन्त्र, मुद्रा, निरीहा नामक रहस्यों की ही नहीं, त्रित्व संख्या विशिष्ट समस्त पदार्थों की सृष्टि होती है (महार्थमंजरी, पृ. 87–89)।

न्यास

तन्त्रशास्त्र में बताया गया है कि साधक स्वयं देवस्वरूप बनकर इष्टदेव की उपासना करे। एतदर्थ भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, शोष, दाह और आप्यायन विधि के ही समान विविध न्यासों का भी विधान है। देवता अथवा साधक के शरीर के भिन्न–भिन्न अंगों में इष्ट मन्त्र स्थित वर्णों का न्यास किया जाता है। तन्त्र और पुराण वाङ्मय में अनेक प्रकार के न्यासों का विवरण मिलता है। वर्ण विन्यास की पद्धति में अंगन्यास और करन्यास प्रमुख हैं। षडंग न्यास के नाम से ये प्रसिद्ध है। व्यापक न्यास में सिर से पैर तक तथा पैर से सिर तक अपने सम्पूर्ण इष्ट मन्त्र का विन्यास किया जाता है। जीव न्यास की विधि से प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में गणेश, ग्रह, नक्षत्र, योगिनी, राशि और पीठ–इन षौढा न्यासों का विधान है। अंतर्मातृका और बहिर्मातृका न्यासों का भी यहां विस्तार से वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त ऋष्यादि न्यास, सृष्ट्यादि न्यास मन्त्र, मूर्ति, दशांग, पंचाङ्ग, आयुघ, भूषण, श्रीकण्ठ, वशिनी प्रभृति न्यास भी विभिन्न प्रयोजनों के लिये उद्दिष्ट हैं।

पंचकंचुक

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबौधः (12/33) प्रभृति वायपुराण के श्लोक में शिव के सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता ये छः गुण गिनाये गये हैं। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव शिव से अभिन्न हैं, किन्तु माया के कारण उसका स्वरूप संकुचित हो जाता है और इसके बाद कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्वों के कारण क्रमशः उसकी सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, नित्यपरिपूर्णतृप्तिता, नित्यता और

स्वतन्त्रता—ये पांच शक्तियां संकुचित हो जाती हैं (द्रष्टव्य—सौ.सु., 1/32—39)। अतः इन पांचों तत्त्वों को पंचकंचुक कहा जाता है। माया का भी इसमें समावेश कर कुछ आचार्य कंचुकों की संख्या छः मानते हैं।

पंचकृत्य

शैव और शाक्त दर्शन में शिव को पंचकृत्यकारी बताया गया है। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, और अनुग्रह ये शिव के पांच कार्य हैं। शिव की तिरोधान शक्ति के कारण जीव अपने परमार्थ स्वरूप को भूल बैठता है और उसका अनुग्रह होने पर, जिसको कि आगम की भाषा में शक्तिपात कहा जाता है, वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। शिव के इन दो व्यापारों की तुलना वेदान्त दर्शन के अध्यारोप और अपवाद शब्दों से की जा सकती है। आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन नामक पंचकृत्यों का प्रतिपादन प्रत्यभिज्ञाहृदय (सू. 11) में किया गया है। शक्तिपात दशा में परिच्छिन्न प्रमाता में भी इन कृत्यों की अभिव्यक्ति मानी गई है। इनके अतिरिक्त क्रम दर्शन में सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा नामक पंचकृत्य प्रतिपादित हैं। इनकी व्याख्या अलग से की है।

पंचवाह

क्रम दर्शन में श्रीपीठ, पंचवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र, गुरुपंक्ति और पांच शक्तियों की उपासना विहित है। अपने शरीर को ही यहां श्रीपीठ बताया गया है। इस शरीर में भी परमेश्वर पांच प्रकार से स्फुरित होता है। परमेश्वर के स्फुरण की यह धारा ही वाह के नाम से अभिहित है। इनके नाम हैं—व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी। कुछ आचार्य गोचरी, दिक्चरी और भूचरी अथवा भूचरी, दिक्चरी और गोचरी के क्रम से इनकी स्थिति बताते हैं। ये ही पांचों शक्तियां क्रमशः चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति के रूप में तथा परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में अनुभूत होती है। सृष्टि प्रभृति जितने भी पांच संख्या वाले पदार्थ हैं, उन सबका समन्वय इन्हीं से होता है। प्रणव की पांच कला तथा अन्य भी ऊपर बताए गए व्योम (पांच) संख्या वाले पदार्थों का वमन करने वाली शक्ति का नाम व्योमवामेश्वरी है। यह परमेश्वर की अविकल्प भूमि में अनुप्रविष्ट विच्छवित का ही विलास है (महार्थमंजरी, पृ. 83—87)।

क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय (12 सू.) में इसका वामेश्वरी के नाम से वर्णन किया है। वहां अन्य चार शक्तियों का क्रम यह है—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। प्रत्यभिज्ञाहृदय में प्रदर्शित क्रम के अनुसार यहां क्रमशः इन पांचों शक्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

1. वामेश्वरी

संवित् क्रम में चितिस्वरूपा महाशक्ति वामेश्वरी नाम धारण कर खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी—इन चार स्वरूपों में परिस्फुरित होती है। अविभक्त दशा में प्रमाता, आन्तर प्रमाण और प्रमेय विभाग नहीं रहता। परन्तु स्फुरण की अवस्था में प्रमाता, आन्तर प्रमाण या अन्तःकरण, बहिःकरण या बाह्य इन्द्रियां और प्रमेय ये चार विभाग अलग–अलग प्रकाशित होते हैं। ये अपरिमित प्रमाता को परिच्छिन्न (परिसीमित) बना देते हैं। ये सब पशुओं को विमोहित करते हैं। परन्तु आत्मा जब शिवभूमि में प्रविष्ट होती है, तब ये शक्तियां शिवहृदय को विकसित करती हैं। उस समय में खेचरी आदि शक्तियां ही आत्मा के पूर्णकर्तृत्व आदि की प्रकाशक चिद्गगनचरी, अभेदविश्चय गोचरी, अभेदालोचनात्मक दिक्चरी तथा स्वांगकल्प अद्वयप्रथामय प्रमेयात्मक भूचरी के रूप में प्रकाशमान होती हैं।

वाम शब्द वम् धातु से संबद्ध है, जिसका अर्थ होता है—वमन करना, बाहर फेंकना। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिये कहलाती है कि यह विश्व को परमशिव से बाहर फेंकती है। वाम शब्द का अंर्थ बायां और विपरीत भी है। यह शक्ति वामेश्वरी इसलिए भी कहलाती है कि यद्यपि शिव में अभेद, अर्थात् पूर्णता की चेतना है, किन्तु संसार दशा में इस शक्ति के कारण उसमें भेद और अपूर्णता की भावना घर कर जाती है। इसके कारण प्रत्येक जीव शरीर, प्राण इत्यादि को ही अपना स्वरूप समझने लगता है।

वाम शब्द का अर्थ सुन्दर भी होता है। परब्रह्म का सौन्दर्य इसी बात में निहित है कि वह विश्व का वमन करता हुआ पारमेश्वरी लीला के चमत्कार को चमका देता है, अन्यथा वह शून्य गननवत् जड़ और इसीलिए भावात्मक सौन्दर्य से रहित होता है।

2. खेचरी

खेचरी शक्ति का संबन्ध प्रमाता से है। इसके कारण चेतन आत्मा अपरिमित प्रमाता से परिमित प्रमाता बन जाती है। 'खे(आकाशे) चरतीति खेचरी' इस व्युत्पत्ति के अनुसार ख शब्द का अर्थ आकाश है। खे सप्तमी विभक्ति है। इसका अर्थ है 'आकाश में'। यहां ख या आकाश चित् का प्रतीक है। इस शक्ति का नाम खेचरी इसलिए है कि इसका क्षेत्र चिद्गगन है। चिद्गगन के पारमार्थिक स्वभाव को छिपा कर यह प्रमाता को परिमित प्रमाता बना देती है। वह अब पशु बन जाता है। माया से उद्भूत कला आदि पंचकंचुक समष्टि रूप से खेचरी चक्र के नाम से अभिहित होते हैं। इनका नाम आत्मा के स्वरूपभूत पांच नित्य धर्मों को संकुचित करना है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व; नित्यत्व, विभुत्व और आप्तकामत्व–ये पांच आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं। शिव रूपी आत्मा चिंदाकाश में संचरण में समर्थ होने पर भी पशु दशा में इस खेचरी चक्र से आक्रान्त होकर परिमित प्रमाता बन जाता है। उस समय वह अल्पकर्ता, अल्पक्ष, अनित्य, नियतदेशवृत्ति और भोग की आकांक्षा से लिप्त हो जाता है।

3. गोचरी

गोचरी का संबन्ध अन्तःकरण से है। इस चक्र से चेतन आत्मा अन्तःकरण से परिच्छिन्न हो जाता है। गौ शबद गमन या चलन का द्योतक है। किरण, गौ, इन्द्रियां–ये सभी पदार्थ 'गौ' शब्द से अभिहित होते हैं, क्योंकि इस सब में गमन का भाव निहित है। अन्तःकरण इन्द्रियों का आश्रय है। वही इन्द्रियों को परिचालित करता है। इसलिये वह गोचरी शक्ति का क्षेत्र है। इसके कारण आत्मा का स्वभावसिद्ध अभेदनिश्चय, अभेदाभिमान तथा अभेद विकल्पमय पारमार्थिक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। भेदनिश्चय, भेदाभिमान तथा भेदविकल्प प्रधान अन्तःकरण रूप देवियां ही गोचरी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हैं।

4. दिक्चरी

दिक्चरी का संबन्ध बहिःकरण (बाह्य इन्द्रिय) से है। दिक्चरी चक्र के द्वारा चेतन आत्मा बहिःकरणों से परिच्छिन्न हो जाता है। दिक्चरी वह

शक्ति है, जो दिक् (दिशाओं) में चलती रहती हैं बहिःकरण या बाह्य इन्द्रियों का संबंध दिक् या देश से है। इसलिये दिक्चरी शक्ति का क्षेत्र बाह्य इन्द्रियां हैं। इस शक्ति के कारण पारमार्थिक अभेद प्रथा (अभेद ज्ञान) आच्छादित हो जाती है तथा भेदविचारमय भेद प्रथा का प्राकट्य हो जाता है। यह बाह्य कारण रूप दैवीचक्र ही दिक्चरी शक्ति के नाम से प्रसिद्ध है।

5. भूचरी

भूचरी शक्ति का संबन्ध भावों (पदार्थों) से है। इसके कारण चेतन आत्मा भावों (पदार्थों=प्रमेयों) में ही अटका रह जाता है। 'भूचरी' में विद्यमान 'भू' का अर्थ 'होना' है। जो कुछ हो गया है, वह 'भू' के अन्तर्गत है। अतः यह शक्ति सभी भाव, अर्थात् पदार्थ अथवा प्रमेयों (विषयों) का बोध कराती है। सभी पदार्थ या प्रमेय भूचरी के क्षेत्र में आते हैं। भूचरी शक्ति के कारण पारमार्थिक सर्वात्मकता आवृत हो जाती है और परिच्छिन्न आभासमय प्रमेयवर्ग प्रकाशित हो उठता है।

पद

मालिनीविजय (2/36–35) तथा तन्त्रालोक (10/227–287) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहां मन्त्र को पदस्थ बताया गया है और इसके गतागत, सुविक्षिप्त, संगत और सुसमाहित नामक चार भेद माने गये हैं। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (19/30–48) और शिवज्ञान के प्रसंग (20/1–7, 18–26) में भी इस विषय का विवरण मिलता है। जैन ग्रन्थ ज्ञानार्णव के 35वें प्रकरण में पदस्थ ध्यान वर्णित है। इसमें वर्ण और मन्त्रों की ध्यानविधि बताई गई है। योगिनी हृदय (1/42) में बताया गया है कि पद में पूर्णगिरी पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने इसकी व्याख्या की है कि पद अर्थात् हंस–वाण का आधार ह्रदय है। वहीं अन्यत्र (3/94) इसको विघ्नरूप माना है। इसीलिये 3/137 की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि पद से मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान पर (पृ. 4) पद का अर्थ

18–19 HRD/99

ध्यान तथा अन्यत्र (पृ. 90) माया से विमोहित जीव किया है। वहीं (पृ. 53) यह भी बताया गया है कि इसके आठ भेद होते हैं। आणव उपाय के प्रसंग में इस शब्द की चर्चा आ चुकी है।

परा वाक्

कारण बिन्दु का अभिव्यक्त स्वरूप शब्दब्रह्म कहलाता है और यह मूलाधार में निष्पन्दावस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी स्थिति को परा वाक् कहा जाता है। शास्त्रों में नादात्मक अकारादि मातृका वर्णों की चार अवस्थाएं वर्णित हैं—अनाहतहतोत्तीर्ण, अनाहतहत, अनाहत और हत। इनमें अनाहतहतोत्तीर्ण अवस्था ही परा वाक् है। तन्त्रालोक (5/97–100) में उद्धृत ब्रह्मयामल में नाद को राव कहा गया है। परावाक् स्वरूप अहंविमर्शात्मक राव पश्चन्ती, मध्यमा, वैखरी और इनके स्थूल, सूक्ष्म तथा पर भेदों के कारण नवधा विभक्त हो जाता है। इन सबका आधारभूत परावागात्मक राव दशम है। इस तरह से यह परावागात्मिका राविणी दिव्य आनन्दप्रदायक दस प्रकार के नाद का नदन करती रहती है। इसी से वर्णाम्बिका का पश्यन्ती रूप अभिव्यक्त होता है। परा वाक् को ही सूक्ष्मा और कुण्डलिनी शक्ति भी कहा जाता है। योगिनीहृदय (1/36) में इसको अम्बिका शक्ति कहा गया है।

पर्यायसप्तक

शक्तिसंगम तन्त्र में पर्याय के नाम से तन्त्रों का विभाग किया गया हैं देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन, आयतन और आगम के भेद से पर्याय सात प्रकार के होते हैं। किस देश में कौन सा आचार, क्रम, मार्ग या तन्त्र प्रचलित हैं, इसका ज्ञान देश पर्याय से होता है। किस काल में कौन सी विद्या कैसे प्रचलित हुई? उसका स्वरूप क्या है? इन सबका ज्ञान काल पर्याय से होता है। किस आम्नाय में कैसा आचार है? उसका स्वरूप क्या है और उसकी विशेषता क्या है? इन प्रश्नों का समाधान आम्नाय पर्याय में वर्णित है। किस विद्या की उपासना किस आचार से की जाती है? कवियुग में उसका क्या स्वरूप है? उसका फल क्या है? इन सब विषयों का निर्णय विद्या पर्याय में किया गया है। किस दर्शन का क्या आचार हैं? इसके

प्रतिपादक तन्त्र कौन--कौन से हैं? इस बात का निरूपण दर्शन पर्याय में किया गया है। किस आयतन की उत्पत्ति कैसे हुई? किस में कितने तन्त्र हैं? इसका आचार क्या है, इन बातों का निर्णय आयतन पर्याय में किया गया है। किस आगम की उत्पत्ति कैसे हुई? इनका आचार क्या है? मुख्य और अंग मन्त्र कौन–कौन से हैं? इनकी परंपरा कैसी है? इनमें तन्त्र कितने हैं? और इनसे सिद्धि कैसे मिलती है? इन सब विषयों का निरूपण आगम पर्याय में किया गया है।

इस प्रकरण की समाप्ति (4/7/157–160) में देश पर्याय का पूर्वाम्नाय में, काल पर्याय का दक्षिणाम्नाय में, आगम पर्याय का पश्चिमाम्नाय में, दर्शन पर्याय का उत्तराम्नाय में, आयतन पर्याय का पातालाम्नाय में और विद्या पर्याय का ऊर्ध्वाम्नाय में समावेश किया गया है। इसको वहां पर्यायाम्नाय भी कहा गया है। इस तरह से उक्त छः पर्यायों में भी आम्नाय पर्याय की अनिवार्य उपस्थिति रहती है, अतः आम्नाय ही इन सब में प्रधान है। तथापि दर्शन और आगम पर्याय का भी अपना निजी स्वरूप सुरक्षित है। इसी तरह से देश और काल के भेद से ही तन्त्रों का भेद होता ही है। दश महाविद्या तथा अन्य विद्याओं के प्रतिपादक स्वतन्त्र तन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते ही हैं। इसलिये उक्त सभी पर्यायों की स्वतन्त्र स्थिति तन्त्रशास्त्र में मान्य हैं और इसका इतना विस्तार से वर्णन किया गया है। इससे तान्त्रिक वाङ्मय की विशालता का भी परिचय मिलता है।

1. देशपर्याय

शक्तिसंगम तन्त्र (4/2/15–33) में कादि और हादि के भेद से 56–56 देशों के नाम गिनाये गये हैं और इनकी सीमा का निर्धारण भी वहीं (3/7/15–72) किया गया है। इन सभी देशों को पुनः प्राक्, प्रत्यक्, दक्षिण और उदक् तथा केरल, काश्मीर, गौड और विलास के नाम से चार भागों में बांटा गया है। अंग से मालव पर्यन्त केरल, मरुदेश से नेपाल तक काश्मीर, सिलहट्ट से सिन्धु पर्यन्त गौड सम्प्रदाय फैला हुआ है। विलास सम्प्रदाय पूरे देश में व्याप्त है। चीन देश में 100 तंत्र और 7 उपतन्त्र, द्रविड देश में 20 तंत्र और 25 उपतन्त्र, केरल में 60 तन्त्र और 50 उपतन्त्र, काश्मीर

में 100 तन्त्र और 10 उपतन्त्र, गौड देश में 72 तन्त्र और 16 उपतन्त्रों की स्थिति है। इनके अतिरिक्त ऊर्ध्व दिशा और पाताल में भी सकल और निष्कल के क्रम के अनुसार शाक्त और शैव तन्त्रों की स्थिति बताई गई है। इन सबका विवरण वहीं (4/5/40–73) देखना चाहिये।

2. कालपर्याय

इसका विस्तृत विवरण शक्तिसंगम तन्त्र के चतुर्थ खण्ड के 5–6 पटलों में किया गया है। कादि और हादि उभय मतों में इसका एक ही रूप समान रूप से मान्य है। यहां प्रधानतः दस महाविद्या, गणेश, वटुक, प्रभृति दस अवतारों की जयन्तियों का वर्णन करने के बाद बताया गया है कि उचित समय पर ही इन विद्याओं तथा देवताओं की आराधना करनी चाहिये। इसके लिये शकुनविचार भी आवश्यक है। कालपर्याय स्थित तन्त्रों की गणना वहां इस प्रकार की गई है–

शाक्त कालपर्याय में 64 तन्त्र, 326 उपतन्त्र, 300 संहिता, 100 चूडामणि, 9 अर्णव, 4 डामर, 8 यामल, 2 सूक्त, 6 पुराण, 1 उपवेद, 3 कक्षपुटी, 2 विमर्षिणी, 8 कल्प, 2 कल्पलता, 3 चिन्तामणि ग्रन्थों का समावेश है।

शैव कालपर्याय में 33 तन्त्र, 325 उपतन्त्र, 3 संहिता, 1 अर्णव, 2 यामल, 3 डामर, 1 उड्डालक, 2 उड्डीश, 8 कल्प, 8 संहिता, 2 चूडामणि, 2 विमर्षिणी, 1 अवतार, 5 बोध, 5 सूक्त, 2 चिन्तामणि, 9 पुराण, 3 उपपुराण, 2 कक्षपुटी, 3 कल्पद्रुम, 2 कामधेनु, 3 सद्भाव, 5 तत्त्व और 2 क्रम तन्त्र समाविष्ट हैं।

वैष्णव कालपर्याय में 75 तन्त्र, 205 उपतन्त्र, 20 कल्प, 8 संहिता, 1 अर्णव, 5 कक्षपुटी, 8 चूडामणि, 2 चिन्तामणि, 2 उड्डालक, 2 उड्डीश, 2 डामर, 1 यामल, 5 पुराण, 3 तत्त्व, 3 बोध, 3 विमर्षिणी तथा एक–एक संख्या के अमृत, तर्पण, कामधेनु और कल्पद्रुम ग्रन्थों की गणना होती है।

सौर कालपर्याय में 30 तन्त्र, 114 उपतन्त्र, 4 संहिता, 2 उपसंहिता, 5 पुराण, 10 कल्प, 2 कक्षपुटी, 3 तत्त्व, 5 विमर्षिणी, 5 चूडामणि, 2

चिन्तामणि, 1 डामर, 1 यामल, 5 उड्डालक, 2 अवतार, 2 उड्डीश, 3 अर्णव तथा एक-एक संख्या के दर्पण और अमृत ग्रन्थों का समावेश है।

गाणपत्य कालपर्याय में 50 तन्त्र, 25 उपतन्त्र, 2 पुराण, 2 अमृत, 3 सागर, 3 दर्पण, 9 कल्प, 3 कक्षपुटी, 3 विमर्षिणी, 2 तत्त्व, 2 उड्डालक, 2 उड्डीश, 3 चूडामणि, 3 चिन्तामणि, 1 डामर, 1 यामल और और 8 पंचरात्र ग्रन्थ समाविष्ट हैं।

3. आम्नायपर्याय

वहीं सप्तम पटल में इस पर्याय का वर्णन किया गया है। साथ ही प्रत्येक आम्नाय के देवताओं का भी निरूपण मिलता है। आम्नाय पर्याय के तन्त्रों की गणना वहां इस प्रकार बताई गई है-पूर्वाम्नाय में 64 तन्त्र और 670 उपतन्त्र हैं। दक्षिणाम्नाय में 400 तन्त्र और 375 उपतन्त्र हैं। कालपर्याय के ही समान यहां यामल प्रभृति ग्रन्थ भी होते हैं। पश्चिमाम्नाय में 96 तन्त्र और इतने ही उपतन्त्र होते हैं। उत्तराम्नाय में 925 तन्त्र तथा 364 उपतन्त्र होते हैं। ऊर्ध्वाम्नाय में 64 तन्त्र और 85 उपतन्त्र तथा पातालाम्नाय में 105 तन्त्र और 2100 उपतन्त्र हैं। आम्नाय विभाग को दीक्षाम्नाय भी कहा जाता है। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (1/4/67-68) में पांच आम्नायों का विवरण मिलता है। वहां बताया गया है कि केरल सम्प्रदाय का ऊर्ध्वाम्नाय में, काश्मीर का पश्चिमाम्नाय में, विलास और वैष्णव का दक्षिणाम्नाय में, चैतन्य का पूर्वाम्नाय में और गौड सम्प्रदाय का उत्तराम्नाय में समावेश किया जाता है।

4. विद्यापर्याय

विद्यापर्याय का वर्णन यहां (4/7/38-47) समयाम्नाय के नाम से किया गया है। समयाम्नाय को भी यहां पुनः षडाम्नाय में विभक्त कर और उनके देवता आदि का वर्णन करते हुए बाद में उनके तन्त्रों और उपतन्त्रों की संख्या बताई गई है, जो कि इस प्रकार है-पूर्वाम्नाय में 10 तन्त्र और 5 उपतन्त्र, दक्षिणाम्नाय में 8 तन्त्र और 9 उपतन्त्र, पश्चिमाम्नाय में 20 तन्त्र और 8 उपतन्त्र, उत्तराम्नाय में 100 तन्त्र और 9 उपतन्त्र, ऊर्ध्वाम्नाय में 20 तन्त्र और 3 उपतन्त्र, पातालाम्नाय में 9 तन्त्र और 2 उपतन्त्र होते हैं।

5. दर्शनपर्याय

दर्शनपर्याय के विवरण में यहां (4/7/48–58) बताया गया है कि 100 तन्त्र और 8 उपतन्त्रों से युक्त शाक्त दर्शन पूर्वाम्नाय में, 50 तन्त्र और 5 उपतन्त्रों से युक्त शैव दर्शन दक्षिणाम्नाय में, दक्षिणाचार के प्रतिपादक 36 तन्त्र और 36 ही उपतन्त्रों से अलंकृत वैष्णव दर्शन पश्चिमाम्नाय में, 70 तन्त्र और 3 उपतन्त्रों से मंडित गाणप दर्शन उत्तराम्नाय में, 12 तन्त्र और 10 उपतन्त्रों से संयुक्त सौर दर्शन ऊर्ध्वाम्नाय में तथा 100 तन्त्र और 63 उपतन्त्रों से राजित बौद्ध दर्शन पातालाम्नाय में प्रतिष्ठित है। उक्त विभाग हादिमत के अनुसार है। कादिमत के अनुसार शैव दर्शन पूर्व में, वैष्णव दक्षिण में, गाणप पश्चिम में, सौर उत्तर में और शाक्त दर्शन ऊर्ध्वाम्नाय में प्रतिष्ठित है। यहां षडाम्नाय के आधार पर षड्दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है। इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड (3/85–88) में तारा, त्रिपुरा और छिन्नमस्ता के भेद से षड्दर्शनों की गुणना की गई है। तदनुसार शाक्त, शैव, गाणपत, सौर, वैष्णव और बौद्ध ये तारा के षड्दर्शन हैं। वैदिक, सौर, शाक्त, शैव, गाणपत्य और बौद्ध ये त्रिपुरा के षड्दर्शन हैं। यहां वैष्णव के स्थान पर वैदिक दर्शन का समावेश किया गया है। छिन्ना षड्दर्शन में चान्द्र, स्वायम्भुव, जैन, चीन और नील इन पांच दर्शनों की ही गणना मिलती है। बौद्ध दर्शन को मिलाकर यह संख्या पूरी की जा सकती है।

6. आयतनपर्याय

आयतनपर्याय का विवरण यहां नहीं मिलता है। केवल पंचायतन का उल्लेख (4/7/53) मिलता है। पांच उपास्य देवताओं के आयतनों (मन्दिरों) का एक स्थान पर समाहार पंचायतन के नाम से प्रसिद्ध है। स्मार्त धर्म में शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश में से किसी एक इष्ट देवता को मुख्य मानकर उसके मन्दिर के मध्य में तथा उसके चारों कोनों पर चार अन्य देवताओं के आयतनों की स्थापना विहित है। कृष्णानन्द के तन्त्रसार में भी इनका विवरण मिलता है। आयतन पर्याय में इन्हीं की उपासना के प्रतिपादक शास्त्रों की गणना होनी चाहिये। प्रपंचसार और शारदातिलक ऐसे ही ग्रन्थ हैं। अथवा कादिमत के अनुसार प्रदर्शित दर्शन पर्याय में पांच ही दर्शन वर्णित हैं। उनका भी पंचायतन विभाग में समावेश किया जा सकता है। इस प्रकरण (4/7/59–156, 161–165) में दिव्याम्नाय, विद्याम्नाय,

सिद्धाम्नाय, रत्नाम्नाय (महाम्नाय) मण्डलाम्नाय, रसातलाम्नाय, पंचकृत्याम्नाय, कालिकाम्नाय, बटुकाम्नाय का ही विस्तार से वर्णन किया गया है। दिव्याम्नाय की दो प्रकार की व्याख्या की गई है। वस्तुतः इनका संबंध आम्नाय पर्याय से है। पंचकृत्याम्नाय का वर्णन कुलार्णव तन्त्र (3/41–45) में भी मिलता है। इसका संबंध शंकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित पांच मठों से भी है, ऐसा यहीं (4/8/75–92) बताया गया है।

7. आगमपर्याय

आयतन पर्याय में प्रदर्शित रत्नाम्नाय (महाम्नाय) का ही यहां 4/7/93–94) आगम पर्याय नामक अन्तिम विभाग केरूप में वर्णन है। तदनुसार चीनागम में अक्षोभ्यतन्त्र के साथ 7 तन्त्र, बौद्धागम में 21 तन्त्र और 8 उपतन्त्र, जैनागम में 16 तन्त्र ओर 8 उपतन्त्र, पाशुपतागम में 9 तन्त्र और 6 उपतन्त्र, कापालिकागम में 1 तन्त्र और 4 उपतन्त्र, पाषण्डागम में 3 तन्त्र और 5 उपतन्त्र, पांचरात्रागम में 10 तन्त्र और 7 उपतन्त्र, अघोरागम में 10 तन्त्र और 8 उपतन्त्र, मंजुघोषागम में 20 तन्त्र और 30 उपतन्त्र, भैरवागम में 100 तन्त्र और 70 उपतन्त्र, बटुकागम में 200 तन्त्र और 80 उपतन्त्र, संजीवन्यागम में 3 तन्त्र और 7 उपतन्त्र, सिद्धेश्वरागम में 10 तन्त्र और 8 उपतन्त्र, नीलवीरागम में 17 तन्त्र, मन्त्रसिद्धयागम में 18 तन्त्र, मृत्युंजयागम में 20 तन्त्र और 12 उपतन्त्र, मायाविहारागम में 3 तन्त्र और 5 उपतन्त्र, विश्वरूपागम में 9 तन्त्र और 7 उपतन्त्र, योगरूपागम में 50 तन्त्र और 10 उपतन्त्र, विरूपागम में 7 तन्त्र और 8 उपतन्त्र, यक्षिप्यागम में 5 तन्त्र और 70 उपतन्त्र, निग्रहागम में 10 तन्त्र और 200 उपतन्त्र विराजमान हैं।

पश्यन्ती

व्यंजक के प्रयत्न से संस्कृत मूलाधार स्थित पवन जब नाभि तक चला जाता है, तो उस पवन से पश्यन्ती वाक् अभिव्यक्त होती है। यह विमर्शात्मक मन से जुड़ी रहती है और इसमें कार्य बिन्दु का सामान्य स्पन्दन प्रकाशित हो उठता है। पश्यन्ती को नाद की अनाहतहत अवस्था माना जाता है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के सहारे परा वाक् अनेक रूप धारण करने को जब उद्यत होती है, तो पहले वर्णाम्बिका का पश्यन्ती रूप अभिव्यक्त

होता है। कामकलाविलासकार पुण्यानन्द (23–24 श्लो.) ने पश्यन्ती के ग्यारह अवयव माने हैं। प्रकाशात्मक अकार की वामा, जयेष्ठा, रौद्री और अम्बिका नामक चार कलाएं तथा समष्टि रूप अकार मिलकर उसके पांच अवयव होते हैं। इसी तरह विमर्शात्मक हकार की इच्छा, ज्ञान, क्रिया और शान्ता नामक चार कलाएं तथा समष्टि रूप हकार मिलकर भी पांच अवयव होते हैं। अकार और हकार की सामरस्यावस्था पश्यन्ती का ग्यारहवां रूप बनती हैं। योगिनी हृदय (1/37–38) में इसको वामा शक्ति कहा गया है।

पाशाष्टक

अद्वैतवादी शाक्त दर्शन की त्रिपुरा, क्रम, कौल प्रभृति सभी शाखाओं में पाशाष्टक की चर्चा आई है। कुलार्णव तन्त्र (13/90) में इनके नाम इस प्रकार गिनाये गये हैं—घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति। योगिनीहृदयदीपिका (पृ. 81), महार्थमंजरी (पृ. 145) प्रभृति ग्रन्थों में इनका उल्लेख मिलता है। इसका अभिप्राय यह है कि शाक्त साधक घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा प्रभृति मानसिक विकृत भावों से तथा कुल, शील और जाति के संकीर्ण बन्धनों से अपने को मुक्त कर लेता है। इन पाशों से जब तक साधक बंधा रहता है, तब तक वह जीवन्मुक्त कैसे कहा जा सकता है? इस पाशमुक्त स्थिति का पूर्ण विकास किसी अघोरी बाबा में देखने को मिलता है। सहज अवस्था की प्राप्ति के लिये भी इन पाशों से मुक्त होना आवश्यक है। भारतीय और तिब्बती साहित्य में 84 सिद्धों की चर्चा मिलती है। वे सभी इन पाशों से मुक्त महायोगी माने गये हैं।

पिंगला नाडी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त नाडियों में से तीन नाडियां मुख्य हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्णा। इनमें से पिंगला नाडी शरीर के दक्षिण भाग में स्थित है, जो कि सूर्यात्मक माना जाता है। पिंगला नाडी दक्षिण मुष्क से उठकर धनुष की तरह तिरछे आकार में दाहिने गुर्दे और हंसुली में से होती हुई दक्षिण नासिका तक गतिशील रहती है। पिंगला नाडी खितरक्त वर्ण की है। इसमें सूर्य का संचार होता

है। यह ऊर्ध्वगामिनी नाडी है। ज्ञानसंकलिनी तन्त्र (11–12 श्लो.) में पिंगला नाडी को यमुना बताया गया है। सकाम कर्मों का अनुष्ठान करने वाले जीवों को यह नाडी शुक्ल देवयान मार्ग से देवलोक में ले जाती है, जो कि अन्ततः पुनर्जन्म का कारण बनता है। इन नाडियों का शोधन किये बिना साधक कभी भी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। रेचक प्राणायाम करते समय पिंगला नाडी से ही वायु को बाहर निकाला जाता है।

पिण्ड

मालिनीविजय तन्त्र (2/36–45) तथा तन्त्रालोक (10/227–287) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहां जीवात्मा को पिण्ड बताया गया है। पिण्ड, अर्थात् शरीर को ही जीवात्मा मानने वाला यह जीव अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध के भेद से चार प्रकार का होता है। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति के (19/30–48) और शिवज्ञान के प्रसंग (20/1–7, 18–26) में भी पिण्ड पद का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र ग्रन्थ ज्ञानार्णव के 34वें प्रकरण में पिण्डरूप ध्यान का वर्णन है। वहां इस ध्यान में पांच प्रकार की धारणाएं बताई गई हैं। योगिनीहृदय (1/42) में वर्णित है कि कन्द, अर्थात् पिण्ड में कामरूप पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने पिण्ड, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का स्थान मूलाधार बताया है। वहीं अन्यत्र (3/94) इसको विघ्नरूप माना है। इसलिये 3/137 की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि इससे मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान पर (पृ. 4) पिण्ड का अर्थ स्थान, दूसरे स्थान पर (पृ. 90) बद्ध आत्मा किया है। वही (पृ. 53) यह भी बताया गया है कि इसके आठ भेद होते हैं। आणव उपाय के प्रसंग में भी इस शब्द की चर्चा आ चुकी है।

पीठ

तन्त्रालोक (15/82–96) और उसकी जयरथ कृत टीका विवेक में बताया गया है कि आन्तर और बाह्य याग की निष्पत्ति के योग्य स्थान

को पीठ कहा जाता है। पीठ भी बाह्य और आन्तर के भेद से द्विविध हैं। बाह्य पीठ की स्थिति बाहर देश विशेष में तथा आन्तरपीठ की स्थिति शरीर के भीतर स्थान विशेष में मानी गई है। भगवान् शिव की इच्छा शक्ति ही पीठ के रूप में परिणत होती है। बाह्य और आन्तर पीठस्थानों में उपासना के माध्यम से साधक अपने महतो महीयान् संवित् स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकता है। यह संवित्स्वरूपा शक्ति ही पीठ के रूप में परिणत होती है। शक्ति पीठ से बिन्दुमय और नादमय पीठ की अभिव्यक्ति होती है और ये ही तीन पीठ लोक में कामरूप, पूर्णगिरी और उड्डियान के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

पीठों के अतिरिक्त उपपीठ, सन्दोह, उपसन्दोह, क्षेत्र और उपक्षेत्रों का भी इसी क्रम से प्रादुर्भाव होता है। शाम्भव, शाक्त और आणव धाम का तथा पर्वताग्र, नदीतीर और एकलिंग का प्रादुर्भाव भी इन्हीं पीठों से होता है। तन्त्रालोक में कुल मिलाकर 33 या 34 पीठों का वर्णन मिलता है। कौलज्ञाननिर्णय में भी इनमें से कुछ का उल्लेख है। इसी तरह से तन्त्रालोक के 29 वें आह्निक में और बौद्ध सम्प्रदाय के हेवज्रतन्त्र के सप्तम पटल में भी इनका विवरण मिलता है। उक्त विभागों के अतिरिक्त यहां मेलापक और उपमेलापक, पीलव और उपपीलव, श्मशान और उपश्मशान के नाम से भी पीठों का विभाग वर्णित है। तन्त्रालोक और कौलज्ञाननिर्णय में तीन–तीन संख्या के क्रम से पीठ, उपपीठ आदि का वर्णन है। वहां जालन्धर का पीठ में अन्तर्भाव नहीं किया गया है। हेवज्रतन्त्र में चार–चार की संख्या के क्रम से ये वर्णित हैं। वहां जालन्धर का नाम पीठों में परिगणित है। साधनामाला नामक बौद्ध ग्रन्थ में उड्डियान, जालन्धर, कामरूप और श्रीहट्ट नामक चार पीठ उल्लिखित हैं। किन्तु अब बौद्ध तथा शैव–शाक्त सम्प्रदायों में कामरूप, पूणगिरि, जालन्धर और ओड्डियान नामक चार पीठ प्रसिद्ध हैं। उक्त सभी विभागों के अन्तर्गत वर्णित पीठों की संख्या 32 से 34 तक होती है।

योगिनीहृदय (3/37–43) के पीठन्यास प्रकरण में तथा प्रपंचसार की प्रयोगक्रमदीपिका (पृ. 579) में योगिनीन्यास के प्रसंग में 51 पीठों के नाम चर्चित हैं। ज्ञानार्णव तन्त्र (14/114–123) में यद्यपि 50 ही पीठ वर्णित हैं,

किन्तु भास्करराय (सेतुबन्ध, पृ. 213) के अनुसार यहां भी 51 ही पीठ मान्य है। शास्त्रों में वर्णित है कि विष्णुचक्र से विच्छिन्न सती के अंग जहां जहां गिरे, उन स्थानों की पीठ संज्ञा हो गई। इनकी संख्या 51 मानी जाती है।

शारदातिलक की टीका में राघव भट्ट ने अष्टाष्टक, अर्थात् आठ अष्टकों के भेद से भैरव और योगिनियों के समान पीठों की संख्या भी 64 बताई है। वहां इनके नाम भी वर्णित हैं। देवीभागवत (7/30/44–50) में इन पीठों की संख्या 108 है। कुब्जिकातन्त्र के 7वें पटल में भी पीठों के शताधिक नाम हैं। डा. दिनेशचन्द्र सरकार ने पीठनिर्णय नामक लघुकाय ग्रन्थ के संपादन के प्रसंग में इस विषय पर विशद विचार प्रस्तुत किये थे। इसके लिये 'दी शाक्त पीठाज्' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

महार्थमंजरीकार (पृ. 83, 95) इस शरीर को ही पीठ मानते हैं। यह स्थूल पीठ है। वृन्दचक्र सूक्ष्म पीठ और पंचवाह पर पीठ है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और पर के भेद से पीठ त्रिविध हैं। इस त्रिविध श्रीपीठ पर इष्टदेव की उपासना की जाती है (पृ. 83–96)।

(क) ओड्याण पीठ

योगिनीहृदय (1/41) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक शांता और अंबिका शक्ति के सामरस्य से ओड्याण पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में रूपातीत, निरंजन, चिन्मय तत्त्व, अर्थात् चिन्मयता की अभिव्यक्ति के स्थान ब्रह्मरंध्र में हैं। यह तेजस्तत्त्वात्मक है। इसका आकार त्रिकोणात्मक है। यह रक्त वर्ण का है। यह पीठ चितमय है। इस पर लिंग अवस्थित है। इस पीठ की बाह्य स्थिति के विषय में विवाद है। कुछ लोग उड़ीसा में तथा अन्य कश्मीर में इसकी स्थिति मानते हैं। इस पीठ में भगवती त्रिपुरसुन्दरी निवास करती है, अतः अन्तिम पक्ष ही उचित प्रतीत होता है। सिद्ध परम्परा में कश्मीर को मेधापीठ कहते हैं।

(ख) कामरूप पीठ

योगिनीहृदय (1/41) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक ज्ञाना औरं ज्येष्ठा शक्ति के सामरस्य से कामरूप पीठ की सृष्टि

होती है। इसकी स्थिति शरीर में कन्द, पिण्ड, कुण्डलिनी के निवास स्थान मूलाधार में है, जो कि सुषुम्णा नाडी का भी मूल स्थान है। यह पृथ्वीतत्त्वात्मक है। इसका आकार चतुरस्र और वर्ण पीत है। यह पीठ मनोमय है। इसमें स्वयंभू लिंग अवस्थित हैं। कामरूप पीठ ही कामाख्या पीठ के नाम से भी प्रसिद्ध है। कालिकापुराण प्रभृति ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

(ग) जालन्धर पीठ

योगिनीहृदय (1/41) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक क्रिया और रौद्री शक्ति के सामरस्य से जालन्धर पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में रूप बिन्दु, अर्थात् भ्रूमध्य में है। यह जलतत्त्वात्मक है। इसका आकार अर्धचन्द्र सदृश है। यह श्वेत वर्ण का है। यह पीठ अहंकारमय है। इसमें बाण लिंग की स्थिति मानी गई है। इस पीठ की अधिष्ठात्री देवी वज्रेश्वरी है। कांगड़ा में इस देवी का मन्दिर है। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने श्रीशम्भुनाथ के नामोल्लेख के प्रसङ्ग में उसे जालन्धर पीठ का गुरू बताया है (त.असा.वि., खं. 1, पृ. 236)। चम्बा के संग्रहालय में जालन्धर पीठ दीपिका नामक पाण्डुलिपि विद्यमान है। तदनुसार जालन्धर पीठ का केन्द्र कांगड़ा में (वज्रेश्वरी स्थान) है और उसका विस्तार ज्वालामुखी, वैजनाथ (तारा), हडसर (बाला) और त्रिलोकनाथपुर तक है।

(घ) पूर्णगिरी पीठ

योगिनीहृदय (1/41) में बताया गया है कि प्रकाश और विमर्श की प्रतीक इच्छा और वामा शक्ति के सामरस्य से पूर्णगिरी पीठ की सृष्टि होती है। इसकी स्थिति शरीर में पद, हंस, अर्थात् प्राण के उद्भव स्थल हृदय में है। यह वायुतत्त्वात्मक है। इसका आकार वृत्ताकार स्थापित छः बिन्दुओं से बनता है। यह धूम्र वर्ण का है। यह पीठ बुद्धिमय है। इसमें इतर लिंग की स्थिति मानी गई है। कुछ लोग अल्मोड़ा के पास इस पीठ की स्थिति मानते हैं और अन्य कोल्हापुर स्थित महालक्ष्मी पीठ को ही उक्त नाम देते हैं। पूर्णगिरी पीठ की अधिष्ठात्री देवी भगमालिनी है। तदनुसार ही इस पीठ की बाह्य स्थिति निश्चित होनी चाहिये।

पीठ विभाग

डा. प्रबोध चन्द्र बागची ने अपने ग्रन्थ 'स्टडीज इन दी तन्त्राज' (पृ. 3) में ब्रह्मयामल के प्रमाण पर तन्त्रशास्त्र को विद्यापीठ, मन्त्रपीठ, मुद्रापीठ और मण्डलपीठ नामक चार विभागों में बांटा है। भैरवाष्टक और यामलाष्टक का अन्तर्भाव विद्यापीठ में, योगिनीजाल, योगिनीहृदय, मन्त्रमालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीडाघोरेश्वरी, लाकिनीकल्प, मारीचि, महामारी, उग्रविद्या गणतन्त्र का भी विद्यापीठ में और वीरभैरव, चण्डभैरव, गुडकाभैरंव, महाभैरव, महावीरेश का मुद्रापीठ में समावेश बताया गया है। जयद्रथयामल विद्यापीठ से संबद्ध तन्त्र है। किन्तु स्वच्छन्दतन्त्र को चतुष्पीठ महातन्त्र कहा गया है। इसका अभिप्रायः यह निकाला जा सकता है कि स्वच्छन्दतन्त्र में उन सभी विषयों का समावेश है, जिनका कि वर्णन उक्त चतुर्विध तन्त्रों में मिलता है।

नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका में उद्धृत संकेतपद्धति के एक वचन में ओड्याण पूर्णगिरी, जालन्धर और कामरूप पीठ को क्रमशः आज्ञापीठ, मन्त्रपीठ, विद्यापीठ और मुद्रापीठ बताया गया है। इससे यह तात्पर्य निकाला जा सकता है कि उक्त चतुर्विध तन्त्रों का आविर्भाव इन चतुर्विध पीठों में हुआ था। तन्त्रालोक के 29वें आह्निक (पृ. 114) में भी उक्त चार पीठों में विभक्त शास्त्रों की चर्चा आई है। उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे शैव और वैष्णव आगम ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग नामक विभागों में विभक्त हैं, उसी तरह से शाक्त आगम भी विद्या, मन्त्र, मुद्रा और मण्डल विभागों में विभक्त थे, अर्थात् उन शैव वैष्णव और शाक्त आगमों में उक्त विषयों का प्रतिपादन किया गया था। तन्त्रालोक (37/24–25) में यह भी बताया गया है कि विद्यापीठ विभाग के अन्तर्गत आने वाले तन्त्रों में मालिनीविजयोत्तर तन्त्र प्रधान है।

पुर्यष्टक

योगिनीहृदयदीपिका (पृ. 68, 284, 302) में चित्ति, चित, चैतन्य, चेतनाद्वय, कर्म, जीव, कला और शरीर को सूक्ष्म पुर्यष्टक बताया है। स्पन्दकारिका (श्लो. 49) में पंचतन्मात्रा, मन, अहंकार और बुद्धि की समष्टि

को पुर्यष्टक कहा गया है। भोजदेव कृत तत्त्वप्रकाश के टीकाकारों ने (पृ. 37–39) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मन, बुद्धि और अहंकार को पुर्यष्टक बताया है। मतान्तर में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण को पुर्यष्टक माना गया है। अन्य आचार्य कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण चतुष्टय, प्राणादि पंचक, तन्मात्रपंचक, काम, कर्म और अविद्या का समावेश पुर्यष्टक में करते हैं। अन्य व्याख्याकार सर्ग से लेकर कल्पान्त या मोक्षान्त तक स्थायी, प्रत्येक पुरुष के लिये नियत, पृथ्वी से लेकर कला तत्त्व पर्यन्त त्रिंशतत्त्वात्मक असाधारण स्वरूप वाले सूक्ष्म देह को पुर्यष्टक मानते हैं। सांख्यसंमत सूक्ष्म शरीर से इनकी तुलना की जा सकती है।

पूजा

महार्थमंजरी (पृ. 106), चिद्गगनचन्द्रिका (73 श्लो.) प्रभृति क्रम दर्शन के ग्रन्थों में पूजा के चार प्रकार बताये गये हैं। वे हैं—चार, राव, चरु और मुद्रा। चार, चरु और मुद्रा शब्दों को यहां क्रमशः आचार विशेष, द्रव्यविशेष और शरीर के अवयवों की विशेष प्रकार की स्थिति अथवा विशेष प्रकार के वेश को धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। ये तीनों क्रमशः राव के ही पोषक हैं। राव ही यहां प्रधान है। विमर्श अथवा अपनी आत्मशक्ति के साक्षात्कार को यहां राव कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अपने स्वरूप की अपरोक्ष अनुभूति ही परम पूजा है। कुछ आचार्य निजबलनिभालन के नाम से इसका वर्णन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि साधक के अपने हृदय की स्फुरता ही परमेश्वर या इष्ट देवता है अपने इस स्वरूप की सतत अपरोक्ष (साक्षात्) अनुभूति ही निजबलनिभालन के नाम से अभिहित है। इस आत्मविमर्श का ही नामान्तर जीवन्मुक्ति है।

योगिनीहृदय (2/2–4) में परा, परापरा और अपरा के भेद से पूजा के तीन प्रकार बताये गये हैं। इनमें परा पूजा सर्वोत्तम है। यह बाह्य पत्र, पुष्प आदि से सम्पन्न नहीं होती, किन्तु अपने महिमामय स्वात्मस्वरूप अद्वय धाम में प्रतिष्ठित होना ही परा पूजा है। इस परा पूजा का निरूपण विज्ञान भैरव, संकेत पद्धति प्रभृति ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है।

प्रकाश-विमर्श

शैव और शाक्त अद्वैतवादी दार्शनिक प्रकाश शब्द को शिव का तथा विमर्श पद को शक्ति का वाचक मानते हैं। इन दोनों शब्दों का विवेचन सभी शैव और शाक्त ग्रन्थों में मिलता है। शब्द और अर्थ की तरह, पार्वती और परमेश्वर की तरह प्रकाश और विमर्श की भी स्थिति यामल भाव में ही रहती है। ये सदा साथ रहते हैं। वस्तुतः शब्द–अर्थ, पार्वती–परमेश्वर और प्रकाश–विमर्श शब्द पर्यायवाची हैं। अर्धनारीश्वर रूप में भगवान् शिव जैसे सतत यामल भाव में रहते हैं, वैसे ही प्रारम्भ में प्रकाश और विमर्श की स्थिति सामरस्य अवस्था में रहती है। इसी को समावेश दशा भी कहते हैं। समावेश दशा में जीव में परिमित प्रमाता का भाव गौण हो जाता है और वह अपने को स्वतन्त्र, बोधस्वरूप समझने लगता है, किन्तु शिव और शक्ति का यह समावेश (सामरस्य) प्रपंच के उन्मेष के लिए होता है। जीव जिस तरह शिव भाव में समाविष्ट होता है, उसी तरह से शिव और शक्ति का यह यामल भाव भी प्रपंच के रूप में समाविष्ट हो जाता है, प्रपंच के रूप में दिखाई देने लगता है। प्रकाश ज्ञान है और विमर्श क्रिया है। इस पारमेश्वरी क्रिया से सतत आविष्ट परम तत्त्व सदैव सृष्टि, संहार आदि लीलाओं के प्रति उन्मुख बना रहता है और वैसे बना रहना ही उसकी परमेश्वरता है। अन्यथा वह शून्य गगन की तरह जड़ होता।

प्रणव कला

प्रणव की बारह कलाओं का विवेचन स्वच्छन्द तन्त्र (4/254–286) में एकादशपदिका प्रकरण में और तैत्रतन्त्र के 21 वें अधिकार (पृ. 285–296) में मिलता है। विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय ने 42वें श्लोक की व्याख्या में बताया है कि अकार की नाभि में, उकार की हृदय में, मकार की मुख में, बिन्दु की भ्रूमध्य में, अर्धचन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ललाट के ऊर्ध्व भाग में, नाद की शिर में, नादान्त की ब्रह्मरन्ध्र में, शक्ति की त्वक् में, व्यापिनी की शिखा के मूल में, समना की शिखा में और उन्मना की स्थिति शिखा के अन्तिम भाग में है। इनमें से बिंदु से लेकर उन्मना पर्यन्त 9 कलाओं का प्रणव के समान कामकला प्रभृति बीजाक्षरों, नवात्म

प्रभृति पिण्ड मन्त्रों तथा ह्रींकार (शाक्त प्रणव), हूंकार (शैव प्रणव), प्रभृति बीज मन्त्रों के उच्चारण में भी होता है। योगिनीहृदय के दीपाकारोऽर्धमात्रश्च से लेकर तथोन्मनी निराकारा (1/28–35) पर्यन्त श्लोकों में इनका आकार, स्वरूप, उच्चारण काल और स्थान वर्णित है। योगिनीहृदय के आधार पर यह विषय वरिवस्यारहस्य में भी प्रतिपादित है। इस ग्रन्थ के (अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास) संस्करण के अन्त में दिये गये एक चित्र में इनके आकार को दिखाया गया है।

योगिनीहृदय के अनुसार बिन्दु का स्वरूप दीपक के समान प्रभास्वर है। ललाट में गोल बिंदी के रूप में इसकी भावना की जाती है और उसका उच्चारण काल अर्धमात्रा है। 'अर्धमात्रास्थिता' (1/74) प्रभृति दुर्गा सप्तशती के श्लोक की व्याख्या (गुप्तवती) में भास्करराय ने "अनुच्चार्या अर्धचन्द्रनिरोधिन्यादि–ध्वन्यष्टकरूपा ऐसा कहकर अर्धमात्रा में ही सबकी स्थिति मानी है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल 'मात्रा' कहलाता है। इसका आधा काल बिन्दु के उच्चारण में लगता है। अर्धचन्द्र का आकार बिन्दु के आधे भाग के जैसा होता है। दीपक के समान प्रभास्वर स्वरूप के अर्धचन्द्र की भावना बिन्दु स्थान ललाट में ही कुछ ऊपर की ओर की जाती है। इसका उच्चारण काल मात्रा का चतुर्थ भाग है। निरोधिका (निरोधिनी) का आकार तिकोना है। यह चांदनी के समान चमकता है। इसका उच्चारण काल मात्रा का आठवां भाग है। उज्ज्वल मणि के समान कान्ति वाले नाद का आकार दो बिन्दु और उसके बीच में खिंची सीधी रेखा के समान है। इसका उच्चारण काल मात्रा का सोलहवां भाग है। विद्युत के समान कांति वाले नादान्त का आकार हल सरीखा है और इसकी बाईं तरफ एक बिन्दु रहता है। इसका उच्चारण काल मात्रा का बत्तीसवां भाग है। दो बिन्दुओं में से बायें बिन्दु से एक सीधी रेखा खींचने पर शक्ति की आकृति बनती है। व्यापिका (व्यापिनी) का आकार बिन्दु के ऊपर बने त्रिकोण का सा है। एक सीधी रेखा के ऊपर और नीचे बिन्दु बैठा देने से समना का और एक बिन्दु के ऊपर सीधी रेखा खींचने से उन्मना का आकार बनता है। शक्ति से लेकर समना पर्यन्त कलाओं का स्वरूप द्वादश आदित्यों के एक साथ उदित होने पर उत्पन्न हुए प्रकाश के समान है। शक्ति का उच्चारण काल मात्रा का 64वां भाग, व्यापिका का 128वां भाग, समना का 256वां

भाग और उन्मना का 512वां भाग होता है। अन्य आचार्यों के मत से उन्मना कला मन से अतीत होती है। अतः इसका कोई आकार नही होता। विज्ञानभैरव के 42वें श्लोक के 'शून्या' शब्द से उन्मनी का बोध कराया गया है।

माण्डूक्यकारिका (1/29) में प्रणव (ॐकार) को अमात्र और अनन्तमात्र कहा गया है। भाष्यकार शंकराचार्य ने बताया है कि तुरीयावस्थापन ॐकार अमात्र माना जाता है और अन्य अवस्थाओं में इसकी अनन्त मात्राएं होती हैं। इन्हीं मात्राओं का तन्त्रशास्त्र में प्रणव कला के रूप में वर्णन है। निष्कल, निष्कलसकल और सकल के भेद से भी योगिनीहृदय (1/27–28) प्रभृति ग्रन्थों में इनका वर्णन मिलता है।

प्रमाता

शैव और शाक्त दर्शन में प्रमाता के सात भेद किये गये हैं। ये हैं—शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शिव और शक्ति तत्त्व मिलकर शिव प्रमाता का रूप धारण करते हैं। इसकी स्थिति राजा के समान है। सदाशिव मन्त्रमहेश्वर; ईश्वर मन्त्रेश्वर और शुद्धविद्या मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी स्थिति अधिकारी राजपुरुष की सी है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल जीवों पर ये शिव प्रमाता रूपी राजा के प्रतिनिधि होकर शासन करते हैं। मायीय, कार्म और आणव—ये तीन प्रकार के मल माने गये हैं। इनमें से मायीय मल से आवृत विज्ञानाकल, दो मलों से आवृत प्रलयाकल और तीनों मलों से आवृत सकल प्रमाता कहे जाते हैं। ये सभी भेद परिमित प्रमाता के हैं। प्रथम चार भेद शुद्धि सृष्टि के और अन्तिम तीन अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत हैं। अशुद्ध सृष्टि के प्रमाताओं को ही अपने मलीय आवरणों को हटाने के लिये उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

विरुपाक्षपंचाशिका की 41–44 कारिकाओं में अप्रबुद्ध, प्रबुद्धकल्प, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्धकल्प और सुप्रबुद्ध नामक पांच प्रकार के प्रमाताओं का विवेचन किया गया है। स्पन्दकारिका (श्लो. 17, 19–20, 25, 44) में भी अप्रबुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध प्रमाताओं का स्वरूप वर्णित है।

19—19HRD/99

प्राण कुण्डलिनी

अनच्क कला की और आणव उपाय की व्याख्या के प्रसंग में प्राण शक्ति के संबन्ध में कहा जा चुका है। इसको कुण्डलिनी इसलिए कहते हैं कि मूलाधार स्थित कुण्डलिनी की तरह इसकी भी आकृति कुटिल होती है। जिस प्राण वायु का अपान अनुवर्तन करता है, उसकी गति इकार की लिखावट की तरह टेढ़ी–मेढ़ी होती है। अतः प्राण शक्ति अपनी इच्दा से ही प्राण के अनुरूप कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेती है। प्राण शक्ति की यह वक्रता (कुटिलता=घुमावदार आकृति) परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का ही खेल है। प्राण शक्ति का एक लपेटा वाम नाड़ी इडा में और दूसरा लपेटा दक्षिण नाडी पिंगला में रहता है। इस तरह के उसके दो वलय (घेरे) बनते हैं। सुषुम्ना नाम की मध्यनाडी सार्ध कहलाती है। इस प्रकार यह प्राण शक्ति भी सार्धत्रिवलया है। वस्तुतः मूलाधार स्थित कुण्डलिनी में ही प्राण शक्ति का भी निवास है, किन्तु हृदय में उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होने से ब्राह्मणवशिष्ठ न्याय से उसका यहां पृथक उल्लेख कर दिया गया है। इसका प्रयोजन अजपा (हंसगायत्री) जप को सम्पन्न करना है। इस विषय पर विज्ञानभैरव के 151वें श्लोक की व्याख्या में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

भर–पेट भोजन–पानी पाने से मोटी अक्ल के आरामतलबी आदमी का शरीर की नहीं, प्राण शक्ति भी मोटी हो जाती है। बाद में सद्गुरु का उपदेश पाकर जब वह योगाभ्यास में लग जाता है, कुम्भक प्रभृति प्राणायामों का अभ्यास करता है, तो धीरे–धीरे उनके शरीर के मोटापे के साथ ही प्राण शक्ति भी कृश होती जाती है, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। शोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, उपस्थ प्रभृति प्राण और अपान आदि वायुओं के निकलने के मार्गों को रोक देने पर वायु की गति ऊपर की ओर उठने लगती है। मूलाधार में अथवा हृदय में विद्यमान प्राण शक्ति पद्धति के अनुसार सुषुम्ना मार्ग के अथवा मध्यदशा के विकास के कारण द्वादशान्त तक ज़ाते–जाते अत्यन्त सूक्ष्म होकर अन्त में प्रकाश में विलीन हो जाती है। आधार से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त क्रमशः धीरे–धीरे ऊपर की ओर उठ रही इस प्राण शक्ति के द्वादशान्त में प्रविष्ट हो जाने पर स्वात्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है। योगशास्त्र की परिभाषा में इसको पिपीलस्पर्श वेला

कहा जाता है, जिसमें कि प्राण के ऊपर उठते समय जन्माग्र से लेकर मूल, कन्द प्रभृति स्थानों का स्पर्श होने पर उसी तरह की अनुभूति होती है, जैसी कि देह पर चींटी के चलने से होती है। इसी अवस्था में योगी इसकी परीक्षा कर पाते हैं कि प्राण आज अमुक स्थान से चल कर अमुक स्थान तक उठा। इस स्थिति तक पहुंच जाने पर योगी का चित्र परम आनन्द से भर जाता है और वह इसी अन्तर्मुख वृत्ति में रम जाता है।

प्राणापान

ऊपर हृदय से बाह्य द्वादशानत तक जाने वाला प्राण और नीचे बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक जाने वाला जीव नामक अपान, यह प्राण शक्ति का उच्चारण है। प्राण शक्ति इनका निरन्तर उच्चारण करती रहती है, अर्थात् प्राण और अपान के रूप में स्पन्दित होती रहती है। स्वच्छन्दतन्त्र (7/25–26) में प्राण और अपान को प्राण शक्ति का विसर्ग और आपूरण व्यापार बताया गया है। तदनुसार प्राण का अर्थ है श्वास छोड़ना और अपान का अर्थ है श्वास लेना। पालि बौद्ध वाङ्मय में इसके लिये आनापान आश्वास–प्रश्वास) शब्द प्रयुक्त है। किन्तु वहां इनके अर्थ के विषय में विवाद है। आचार्य नरेन्द्र देव अपने ग्रन्थ बौद्ध–धर्मदर्शन में आश्वास–प्रश्वास शब्द पर टिपप्णी करते हैं—विनय की अर्थकथा के अनुसार 'आश्वास' सांस छोड़ने को और 'प्रश्वास' सांस लेने को कहते हैं। लेकिन सूत्र की अर्थ कथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उल्टा है। आचार्य बुद्धघोष विनय की अर्थ कथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि बालक माता की कोख से बाहर आता है तो पहले भीतर की हवा बाहर निकलती है और पीछे बाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। तदनुसार आश्वास वह वायु है, जिसका निःसारण होता है और प्रश्वास वह वायु है, जिसका कि ग्रहण होता है। सूत्र की अर्थकथा में किया हुआ अर्थ पातंजल योगसूत्र के व्यासभाष्य के अनुसार है (पृ. 81)। योगभाष्य (पृ. 81) में वायु के आचमन (ग्रहण) को श्वास और निःसारण को प्रश्वास बताया गया है।

विज्ञानभैरव के 'ऊर्ध्वे प्राणः' प्रभृति श्लोक में प्राण और अपान शब्द का बुद्धघोष प्रदर्शित अर्थ ही स्वीकृत है। ऊर्ध्व और अधः शब्द का अर्थ पहले और बाद में किया जाना चाहिये। पहले प्राण बाहर निकलता है और

बाद में अपान का प्रवेश होता है। अपान को जीव इसलिये कहा जाता है कि प्राण के बाहर निकलने के बाद अपान जब शरीर में पुनः प्रविष्ट होता है, तभी यह बोध हो सकता है कि शरीर में जीवात्मा विद्यमान है। अपान के प्रवेश न करने पर शरीर शव कहा जायेगा। अपान के कारण ही शरीर में जीवात्मा की स्थिति बनी रहती है, अतः स्वाभाविक है कि अपान को जीव के नाम से जाना जाय।

स्वच्छन्दतन्त्र (7/25–26) भी इसी स्थिति को मान्यता देता है। भगवद्गीता (5/27) की श्रीधरी टीका में प्राण और अपान के लिये उच्छवास और निश्वास शब्द प्रयुक्त हैं। लोक व्यवहार में संकेत (शक्ति=समय) के अनुसार शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। कभी–कभी वे परस्पर विरोधी अर्थों में भी प्रयुक्त होने लगते हैं। जैसा कि प्राण और अपान तथा उनके पर्यायवाची श्वास–प्रश्वास शब्दों के विषय में देखने को मिलता है। इन शब्दों का हृदय स्थित प्राण वायु और पायु स्थित अपान वायु से कोई संबंध नहीं है, किन्तु प्राण शक्ति की श्वास–प्रश्वास प्रक्रिया से ही इनका संबंध है। प्राण शक्ति की प्राण, अपान प्रभृति पांच या दस वृत्तियां भी इनसे भिन्न हैं।

प्राणायाम

प्राण की पूरक, कुंभक और रेचक अवस्थाएं स्वाभाविक रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील रहती हैं। हृदय स्थित कमलकोश में प्राण का उदय होता है। नासिका मार्ग से बाहर निकल कर यह बारह अंगुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। यह बाह्य आकाश योगशास्त्र में बाह्य द्वादशान्त के नाम से प्रसिद्ध है। प्राण की इस स्वाभाविक गति को रेचक कहते हैं। बाह्य द्वादशान्त में अपान का उदय होता है और नासिका मार्ग से चलकर यह हृदयस्थित कमलकोश में विलीन हो जाता है। अपान की यह स्वाभाविक आन्तर गति पूरक कही जाती है। प्राण बाह्य द्वादशान्त मे और अपान हृदय में क्षण मात्र के लिये स्थिर होकर बैठता है। यही प्राण की कुंभक अवस्था है। बाहर और भीतर दोनों स्थलों में निष्पन्न होने से इसके बाह्य और आन्तर ये दो भेद होते हैं। इस तरह से प्राण शक्ति की ये चार क्रियाएं बिना प्रयत्न के निरन्तर गतिशील हैं। अर्थात् प्राण और अपान की यह चतुर्विध गति पुरुष के प्रयत्न के बिना निरन्तर स्वाभाविक रूप से

चलती रहती है। पुरुष जब अपने विशेष प्रयत्न से मध्यदशा के विकास के द्वारा क्रमशः अथवा एकदम इसकी गति को रोकता है, इस पर अपना नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है, तो प्राण और अपान की गति की यह अवरोध प्रक्रिया योगशास्त्र में प्राणायाम के नाम से जानी जाती है।

तन्त्रशास्त्र में भूतशुद्धि और प्राण प्रतिष्ठा की विधियां प्रसिद्ध हैं। 'देवो भूत्वा दैवं यजेत्' स्वयं देवता बनकर इष्टदेव की आराधना करे, इस विधि वाक्य के अनुसार साधक अपने देह में स्थित पाप पुरुष का, मल का शोष और दाह संपन्न कर देवत्वभावना को आप्यायित करता है। वायु बीज के उच्चारण के साथ का प्राणायाम का अभ्यास करने से शोषण, अर्थात् मल का नाश हो जाता है। अग्नि बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम का अभ्यास करने से दाह, अर्थात् वासनाओं का भी उच्छेद हो जाता है। सलिल बीज के उच्चारण के साथ प्राणायाम का अभ्यास करने से शरीर आप्यायित हो उठता है, ज्ञानरूपी अमृत से नहाकर पवित्र हो जाता है, देवतामय बन जाता है। इस प्रकार शोषण, दाहन और आप्यायन की सम्पन्नता के लिये भी प्राणायाम की उपयोगिता तन्त्रशास्त्र में मानी गई है।

बटुक

शक्तिसंगम तन्त्र के प्रथम खण्ड के बारहवें पटल में बताया गया है कि भूत, प्रेत, वेताल आदि जप, पूजा आदि में विघ्न उपस्थित कर दिया करते हैं। भक्तों के कल्याण के लिये देवी ने बटुक का प्रादुर्भाव किया, जो कि इन विघ्नों को दूर भगा देते हैं। योगिनी, विद्या, भैरव तथा अनन्तकोटि मन्त्रों के तेजःपुंज से बटुक का आविर्भाव हुआ। साक्षात् भगवान् शिव ही बटुक का रूप धारण कर वेताल प्रभृति के उपद्रवों को शान्त कर भक्तों की रक्षा करते हैं। बटुक के प्रसाद से ही सारी विद्याएं और शाबर प्रभृति मन्त्र फलद होते हैं। इनकी कृपा के बिना कोई भी विद्या अथवा मन्त्र सिद्ध नहीं होते। ज्येष्ठ शुक्ल दशमी बटुक की तिथि मानी जाती है। इसी दिन इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इसीलिये बटुक की जयन्ती के रूप में इसको मान्यता प्राप्त है। हेतु, त्रिपुरान्तक वह्नि वेताल, अग्निजिह्व, काल, कराल, एकपाद, भीम, त्रैलोक्यसिद्ध और बटुक के भेद से यह दशविध माने गये हैं। शक्ति की उपासना में गणपति, बटुक, योगिनी और क्षेत्रपाल की पूजा अनिवार्य है।

बन्ध-मोक्ष

अद्वैतवादी तान्त्रिक दार्शनिकों के मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। ये मात्र विकल्प के व्यापार हैं। विकल्प शब्द की व्याख्या अलग से की गई है। इस दर्शन में वस्तुतः जब बन्ध की ही कोई स्थिति नहीं है, तब मोक्ष की चर्चा कहां से उठेगी और मोक्ष प्राप्ति की इच्छा का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। चिदानन्दात्मक स्वरूप का परामर्श ही आत्मा का स्वभाव है। इसी को मोक्ष भी कहा जाता है। यह स्वभाव अपूर्णता ख्याति रूप आणव मल से जब आवृत हो जाता है, तो इसी को बन्ध कह देते हैं। ज्ञानदान और पापक्षपण लक्षण दीक्षा से जब मल अपसारित हो जाता है, तो गुरु के कृपा–कटाक्ष से शिष्य पुनः स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं। इस दर्शन में वेदान्त आदि दर्शनों के समान ऐहिक और आमुष्मिक भोगों से विरक्ति को आवश्यक नहीं माना गया है। इस दर्शन की विशेषता यह है कि इसमें भोग और मोक्ष की समरसता प्रतिपादित है। इसकी अनुभूति जीवन्मुक्ति दशा में होती है।

बिन्दु

प्रपंचसार, शारदातिलक, रत्नत्रय प्रभृति ग्रन्थों में नाद और बिन्दु को शिव और शक्ति से उसी तरह से अभिन्न माना गया है, जैसे कि प्रकाश और विमर्शात्मक शिव तथा शक्ति से शब्द और अर्थ को अभिन्न माना गया है। प्रणव की 12 कलाओं में भी बिन्दु और नाद की स्थिति है। आगम और तन्त्र की विभिन्न शाखाओं में नाद और बिन्दु की अपनी–अपनी व्याख्याएं हैं।

त्रिपुरा दर्शन (योगिनीहृदय 1/27–28) में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के निष्कल स्वरूप की स्थिति महाबिन्दु में मानी गई है। कामकला विलास में बताया गया है कि विमर्श (शक्ति) रूपी दर्पण में परमशिव रूपी प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, तो वह चित्तमय कुड्य (भित्ति) में महाबिन्दु के रूप में प्रतिफलित होता है। इसको कामबिन्दु भी कहा जाता है। आगे चलकर शिव और शक्ति के प्रतीक शुक्ल और रक्त बिन्दु का उन्मेष होता है, जो कि शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि के जनक हैं। दो होने से इन बिन्दुओं

को विसर्ग कहा जाता है। कालक्रम से उक्त दोनों बिन्दु मिलकर समस्त हो जाते हैं और उससे मिश्र बिन्दु का आविर्भाव होता है। यह हार्दकला के नाम से प्रसिद्ध है। काम बिन्दु, विसर्ग और हार्दकला मिल कर कामकला नामक पदार्थ की रचना करते हैं। इसी से सारे जगत की सृष्टि होती है।

बिन्दु शब्द की व्याख्या अक्षरबिन्दु, कारण बिन्दु, कार्य बिन्दु शब्दों की परिभाषा के अन्तर्गत भी देखी जा सकती है।

बीजत्रय

गायन्त्री मन्त्र में जैसे तीन पाद हैं, उसी तरह से श्रीविद्या में तीन कूट अथवा बीज हैं। इनमें नाम हैं—वाग्भव, कामराज और शक्ति। प्रत्येक कूट या बीज के अन्त में स्थित ह्ल्लेखा में कामकला की स्थिति मानी जाती है। योगिनीहृदय (3/172–176) में इसकी 12 कलाओं का वर्णन किया गया है। उक्त तीन कूटों या बीजों में क्रमशः आधार, हृदय और भ्रूमध्य स्थित वह्नि, सूर्य और सोम नामक कुण्डलिनियों में से प्रत्येक में श्रीचक्र के तीन–तीन चक्रों की भावना की जाती है। प्रथम बीज की ह्ल्लेखा में विद्यमान कामकला की अंगभूत सपरार्ध (हार्ध) कला वह्निकुण्डलिनी, द्वितीय बीज की हार्धकला सूर्यकुण्डलिनी और तृतीय बीज की सपरार्ध कला सोमकुण्डलिनी कहलाती है। वाग्भव बीज का हृदय तक और कामराज बीज का भ्रूमध्य तक उच्चारण होता है। शक्ति बीज से सभी 12 कलाओं का उच्चारण हो सकता है। वाग्भव सृष्टिबीज और कामराज स्थितिबीज, अतः इनका उच्चारण विश्वातीत उन्मनी पर्यन्त नहीं हो सकता। नित्याषोडशिकार्णव, योगिनीहृदय प्रभृति ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में यह विषय विस्तार से वर्णित है।

(क) वाग्भव बीज

ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. 97–99) ने बिन्दु सहित अनुत्तर अकार को भी वाग्भव बीज बताया है। यह सारा विश्व अनुत्तर तत्त्व का ही प्रसार है। यह त्रिपुरा विद्या का प्रथम बीज है। वाग्भव बीज का समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (1/111–112) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. 194) वाग्भव बीज को बैखरी वाण का विलास मानते हैं। यह ज्ञान शक्ति

का प्रतीक है और इसकी उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है (पृ. 216)। इसका समुद्धार जिह्वा के अग्रभाग में किया जाता है, अर्थात् इसकी आराधना से जिह्वा में सरस्वती का सतत निवास रहता है। नित्याषोडशिकार्णव (4/21–33) में वाग्भव बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल वर्णित है। अर्थरत्नावली (पृ. 230–231) में बताया है कि वाग्भव बीज की उत्पत्ति मूलाधार में होती है, मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त इसकी व्याप्ति रहती है और जिह्वा के अग्रभाग में इसकी विश्रान्ति का स्थान है। यहीं (पृ. 271) वाग्भव बीज के साधन के प्रसंग में होम और उसके लिये उपयुक्त सामग्री का वर्णन मिलता है। सौभाग्यसुधोदय (2/8) में इसे पूर्वाम्नाय का प्रतीक कहा है। तन्त्रशास्त्र में एकादश स्वर एकार को भी वाग्भव बीज कहा जाता है।

(ख) कामराज बीज

यह त्रिपुरा विद्या का द्वितीय बीज है। इस बीज का भी समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (1/113–116) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. 194) कामराज बीज को मध्यमा वाणी का विलास मानते हैं। यह क्रिया शक्ति का प्रतीक है और इसकी उपासना से काम नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है। (पृ. 216)। नित्याषोडशिकार्णव (4/34–46) में ही कामराज बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल भी वर्णित है। अर्थरत्नावली (पृ. 247) में इस बीज की उत्पत्ति मूलाधार में, व्याप्ति भ्रूमध्यान्त तक तथा विश्रान्ति ब्रह्मरन्ध्र में मानी गई है। ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. 97–99) ने बिन्दु सहित आनन्दात्मक आकार को भी कामराज बीज माना है। धर्माचार्य ने लघुस्तव में कामराज बीज के निष्फल और सकल दो रूपों का वर्णन किया है। सानुस्वार चतुर्थ वर्ण को ही मूलतः निष्कल बीज कहा है। वही सकल भी बन जाता है। दोनों रूपों में उसकी उपासना की जाती है।

(ग) शक्ति बीज

यह त्रिपुरा विद्या का तृतीय बीज है। इस बीज का समुद्धार नित्याषोडशिकार्णव (1/116–118) में मिलता है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. 194) शक्ति बीज को पश्यन्ती वाणी का विलास मानते हैं। यह इच्छा शक्ति

का प्रतीक है और इसकी सहायता से साधक परम शिव के साथ सामरस्य लाभ कर सकता है (पृ. 216–217)। नित्याषोडशिकार्णव (4/47–57) में ही शक्ति बीज की साधनविधि, ध्यान का प्रकार और उसका फल वर्णित है। अर्थरत्नावलीकार (पृ. 217) ने बताया है कि इसकी उपासना से सभी प्रकार के विषयों से भी मुक्ति मिल जाती है। उक्त तीनों बीजों की व्यस्त रूप में और समस्त रूप में भी उपासना की जा सकती है। इस बीज के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन परात्रीशिका शास्त्र के 'तृतीयं ब्रह्म सुश्रोत्रि' इस पद्य में किया गया है।

भाव

सात प्रकार के आचारों के समान ही तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में त्रिविध भावों का भी विशद वर्णन मिलता है। ये हैं—पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव। जन्मकाल से सोलह वर्ष तक पशुभाव, इसके बाद पचास वर्ष तक वीरभाव और पचास वर्ष के पश्चात् मनुष्य दिव्यभाव में रहता है। भावत्रय से अन्ततः भावै की सिद्धि होती है। ऐक्यभाव से साधक कुलाचार में प्रतिष्ठित होता है और इस कुलाचार के द्वारा की मानव देवमय बन पाता है। भाव एक मानव धर्म है। मन ही मन सर्वदा उसका अभ्यास किया जाता है। दिव्य और वीर ये दो महाभाव हैं, पशुभाव अधम है। वैष्णव को पशुभाव से पूजा करनी चाहिये। शक्ति मन्त्र में पशुभाव भीतिजनक है। दिव्य और वीर भाव में वस्तुतः अन्तर नहीं है, किन्तु वीरभाव अति उद्धत है। रुद्रयामल में बताया गया है कि पशुभाव स्थित साधक किसी एक सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। किन्तु कुलमार्ग अर्थात् वीरभाव स्थित योगी अवश्य ही सब प्रकार की सिद्धियों का अधिकारी हो जाता है। महाविद्याओं के प्रसन्न होने पर ही वीरभाव की प्राप्ति होती है और वीरभाव के प्रसार से ही दिव्यभाव प्रकट होता है। वीरभाव और दिव्यभाव को ग्रहण करने वाले साधक वाञ्छाकल्पतरुलता के स्वामी हो जाते हैं, अर्थात् जब जो चाहे सो प्राप्त कर सकते हैं।

(क) दिव्यभाव

कुब्जिकातन्त्र प्रभृति में दिव्यभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि यह विश्व देवतामय है। समस्त जगत स्त्रीमय और पुरुष भगवान्

शिव है। इस प्रकार अभेद भाव से जो चिन्ता करता है, वह देवतात्मक या दिव्य है। उसको चाहिए कि वह नित्य स्नान, नित्य दान, त्रिसन्ध्या जप–पूजा, निर्मल वसन परिधान, वेदशास्त्र, गुरु और देवता में दृढ़ आस्था, मन्त्र और पितृ–पूजा में अटल विश्वास, बलिदान, श्राद्ध और नित्य कार्य का नियमित आचरण, शत्रु–मित्र में समभाव रखते हुए अन्य किसी के भी अन्न का ग्रहण न करे। शरीर यात्रा के लिये केवल गुरुनिवेदित अन्न स्वीकार करे। कदर्थ और निष्ठुर आचरण का परित्याग कर दिव्यभाव से सदा परमेश्वर की उपासना में निरत रहे। उसको सदा सत्य बोलना चाहिये। जो कभी असत्य का सहारा न ले वह साधक दिव्यभाव में स्थित माना जाता है। सत्ययुग और त्रेता के प्रथमार्ध तक दिव्यभाव की स्थिति मानी जाती है। दिव्यभाव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस भाव के द्वारा साधक समस्त विश्व को परमशिव और उसकी पराशक्ति के रूप में ही देखता है तथा अपनी आहार–विहार आदि सभी क्रियाओं को शिवशक्ति की पूजा ही समझता है।

(ख) पशुभाव

कामाख्यातन्त्र में पशुभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि जो पंचतत्त्व को स्वीकार नहीं करते और न उसकी निन्दा ही करते हैं, जो शिवोक्त कथा को सत्य मानते हैं, पाप कार्य को निन्दनीय समझते हैं, वे ही पशु नाम से प्रसिद्ध हैं। जो प्रतिदिन हविष्य का आहार करते हैं, ताम्बूल नहीं छूते, ऋतु स्नाता अपनी स्त्री के सिवा अन्य किसी भी स्त्री को कामभाव से नहीं देखते, परस्त्री के कामभाव को देखकर उसका साथ त्याग देते हैं, मत्स्य–मांस का सेवन कभी नहीं करते, गन्धमाल्य, वस्त्र आदि धारण नहीं करते, सर्वदा देवालय में रहते हैं और आहार के लिये घर जाते हैं, पुत्र और कन्याओं को अतिस्नेह दृष्टि से देखते हैं, ऐश्वर्य को नहीं चाहते, जो है उससे सन्तुष्ट रहते हैं, धन होने पर सदा दरिद्रों की सहायता करते हैं, कभी कृपणता, द्रोह और अहंकार नहीं दिखाते और जो कभी क्रोध नहीं करते, वे सब जीव पशुभाव में स्थित माने जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों को दीक्षा नहीं देनी चाहिये। इनकी कभी मुक्ति नहीं होती।

रुद्रयामल में लिखा गया है कि जो प्रतिदिन दुर्गापूजा, विष्णुपूजा और

शिवपूजा करता है, वही पशु उत्तम है। शक्ति के साथ शिव की पूजा करने वाला भी उत्तम है। केवल विष्णु की पूजा करने वाला मध्यम और भूत–प्रेत आदि की उपासना करने वाला अधम है। शिव, शक्ति, विष्णु आदि की पूजा करने के बाद यक्षिणी आदि की सेवा करने वाला, ब्रह्मा, कृष्ण, तारक ब्रह्म प्रभृति की पूजा करने वाला साधक भी श्रेष्ठ माना जाता है।

(ग) वीरभाव

पिच्छिलातन्त्र प्रभृति में वीरभाव का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि इस भाव में शक्ति या मद्य, मत्स्य, मांस, मुद्रा और मैथुन के बिना पूजा नहीं की जाती। स्त्री का भग पूजा का आधार है। यहां स्वर्ण अथवा रजत का कुश बनाया जाता है। कलियुग में मुख्य द्रव्यों के अभाव में अनुकल्प का भी विधान है। अथवा मानस भावना से ही सारी विधियां पूरी की जा सकती हैं। स्नान, भोजन, स्वकीया अथवा परकीया स्त्री, मद्य, मांस, स्वयंभू कुसुम, भगपूजन प्रभृति सभी विधियां यहां मानसिक भावना द्वारा ही सम्पन्न की जाती हैं। कलिकाल में मनुष्य संशयों से ग्रस्त रहता है। वह वास्तविक वीरभाव का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः मानस भावना से ही उसको अपने इष्टदेव की उपासना करनी चाहिये। निशंक वीर ही वीर या दिव्यभाव का अधिकारी होता है। पंचमकार साधन, श्मशानसाधन, चितासाधन जैसी क्रियाएं दिव्य या वीरभाव स्थित साधक के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती हैं।

भासाचक्र

भासा या महाप्रतिभा भगवान् की स्वातन्त्र्यरूपा चिति शक्ति का ही नामान्तर है। इसी के गर्भ में पंचकृत्यमय अनन्त वैचित्र्य निहित है। यह सर्वातीत होने पर भी सबकी अनुग्राहिका पराशक्ति है। जिस प्रकार दर्पण में नगर आदि दृश्य प्रपंच प्रतिभासित होते हैं, उसी प्रकार इस स्वच्छ चित्मयी पराशक्ति की भित्ति में भी प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयात्मक समस्त जगत प्रतिबिम्ब की भांति स्फुरित हो उठता है। यही निर्विकल्प परम धाम है। सृष्टि आदि समस्त चक्र इसी में प्रतिबिंब रूप से स्फुरित होते हैं। इसी को सप्तदशी कला कहा जाता है। यह स्वातन्त्र्यशक्ति रूपा संविद् देवी संकोच और विकास दोनों प्रणालियों से नाना रूप में प्रतिभात होती है। पचास

मातृका रूपी वर्णमाला इसी का विकास है। सृष्टि, स्थिति, संहार अनाख्या और भासा पांच चक्र ही क्रम दर्शन में पञ्चवाह महाक्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। सृष्टि से लेकर अनाख्या पर्यन्त चार चक्रों की पूजा क्रम–पूजा के नाम से तथा भासा चक्र की पूजा अक्रम–पूजा के नाम से शास्त्रों में वर्णित है। इसका विशेष विवरण महार्थमंजरी प्रभृति क्रम दर्शन के ग्रन्थों में देखना चाहिये।

भूतलिपि

शारदातिलक (7/1–4) में भूतलिपि का परिचय दिया गया है। वहां बताया गया है कि यह भूतलिपि अत्यन्त सुयोग्य है। इसकी प्राप्ति परम दुर्लभ है। भगवान् शिव से इसको पाकर मुनिगण सभी कामनाओं को प्राप्त कर सके थे। कामकला विलास (27 श्लो.) में सूक्ष्म और स्थूल भेद से मध्यमा वाणी के दो प्रकार बताये गये हैं। सूक्ष्म मध्यमा नवनादात्मक तथा स्थूल भूतलिपिमयी है। कामकलाविलास में श्रीचक्र स्थित अष्टकोण, प्रथम दशार, द्वितीय दशार और चतुर्दशार चक्रम में 42 वर्णात्मक भूतलिपि का विन्यासक्रम वर्णित है। टीकाकार नटनानन्द ने चेष्टाविशेष से अभिव्यक्त आकार वाली लिपि को भूतलिपि माना है। इसमें नौ वर्ग होते हैं। इनका क्रम यह है:

अ इ उ ऋ लृ	प्रथम वर्ग
ए ऐ ओ औ	द्वितीय वर्ग
ह य र व ल	तृतीय वर्ग
ङ क ख घ ग	चतुर्थ वर्ग
ञ च छ झ ज	पंचम वर्ग
ण ट ठ ढ ड	षष्ठ वर्ग
न त थ ध द	सप्तम वर्ग
म प फ भ ब	अष्टम वर्ग
श ष स	नवम वर्ग

भैरव

अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (1/95–100) में बृहस्पतिपाद कृत शिवतनुशास्त्र के श्लोकों को उद्धृत कर बताया है कि इनमें अन्यर्थ नामों से भगवान भैरव की स्तुति की गई है। 'भया सर्व रवयति' (श्लो. 127) विज्ञानभैरव के इस श्लोक और उसकी व्याख्या में भी 'भैरव' पद की व्युत्पत्ति बताई है। क्षेमराज ने विज्ञानोद्‌द्योत के मंगल श्लोक में भैरव की स्तुति की है। इन सबका अभिप्राय यह है कि भैरव इस विश्व का भरण, रवण और वमन करने वाले हैं। वे इस संसार का भरण–पोषण करते हैं और वे ही इसकी सृष्टि और संहार भी करते हैं। ऐसा करके वे स्वयं पुष्ट होते हैं, प्रसन्न होते हैं। भगवान शिव ही भैरव है। वे अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति रूपी तूलिका से इस संसार को चित्रित करते हैं और इसके बाद वे स्वयं ही इसको देखकर प्रसन्न होते हैं। ये संसारी जीवों को अभयदान करने वाले हैं। संसारी जीवों के आक्रन्द (छटपटाहट) के कारण भी ये ही हैं और त्राहि–त्राहि पुकारने वाले भक्त जनों के हृदय में प्रकट होकर उनका उद्धार भी ये ही करते हैं, अर्थात् निग्रह और अनुग्रह ये दोनों भगवान् भैरव के ही व्यापार हैं। इसलिये यह पंचकृत्यकारी कहलाता है। यह कालका भी काल है। इसलिये इसको कालभैरव कहते हैं। यह कालवंचक योगियों के चित्त में समाधि दशा में स्फुरित होता है और अज्ञानी जीवों के हृदय में भी बाह्य और आन्तर इन्द्रियों (करणों) की अधिष्ठात्री देवियों (खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी) के रूप में, जो कि संविद्देवीचक्र के नाम से प्रसिद्ध है, प्रकट होता है। भगवान् भैरव का स्वरूप महाभयानक भी है और परम सौम्य भी। यही भैरव 64 भैरवागमों का तथा अन्य अनेक शैव और शाक्त आगमों का अवतारक है। शाक्त पीठों में सर्वत्र देवी के दर्शन के पहले भैरव की अर्चना की जाती है। केवल वैष्णव देवी का मन्दिर ही इसका अपवाद है। वहां देवी का दर्शन कर लेने के उपरान्त ही भैरव का दर्शन किया गया है। दस विद्याओं के दस भैरवों का, असितांग प्रभृति आठ भैरवों का तथा मन्थान प्रभृति भैरवों का वर्णन शक्तिसंगम प्रभृति तन्त्र ग्रन्थों (3/11/253–254) में मिलता है।

भैरवी (शाम्भवी) मुद्रा

दृष्टि जब निमेष (पलकों को बन्द करना) और उन्मेष (पलकों को खोलना) इन दोनों व्यापारों से शून्य होकर बाहर की ओर लगी हो और अवधान क्रिया बाहर की ओर न जाकर अन्तः स्थित आत्मा को अपना लक्ष्य बनावे, अर्थात् इन्द्रिय तो बाहर की तरफ खुली हो, किन्तु चित्त भीतर की ओर पलटा हुआ हो तो यह अवस्था भैरवी अथवा शाम्भवी मुद्रा के नाम से शास्त्रों में अभिहित है। इस अवस्था में प्रविष्ट हो जाने पर योगी दर्पण में बनते–बिगड़ते हुए नाना प्रकार के प्रतिबिम्बों की भांति चिदाकाश में उदित और विलीन हो रहे बाह्य पदार्थों और आन्तर भावों को, अर्थात् समस्त विकल्पों को, निमीलन और उन्मीलन समापत्ति (समाधि) के बीज में अवधान रूपी चरणि से जलाई गई ज्ञानाग्नि के द्वारा भस्म कर अपने समस्त करण चक्र (इन्द्रिय समूह) को आलंम्बन के अभाव में अपने स्वरूप में ही विस्फारित (विस्तीर्ण) कर लेता है। उस समय ऐसी प्रतीति होती है, मानो ये इन्द्रियां अपने अद्‌भुत स्वरूप को आंखें फाड़ कर देख रही हों।

इस निर्विकल्प अवस्था में प्रवेश कर लेने पर साधक भैरव स्वरूप हो जाता है, अर्थात् उसको अपने वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है, प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से, मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने भैरवीय स्वरूप को पहचान लेता है, वह साक्षात भैरव स्वरूप हो जाता है। भैरवी मुद्रा के सहारे विषयों को देखते हुए भी अनदेखा कर दिया जाता है और इस तरह से अनालोचनात्मक पद्धति से भावों का परित्याग हो जाता है। 'स्पर्शान्त कृत्वा' (5/27) प्रभृति गीता के श्लोक में इसी स्थिति का वर्णन मिलता है। क्रम दर्शन में प्रदर्शित पांच मुद्राओं में भी यह वर्णित है। इसका विशेष विवरण खेचरी मुद्रा के प्रसंग में दिया गया है। हठ योग प्रभृति के ग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा के नाम से यह अभिहित है।

मणिपूर चक्र

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभि के मूल भाग में मेघ के समान श्याम वर्ण दस दलों से शोभित मणिपूर चक्र की स्थिति मानी जाती है। इन दलों

में अर्धचन्द्र और बिन्दु से भूषित ड से लेकर फ पर्यन्त दस वर्ण सुशोभित हैं। इसके बीच में प्रातःकाल के अरुण वर्ण से सूर्य के समान कान्ति वाले त्रिकोणात्मक वैश्वानर मण्डल में रँ बीज का ध्यान किया जाता है। यह मण्डल तीन स्वस्तिक द्वारों से अलंकृत हैं। रँ बीज का वाहन मेष है, वर्ण रक्त है और इसका शरीर चतुर्भुज है। इस वहि्न बीज के देवता रुद्र है। इनका वर्ण सिन्दूर के समान है और इसकी अधिष्ठात्री योगिनी का नाम लकिनी है। (श्रीतत्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरूपण 6 प्र.)।

मध्यधाम

मध्यनाडी सुषुम्ना को शाक्त दर्शन में मध्यधाम कहा गया है। इसी को शून्यातिशून्य पदवी भी कहा जाता है। वस्तुतः मध्यधाम सुषुम्ना को शून्य और शिवतत्त्व को शून्यातिशून्य कहते हैं। मध्यधाम या मध्यदशा को शून्यस्वभाव इसलिये कहा जाता है कि यहां ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय, प्रमाज्ञा–प्रमाण–प्रमेय आदि त्रिपुटियों की कोई सत्ता नहीं बची रहती। मध्यधाम के लिये शून्यातिशून्य शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। इसका मुख्य प्रयोग शिवतत्व और उसकी अभिव्यक्ति के स्थान द्वादशान्त के लिये ही किया जाता है। सुषुम्ना नामक मध्यनाडी शून्यातिशून्य धाम द्वादशान्त में जाकर लीन हो जाती है, अतः इसको भी शून्यातिशून्य धाम कह दिया जाता है। इस शून्यातिशून्य स्वभाव मध्यधाम में विश्रान्ति ही योगी के लिये उपेय (प्राप्तव्य) है।

हृदय के मध्य में इसका निवास है। यह कमलनाल में विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं के समान कृश आकार वाली है। इस मध्यनाडी के भीतर चिदाकाशरूप शून्य का निवास है। इससे प्राण शक्ति चारो ओर प्रसार करती है। साधक जब मध्यनाडी की सहायता से चिदाकाश में प्रविष्ट होता है, तब सोम और सूर्य, अर्थात् अपान और प्राण अथवा मन और प्राण सुषुम्ना में अपने आप विलीन हो जाते हैं। प्राण और अपान के मध्यवर्ती धाम सुषुम्ना (मध्यनाडी) में जिसका आन्तर और बाह्य इन्द्रिय चक्र (मन और उससे नियन्त्रित चक्षुरादि इन्द्रियां) लीन हो जाता है और जो ऊर्ध्व स्थान और अधःस्थान में विद्यमान अकुल और कुल पद्मों के संपुट के मध्य में भावना के बल से प्रविष्ट हो गया है, अर्थात् ऊर्ध्वगत प्रमाण रूपी पद्म और

अधःस्थित प्रमेय रूपी पदम् के मध्य में चिन्मात्र प्रमाता के अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है और इसीलिये चिन्मात्रता के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में जिसका चित्त संलग्न ही है, वह योगी स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यहां प्रमेय रूप संसार का निमेष और उन्मेष व्यापार पद्मदल के संकोच और विकास के तुल्य है। इसीलिये इसकी पद्मसंपुट से तुलना की गई है।

मध्यमा

शब्दब्रह्म संस्कृत पवन से प्रेरित होकर जब हृदय स्थान में अभिव्यक्त होता है, तो वह निश्चयात्मिका बुद्धि से संयुक्त होकर विशेष रूप से स्पन्दित होने वाले नाद का रूप धारण कर मध्यमा वाक् के रूप में प्रसिद्ध होता है। पश्यन्ती से नवनादात्मक मध्यमा वाणी का उन्मेष होता है। यह नाद की अनाहत अवस्था है। संकेतपद्धति, अर्थरत्नावली, वरिवस्यारहस्य, नेत्रतन्त्रोद्द्योत, स्वच्छन्दतन्त्रोदद्योत प्रभृति ग्रन्थों में धर्मशिव प्रभृति आचार्यों के वचनों के प्रमाण पर अष्टविध तथा नवविध नाद का प्रतिपादन किया गया है। इनकी अभिव्यक्ति वाणी की मध्यमा दशा में होती है। यही नादानुसंधान की स्थिति है। इसको मध्यमा इसलिये कहा जाता है कि यह न तो पश्चन्ती के समान उत्तीर्ण है और न वैखरी की तरह स्पष्ट अवयवों वाली है। उक्त दोनों स्थितियों के मध्य में इसकी स्थिति होने से ही इसको मध्यमा कहा जाता है। नवनादात्मक इस मध्यमा वाणी से ही नववर्गात्मिका वैखरी वाणी अभिव्यक्त होती है। योगिनीहृदय में इसको ज्येष्ठा शक्ति कहा है।

मध्यविकास

प्राण और अपान के आधारभूत स्थान आन्तर आकाश हृदय और बाह्य आकाश द्वादशान्त में प्रत्यावृत्ति के अभाव में एक क्षण के लिये प्राण या अपान की वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। तब ऐसी प्रतीति होती है कि मानो प्राण और अपान कहीं विलीन हो गये हैं। इस स्थिति को मध्यदशा के नाम से जाना जाता है। इस मध्यदशा का जब विकास किया जाता है, तब धीरे–धीरे साधक की भेद–दृष्टि (दूसरे से अपने को अलग समझने

का स्वभाव) घटती जाती है और उसकी बाह्य और आन्तर इन्द्रियां अन्तर्मुख होने लगती है। क्रमशः उसका प्राणचार (प्राण और अपान की गति) मध्यनाडी सुषुम्ना में लीन हो जाता है और तब परा शक्ति भैरवी से अभिन्न रूप में विद्यमान भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो उठता है।

हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्रं और द्वादशान्त में प्राण की गति रहती है और हृदय–कमल, मुख का संकोच–विकास तथा द्वादशान्त–ये अपान की गति के स्थान है। इनमें एक क्षण के लिये प्राण के अस्त हो जाने पर और अपान का उदय न होने पर बिना प्रयत्न के बाह्य कुम्भक की प्राप्ति होती है। इसी तरह से एक क्षण के लिये अपान के अस्त हो जाने पर और प्राण का उदय होने पर बिना प्रयत्न के अन्तःकुम्भक की प्राप्ति होती है। यह मध्यदशा ही परम पद कहलाती है। प्राण–अपान की इस मध्यदशा को योगी ही जान सकते हैं। एक तुटि, लव अथवा क्षण के लिये भी अन्तर्मुख हो जाने पर योगी में इस मध्यदशा का विकास हो जाता है और तब प्राण और अपान की पुनः प्रत्यावृत्ति नहीं होती, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है।

यह प्राणात्मक और अपानात्मक शक्ति हृदय से द्वादशान्त तक न तो जायेगी और न द्वादशान्त से हृदय की ओर वापस ही लौटेगी, जबकि मध्यनाडी का धाम (स्थान) विकल्पहानिरूप उपाय से विकसित कर दिया जाए। प्राण और अपान की गति के शान्त हो जाने से, हृदय और द्वादशान्त में प्राण और अपान की अस्पन्द अवस्था में स्थिति हो जाने से मध्यदशा का विकास होने पर साधक अपने स्वरूप को पहचान लेता है, वह साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है। प्रत्यभिज्ञाहृदय के 18वें सूत्र में विकल्पक्षय प्रभृति मध्यदशा के विकास के उपाय बताये गये हैं। स्पन्दकारिका में उन्मेष दशा के नाम से इसका वर्णन किया गया है।

मन्त्र

मन्त्र दो अक्षरों से बना है—मन् और त्र, मन् का अर्थ है मनन करना और त्र का अर्थ त्राण। मनन करने से जो त्राण (रक्षा) करे, वह मन्त्र है। मन्त्र उस अक्षर, शब्द या शब्दों के समुदाय को कहते हैं, जिसके उच्चारण

20—19 HRD/99

और मनन से शक्ति जगती है। स्वच्छन्दतन्त्र (4/375) प्रभृति ग्रन्थों में मन्त्र को ज्ञान शक्ति का विलास माना गया है। इसकी सहायता से साधक संसार सागर से मुक्त होकर शिव पद से संयुक्त हो जाता है।

तन्त्रशास्त्र में मन्त्र के लिये मनु शब्द का भी प्रयोग मिलता है। स्त्री देवता वाले मन्त्रों को महाविद्या कहा जाता है। पिण्ड, कर्तरा, बीज, मन्त्र और माला के भेद से, बीज, कूट, पिण्ड और माला के भेद से तथा सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि के भेद से मन्त्र नाना प्रकार के होते हैं। वैष्णव आगमों में पद, पिण्ड, बीज और संज्ञा के भेद से इनके चार प्रकार वर्णित हैं। नेत्रतन्त्र (18/10–12) में संपुटित, ग्रथित, ग्रस्त, समस्त, विदर्भित, आक्रान्त, आद्यन्त, गर्भस्थ, सर्वतोवृत्त, युक्तिविदर्भित ओर विदर्भग्रथित—ये ग्यारह विधियां मन्त्रों के विन्यास अथवा उच्चारण की बताई गई हैं। शारदातिलक (23/136) में शान्ति, वश्य, स्तम्भन, विवेशण उच्चाटन और मारण नामक षट्कर्मों की सिद्धि के लिये ग्रथन, विदर्भ, संपुट, रोधन, योग और पल्लव नामक छः प्रकार की मन्त्रविन्यास की पद्धति वर्णित है। टीकाकारों ने इन पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को स्पष्ट किया है। तदनुसार उक्त विधियों में मन्त्राक्षरों अथवा मन्त्रों का विशेष स्थितियों में लेखन अथवा उच्चारण किया जाता है।

मीमांसा दर्शन में मन्त्र को ही देवता माना गया है। तन्त्रशास्त्र में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यहां मनु (मन्त्र) अथवा विद्या को उस देवता का विग्रह ही माना जाता है। दस महाविद्याओं के प्रतिपादक शाक्त तन्त्रों में काली, तारा, त्रिपुरा, प्रभृति शब्दों से मन्त्र और देवता दोनों अभिहित होते हैं। निरुक्त में मन्त्रार्थ के ज्ञान की महिमा वर्णित है। तदनुरूप ही तन्त्रशास्त्र में कहा जाता है कि मन्त्रार्थ की भावना के साथ मन्त्र का जप करने से मन्त्रचैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, अर्थात् साधक के समक्ष मन्त्रदेवता अपने स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य प्रभृति शब्दों की निरुक्ति के प्रसंग में ये विषय चर्चित हैं।

मन्त्रस्वरूप, मन्त्रवीर्य, मन्त्रसामर्थ्य, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रदोष, मन्त्रसंस्कार, मन्त्रसिद्धि प्रभृति विषयों पर तथा मन्त्रदीक्षा के

प्रसंग में गुरु, शिष्य, देश, काल, स्थान आदि के विषय में तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। स्त्रीप्रदत्त तथा स्वप्नलब्ध मन्त्रों की साधनविधि तन्त्रों में वर्णित है। मन्त्रदीक्षा के समय कुलाकुलचक्र, नक्षत्रचक्र, राशिचक्र, नामचक्र, आदि की सहायता से मन्त्र का उद्धार और परीक्षण किया जाता है कि किस व्यक्ति को किसी मंत्र की दीक्षा दी जाय। हुं, फट् आदि अंग मन्त्रों के संयोजन की विधि का जानना भी आवश्यक माना गया है। मन्त्र, मण्डल आदि में जैसे प्रधान देवता के अतिरिक्त आवरण देवताओं का विन्यास विहित है, उसी प्रकार मूल विद्या अथवा प्रधान मन्त्र के भी अंग विद्या अथवा अंग मन्त्रों का शास्त्रों में वर्णन मिलता है। कुलार्णव तन्त्र के तृतीय और चतुर्थ पटल में जैसे प्रासाद अथवा पराप्रासाद मन्त्र का सविशेष महत्व वर्णित है, उसी तरह से तन्त्रशास्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ अथवा सम्प्रदाय का अपना मूल (मुख्य) मन्त्र होता है। इसी मूल मन्त्र के अंग के रूप में अन्य मन्त्रों का विनियोग बताया जाता है। उक्त विषयों का विशेष विवरण जिज्ञासुओं को नेत्रतन्त्र, शारदातिलक, प्राणतोषिणी प्रभृति ग्रन्थों में देखना चाहिये।

नेत्रतन्त्र (18/13–14) में कहा गया है कि वही साधक श्रेष्ठ है, जो हृदय और द्वादशान्त में मन्त्र के उन्मेष और विश्रान्ति को जानता है, मन्त्र की शक्ति से परिचित है, उसके ध्यान के स्वरूप और मुद्रा को हृदयंगम कर सका हैं तन्त्रालोक (29/83), उत्तरषट्क, अर्थरत्नावली (पृ. 231, 247) प्रभृति ग्रन्थों में उदय, संगम (व्याप्ति) और शान्ति (विश्रान्ति) नामक तीन अवस्थाओं का उल्लेख है। साधक को चाहिये कि वह आधार स्थान में मन्त्र के उदय की स्थिति का, हृदय स्थान में व्याप्ति का तथा ब्रह्मरन्ध्र में मन्त्र की विश्रान्ति दशा का सावधानी से अवलोकन करें। इसके लिये योनिमुद्रा के अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है, जिसका कि निरूपण अलग से किया गया है।

मन्त्र-चैतन्य

जपयज्ञ के अभ्यास के वैखरी वाणी के समस्त आगन्तुक मल जब दूर हो जाते हैं, तब इडा–पिंगला का मार्ग अवरूद्ध होने लगता है और सुषुम्ना पथ उन्मुक्त हो उठता है। इस स्थिति में शब्दशक्ति प्राणशक्ति की

सहायता से शोधित होकर सुषुम्ना रूप ब्रह्मपथ का आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्द की सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्था में अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट प्रवाह में निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है। इसी स्थिति को मन्त्रचैतन्य का उन्मेष कहा जाता है। प्राणतोषिणी तन्त्र (पृ. 418–419) में बताया गया है कि मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा को जो नहीं जानता, उसकी तांत्रिक उपासना कभी भी सफल नहीं हो सकती। मन्त्र का अधिष्ठाता देवता ही मन्त्रचैतन्य के नाम से अभिहित होता है। शास्त्रों में बताया गया है कि मन्त्र मणि के समान है और मन्त्रदेवता अर्थात् मन्त्रचैतन्य मणि की प्रभा के समान है।

उत्तरषट्क नामक ग्रन्थ में मन्त्र की पांच अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। उनके नाम हैं—स्पर्शन, अवलोकन, संभाषा, बिन्दुदर्शन और स्वयमावेशन। स्पर्शन का अर्थ मन्त्र के साथ साधक का संबंध है। इसका चिह्न कम्पन है। यह पहले हृदय में उत्पन्न होता है। मन्त्र का साधक को देखना ही अवलोकन है। इसका चिह्न घूनन है। इसकी उत्पत्ति कण्ठ में होती है। मन्त्र का साधक से भाषण संभाषा है। इसका चिह्न स्तोभ है। इस अवस्था में साधक समस्त विद्या और मन्त्रों की कल्पना कर सकता है। बिन्दुदर्शन का अर्थ है मन्त्र की आत्मा का साक्षात्कार। यह साक्षात्कार भ्रूमध्य में होता है। इससे साधक को सभी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। स्वयमावेशन का अभिप्राय है कि मन्त्र साधक को स्वात्मस्वरूप में समाविष्ट कर लेता है। यही वास्तविक मन्त्रचैतन्य की स्थिति है। यहां आकर मन्त्र की साधना फलीभूत हो जाती है। साधक की मन्त्र देवता के साथ समरसता हो जाती है।

मन्त्रार्थ

मन्त्रजप के साथ मन्त्रार्थ की भावना आवश्यक है। राख में डाली गई आहुति जैसे निष्फल जाती है, इसी तरह से अर्थ के ज्ञान के बिना किया गया मन्त्र का उच्चारण भी व्यर्थ माना जाता है। निरुक्त प्रभृति ग्रंथों में भी अर्थज्ञान की महिमा वर्णित है। शास्त्रों में विविध प्रकार के मंत्रार्थों का

विवरण पाया जाता है। भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य में 15 प्रकार के मन्त्रार्थों का निरूपण किया है। उनमें भावार्थ, सम्प्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और महातत्त्वार्थ—ये छः अर्थ ही प्रधान हैं। योगिनीहृदय के मन्त्रसंकेत प्रकरण में इनका ही निरूपण हुआ है। तदनुसार मन्त्र के अवयवभूत अक्षरों का अर्थ ही भावार्थ है। सर्वकारणकारण पूर्ण परमेश्वर ही सब मन्त्रों के मूल गुरु हैं। उनके मुख से अपने मन्त्र का उद्भव और उसका अवतरण क्रम अथवा परम्परा का ज्ञान सम्प्रदायार्थ है। परमेश्वर, गुरु और निज आत्मा का ऐक्यानुसन्धान निगर्भार्थ है। परमेश्वर निष्कल निरवयव है, गुरु भी वही है। निष्कल परमेश्वर का जो निज आत्मरूप में साक्षात्कार करते हैं, वे ही गुरु हैं। इसलिये गुरु और परमेश्वर अभिन्न हैं। चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक का ऐक्यानुसन्धान कौलिकार्थ है। मूलाधार स्थित कुण्डलिनी रूपा विद्या ही साधक की स्वात्मा है। इस प्रकार की भावना का नाम रहस्यार्थ है। निष्कल, अणु से अणुतर और महान से महत्तर, निर्लक्ष्य, भावातीत, व्योमातीत परम तत्त्व के साथ प्रकाशानन्दमय, विश्वातीत और विश्वमय, गुरु प्रबोधित, निर्मलस्वभाव स्वकीय आत्मा का ऐक्यानुसन्धान महातत्त्वार्थ है। इन सब अर्थों के ज्ञान से पाशात्मक विकल्पजाल भली—भांति निवृत्त हो जाता है।

मल

तत्त्वप्रकाशकार भोजदेव ने 18वीं कारिका में मल का लक्षण बताया है कि मल एक है और वह अनेक प्रकार की शक्तियों से मुक्त है। यह पुरुष की ज्ञान और क्रिया शक्ति को उसी तरह से ढक लेता है, जैसे कि भूसी चावल को और कालिमा तांबे को ढके रहती है। इस तरह से द्वैतवादी शैवों के यहां मल जीव में रहने वाला एक द्रव्यविशेष माना गया है। अद्वैतवादी शैव और शाक्त दार्शनिक ऐसा नहीं मानते। वे संसृति के अनादि कारण अज्ञान को ही मल मानते हैं। यह मल तीन प्रकार का होता है—आणव, मायीय और कार्म। अणु (जीव) गत अज्ञान ही उसके परमार्थ स्वरूप को ढक लेता है। इसी को आणव मल कहते हैं। माया शक्ति के अधीन मल मायीय तथा पुण्य और पाप कर्मों की वासना से उत्पन्न मल कार्म मल कहलाता है।

महाप्रचय (सततोदित)

मालिनीविजय (2/36–45) तथा मन्त्रालोक (10/227–287) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। तदनुसार तुरीयातीत अवस्था ही महाप्रचय अथवा सततोदित दशा है। इस अवस्था में पहुंचकर साधक निष्प्रपंच, निराभास शुद्ध, स्वात्मस्वरूप, सर्वातीत, शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह महान् प्रकाशमय अनन्तपद है। सततोदित पद का अभिप्राय यह है कि यह स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है, अखण्ड रूप में सर्वत्र सदा प्रकाशित होता रहता है। इसके पर्याय के रूप में शास्त्रों में नित्योदित पद भी प्रयुक्त होता है।

मातृका

अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला को ही मातृका कहा जाता है। विभिन्न शास्त्रों में यह शब्दराशि, मालिनी, कालिका, भूतलिपि प्रभृति शब्दों से अभिहित होती है। यही सात करोड़ महामन्त्रों की जननी है। सौभाग्यसुधोदय (1/6) में माति, तरति और कायति–इन तीन धातुओं से मातृका पद की निष्पत्ति बताई है। अनाहत मूर्ति, अर्थात् अनाहत नाद मध्यमा वाक् के रूप में यह सारे जगत को अपने में समेटे रहती है। उत्तीर्ण, अर्थात् पश्यन्ती के रूप में यह जगत् से ऊपर उठ जाती है और वैखरी वाणी के रूप में यह नाना नामरूपात्मक प्रपंच का शरीर धारण करती है। इसीलिए इसको मातृका कहा जाता है। तन्त्रसद्भाव नामक ग्रंथ में बताया गया है कि सभी मन्त्र वर्णों से बनते हैं और ये शक्ति से सम्पन्न होते हैं। यह शक्ति मातृका के नाम से शास्त्रों में जानी जाती है, जो कि शिव से अभिन्न है। इस प्रकार परावाक् स्वरूपिणी, अनाहतनादमयी, परमशिव से अभिन्न, 36 तत्त्वों की सृष्टि में कारणभूत परा संवित् को ही तन्त्रशास्त्र में मातृका कहा गया है।

यह मातृका पहले बीज और योनि, अर्थात् स्वर और व्यंजन के भेद से द्विधा विभक्त होती है। इसका दूसरा विभाग वर्गात्मक है। सात, आठ या नौ वर्गों का विधान विभिन्न शास्त्रों में वर्णित है। अक्षरों की संख्या के

विषय में भी विभिन्न मत हैं। किन्तु 16 स्वर और 34 व्यंजनों वाला विभाग प्रायः सर्वमान्य है।

मालिनी

मातृका का निरूपण अलग से किया गया है। संक्षेप में अकारादि क्षकारान्त वर्णमाला ही लोक में मातृका के नाम से प्रसिद्ध है। इस वर्णमाला का नादि फान्त क्रम शैव और शान्त तन्त्रों में मालिनी कहा जाता है। मालिनीविजय तन्त्र (3/37—41) में यह क्रम मालिनी न्यास के नाम से वर्णित है। इसी के आधार पर अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. 134—135), परात्रिंशिकाविवरण (पृ. 120—123) और तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक के अन्त में इसका निरूपण किया है। वहां मालिनी को शक्ति का तथा मातृका को शक्तिमत् का वाचक माना गया है। मालिनी की विशेषता यह है कि इसमें स्वर और व्यंजन वर्ण परस्पर घुले—मिले हैं। त्रिकहृदय में मालिनी को नादिनी कहा है और इसकी स्थिति शिखान्त में मानी है। मालिनी न्यास से मन्त्रों के सभी दोष दूर हो जाते हैं और गारुड़, वैष्णव प्रभृति सांजन मन्त्र भी निरंजन बनकर मोक्ष की प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। मालिनी का क्रम इस प्रकार है—न ऋ ॠ ऌ ॡ थ च ध ई ण उ ऊ ब क ख ग घ ङ अ व भ य ड ढ ठ झ ञ ज र ट प छ ल आ स अः ह ष क्ष म श अं त ए ऐ ओ औ द फ।

मुद्रा

इसका साधारण अर्थ है छाप, मोहर। योग में इसका अर्थ होता है विशेष अंगविन्यास, विशेष रूप से हाथ और अंगुलियों की निश्चित स्थिति। अधिक व्यापक रूप से इसका अर्थ होता है शरीर के कुछ अवयवों और इन्द्रियों पर विशेष नियन्त्रण, जिससे कि ध्यान और समाधि में सहायता मिलती है। जैसे कि भैरवी मुद्रा के अभ्यास से साधक जीवनमुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है।

स्वच्छन्दतन्त्र (4/375) प्रभृति ग्रन्थों में मुद्रा को क्रिया शक्ति का विलास माना गया है। योगिनीहृदय (1/57) की टीका में अमृतानन्द कहते हैं कि परा संवित ही क्रिया शक्ति के रूप में विश्व को मोद (सुख) से भर

देती है और सारे दुःखों का नाश कर देती है। उक्त दोनों गुणों के आधार पर संविन्निष्ट क्रिया शक्ति ही मुद्रा के नाम से अभिहित होती है। अन्यत्र बताया गया है कि ग्रह प्रभृति के दोषों से यह साधक को मुक्त कर देती है, उसके पाशजाल को काट देती है। इस तरह मोचन और द्रावण गुणों के आधार पर इसको मुद्रा कहा जाता है। तंत्रालोक (32/3) में कहा गया है कि देह के माध्यम से देही आत्म को स्वरूपावबोध का सुख देने के कारण इसको मुद्रा कहते हैं।

नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली टीका के रचयिता विद्यानन्द बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से मुद्रा के दो प्रकार बनाते हैं। अंगुलियों के विन्यास के आधार पर प्रदर्शित की जांने वाली मुद्रा बाह्य तथा बंध के नाम से प्रसिद्ध मुद्रा आभ्यन्तर कही जाती है। ऋजुविमर्शिनीकार खेचरी मुद्रा के प्रकरण में त्रिविध मुद्राओं का निरूपण करते हैं। स्वच्छन्दतन्त्र (2/103) में भी त्रिविध मुद्रा का उल्लेख है, किन्तु उनके नाम शिवानन्द प्रदर्शित नामों से भिन्न है। क्षेमराज ने बताया है कि ये त्रिविध विभाग मनोजा, वाग्भवा और देहोद्भवा के नाम से शास्त्रों में वर्णित हैं। तन्त्रालोक (32/9) और उसकी टीका विवेक में चतुर्विध मुद्रा प्रतिपादित है—करजा, कायिकी, विलापाख्या और मानसी।

नित्याषोडशिकार्णव के तृतीय पटल में अंगुलियों के विशेष प्रकार के विन्यास के आधार पर प्रदर्शित की जाने वाली दशविध करजा मुद्राओं का वर्णन मिलता है। इस प्रकार की मुद्राएं प्रायः सभी तन्त्र ग्रन्थों में वर्णित हैं। परशुराम कल्पसूत्र के परिशिष्ट (पृ. 608–652) में प्रायः शताधिक मुद्राओं का विवरण मिलता है। भगवान् राम की उपासना में प्रयुक्त ज्ञान मुद्रा भी वहां वर्णित है। संस्थान विशेष का अनुसरण करने वाली कायिकी मुद्राओं का बन्ध अथवा मुद्रा के नाम से विवरण मिलता है। हठयोगप्रदीपिका के तृतीय उपदेश में कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिये दस मुद्राओं का वर्णन किया गया है। तंत्रालोक (32/5–6) में बताया गया है कि करंकिणी, क्रोधना, भैरवी और लैलिहाना मुद्रा खेचरी के ही प्रपंच हैं। ये पांच मुद्राएं विज्ञानभैरव, चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमंजरी प्रभृति ग्रन्थों में वर्णित हैं। वहां बताया गया है कि करंकिणी मुद्रा पांच भौतिक देह को परम आकाश में

विलीन कर देती है, इसके साधक ज्ञानसिद्ध कहलाते हैं। क्रोधनी मुद्रा पृथ्वी से लेकर प्रकृति पर्यन्त चौबीस तत्त्वों को मन्त्रमय शरीर में विलीन कर देती है, इसके साधक मन्त्रसिद्ध कहलाते हैं। भैरवी मुद्रा अपने स्वरूप में सारे जगत को विलीन कर लेती है, इसके साधक मेलापसिद्ध कहे जाते हैं। लैलिहाना मुद्रा सारे जगत का अपने पूर्ण विमर्शमय स्वरूप में बार–बार आस्वादन करती रहती है, इसके साधक शक्तिसिद्ध कहलाते हैं। खेचरी मुद्रा शक्ति, व्यापिनी आदि स्थानों में सदा विचरण करने वाली है। इसके साधक शाम्भवसिद्ध कहे जाते हैं। इनका विलापाख्य तथा मानस विभाग में समावेश होगा। कुछ बन्ध तथा मुद्राओं का भी आभ्यन्तर अथवा मानस विभाग में समावेश होगा।

महार्थमंजरीकार (पृ. 110) में वेष–विन्यास को भी मुद्रा के अन्तर्गत माना है। यामुनाचार्य आगमप्रामाण्य में पाशुपत मत में प्रसिद्ध कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणिं, भस्म और यज्ञोपवीत नामक छः मुद्राओं का तथा कपाल और खट्वाङ्ग नामक उपमुद्राओं का उल्लेख करते हैं। इनका उक्त वेषविन्यासात्मक मुद्रा में ही समावेश किया जा सकता है।

वैष्णव सम्प्रदाय में शंख, चक्र आदि से शरीर को अंकित किया जाता है। इसको भी वहां मुद्रा पद से ही अभिहित किया गया है। तप्त मुद्रा और शीतल मुद्रा के नाम से यह दो प्रकार की मानी जाती है। अग्नि में तपे हुए चक्र आदि के ठप्पों से शरीर पर जो चिन्ह दागे जाते हैं, उन्हें तप्त मुद्रा और चन्दन आदि से शरीर पर जो छाप दिये जाते हैं, उन्हें शीतल मुद्रा कहते हैं। रामानुज सम्प्रदाय में तप्त मुद्रा का विशेष प्रचार है। पंचमकार के अन्तर्गत भी मुद्रा का उल्लेख है। वहां खाद्य अन्न विशेष को, अर्थात् विशेष प्रकार के अदूद या चने को मुद्रा कहा गया है। शैव, शाक्त तथा बौद्ध तन्त्रों में इनके भिन्न–भिन्न अर्थ हैं। शक्तिसंगमतन्त्र (2/63/21–45) में अंक, बीज, बीजक, मन्त्र और नाम के भेद से पंचविध मुद्राएं वर्णित हैं। तदनुसार मोहर और अंगूठी को भी मुद्रा कहा जाता है।

तन्त्रतन्त्र (21/80) में बताया गया है कि मन्त्र, मुद्रा और ध्यान की सहायता से स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अद्वैत दृष्टि के प्रतिपादक तन्त्र ग्रन्थों में सब कुछ स्वात्मा का स्वरूप माना जाता है। तदनुसार मुद्रा

भी परासंवित् का ही विस्फार है। शिवानन्द के अनुसार बोधगमन में विचरण करने वाली इस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु क्षेमराज ने तन्त्रसद्भाव प्रभृति ग्रन्थों की सहायता से इसको समझाने का प्रयत्न किया है। खेचरी मुद्रा की व्याख्या में इसका विवरण देखना चाहिये।

अश्विनी मुद्रा का उल्लेख कर देना भी यहां आवश्यक है। ''तान्त्रिक वाङ्मय में शक्ति दृष्टि'' नामक ग्रन्थ में बताया गया है कि इसका अभ्यास प्राण शक्ति के संकोच और विकास के लिये किया जाता है।

मूलाधार चक्र

अन्य चक्रों का यह मूल आधार है, अतः इसे मूलाधार चक्र कहा जाता है। यह सुषुम्ना नाडी के मुख से जुड़ा हुआ है। लिंग के नीचे और गुदा के ऊपर कन्द स्थान में यह स्थित है। भूतशुद्धि तन्त्र में बताया गया है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा लिंग से दो अंगुल नीचे चार अगुंल विस्तार से पक्षी के अंडे के समान आकार वाले स्थान को कन्द कहा जाता है। कन्द स्थान स्थित मूलाधार पद्म के चार लाल वर्ण वाले पत्र हैं और इन पत्रों पर पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से सुवर्ण की आभा वाले यं शं षं सं ये चार वर्ण विराजमान हैं। यह अधोमुख कमल है। इस आधार पद्म में चतुष्कोण पृथ्वी मण्डल स्थित है और इसकी आठों दिशाओं में आठ शूल शोभा पाते हैं तथा इसके मध्य में पीत वर्ण पृथ्वी का बीजाक्षर लं विराजमान है। धरा (पृथ्वी) बीज चार बाहुओं से युक्त और इसी पर आरूढ़ माना जाता है। सृष्टिकर्ता ब्रहमा इसके अधिपति हैं। इस मूलाधार पद्म में डाकिनी शक्ति का निवास है। ब्रहमनाडी के मूल स्थान में मूलाधार पद्म की, कर्णिका के मध्य में विद्युत् के समान प्रकाशमान भगवती त्रिपुरा का त्रिकोण, जिसका कि नाम कामरूप पीठ भी है, विराजमान है। इसके बीच में पश्चिमाभिमुख स्वयंभू लिंग की स्थिति मानी गई है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्रनिरूपण, पृ. 6)।

यामलावस्था (युगनद्ध)

तन्त्रशास्त्र में रुद्रयामल प्रभृति आठ यामल प्रसिद्ध हैं। वाराही तन्त्र में बताया गया है कि इन यामल ग्रन्थों में सृष्टि प्रभृति आठ विषयों का

प्रतिपादन किया जाता है। यामल ग्रन्थों का आविर्भाव यामल भाव से होता है। अर्थात् परमशिव विश्व का कल्याण करने की दृष्टि से स्वयं ही विमर्श रूप में बदल कर अनुग्राह्य की योग्यता के अनुसार पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के माध्यम से प्रश्न करते हैं और प्रकाश रूप में अवस्थित होकर उसी पद्धति से वे प्रश्नों का उत्तर भी देते हैं। इस प्रकार भैरव और भैरवी के यामल भाव से प्रश्न–प्रतिवचन शैली में इन यामलों का आविर्भाव होता है। यमल और यामल शब्द का अर्थ है – युगल भाव। तान्त्रिक साधना प्रधानतः युगलभाव की ही उपासना है। शिव–शक्ति, भैरव–भैरवी, राधा–कृष्ण, सीता–राम, शिव–पार्वती की उपासना युगलभाव की ही उपासना है।

शाक्त सम्प्रदाय, विशेष कर कौल सम्प्रदाय के योगीगण यामलावस्था में स्थित होकर कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार चक्र स्थित शिव के साथ उसकी समरसता संपादित करते हैं। इसी को शिव और शक्ति की यामलावस्था कहा जाता है। यही यामली सिद्धि है। बौद्ध तन्त्रों में इस अवस्था को युगनद्ध शब्द से अभिहित किया गया है।

महायोग के फलस्वरूप जिस षट्कोण की चर्चा शास्त्रों में आती है, वही शैव और शाक्त तन्त्रों में शिव और शक्ति का सामरस्य, वैष्णवों में युगल स्वरूप और बौद्ध तन्त्रों में युगनद्ध के रूप में कल्पित है। युगनद्ध स्वरूप भी मिथुनाकार है। यहां प्रज्ञा और उपाय का, शून्यता और करुणा का, कमल और कुलिश का सामरस्य सम्पन्न होता है। अनंगवज्र ने अपने प्रज्ञोपायविनिश्चय सिद्धि नामक ग्रन्थ में कहा है कि प्रज्ञा का लक्षण निःस्वभाव है तथा उपाय का लक्षण सस्वभाव है। केवल प्रज्ञा के द्वारा अथवा केवल उपाय के द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये प्रज्ञा और उपाय दोनों के साम्य या अभिन्नता का सम्पादन करना चाहिये। यह समरसता शिव और शक्ति की समरसता के ही तुल्य है। बौद्ध तन्त्रों में यह समरसता युगनद्ध दशा, युगनद्ध काय प्रभृति शब्दों से अभिहित है। अद्वयवज्र के युगनद्धप्रकाश (पृ. 49) में तथा नडपाद की सेकोद्देशटीका (पृ. 56–57) में इसका विवरण मिलता है। पूरे प्रकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि युगलभाव, यामलभाव अथवा युगनद्धभाव एक

ही स्थिति के सूचक शब्द हैं। इस अवस्था में भोग और मोक्ष की समरसता सम्पन्न हो जाती है।

योगिनी

तन्त्रशास्त्र में योगिनी शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। स्थूल रूप से तन्त्रशास्त्र में, विशेषकर कौल मत में, पुरुष साधक को 'वीर' तथा स्त्री साधिका को 'योगिनी' कहा जाता है। इस शास्त्र में योगिनी मुख से प्राप्त मन्त्रदीक्षा का विशेष महत्व बताया गया है। 64 योगिनियां प्रसिद्ध हैं। अष्टाष्टक पूजा में 64 भैरव अैर 64 योगिनियों की यामलभाव में उपासना की जाती है। नित्याषोडशिकार्णव प्रभृति ग्रन्थों में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की वन्दना योगिनी के रूप में भी की गई है। टीकाकारों का कथन है कि मातृका के अष्ट वर्गों की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति देवियां यहां योगिनी पद से अभिप्रेत हैं। अन्य टीकाकार वशिनी प्रभृति आठ देवियों का यहां उल्लेख मानते हैं। त्वक्, असृक्, मांस, मेदा, मज्जा और शुक्र नामक धातुओं की स्वामिनी डाकिनी, राकिणी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी और हाकिनी नामक देवियां कुछ आचार्यों के मत से योगिनी पद से अभिप्रेत हैं। ये षट्चक्र, षडूर्मि और षट्कोशों की अधिष्ठात्री देवियां मानी गई हैं। अन्य आचार्य याकिनी का भी इसमें समावेश कर इनकी संख्या सात मानते हैं।

अर्थरत्नावलीकार (पृ. 74) डाकिनी से लेकर हाकिनी पर्यन्त योगिनियों की संख्या 64 लक्षकोटि, 32 लक्षकोटि, 16 लक्षकोटि, 8 लक्षकोटि, 4 लक्षकोटि और 1 लक्षकोटि मानते हैं। अन्यत्र (पृ. 134) पर, सहज, कुलज और अन्त्यज के भेद से चार प्रकार की योगिनियों का उल्लेख करते हैं। ऋजुविमर्शिनीकार (पृ. 252) का कहना है कि 64 करोड़ योगिनियां ब्राह्मी प्रभृति आठ शक्तियों का ही विस्तार है। नव चक्रों में पूजनीय प्रकटा प्रभृति नवविध योगिनियों का भी उल्लेख त्रिपुरा सम्प्रदाय में ही मिलता है। इनको चक्रेश्वरी भी कहा जाता है। यह सारा विस्तार भगवती त्रिपुरा का ही है। इसीलिये उसकी योगिनी के रूप में स्तुति की गई है।

नाडी शब्द की परिभाषा में बताया गया है कि सहजयान सम्प्रदाय में नाडियों के लिये योगिनी शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्रम दर्शन में द्वादश स्वरों

की अधिष्ठात्री द्वादश शक्तियों का वर्णन मिलता है। इनको कालिका अथवा योगिनी शब्द से भी अभिहित किया जाता है (भारतीय संस्कृति और साधना, भा.1, पृ. 43)।

योगी

मालिनीविजयतन्त्र (4/32–40) में चार प्रकार के योगी बताये गये हैं। इनके नाम हैं – संप्राप्त, घटमान, सिद्ध और सुसिद्ध (सिद्धतम)। जिसे योग का केवल उपदेश प्राप्त हुआ है, उसे संप्राप्त योगी कहते हैं। तत्त्व से चलित चित्त को जो बार–बार उसी में लगाने का प्रयत्न करता रहता है, वह घटमान योगी कहा जाता है। संप्राप्त और घटमान योगी की न तो ज्ञान में और न योग में ही स्थिर रूढ़ि रहती है। इनके द्वारा अन्य लोगों की पारमार्थिक सहायता नहीं हो सकती। तृतीय प्रकार सिद्ध योगी का है। इसका योग सिद्ध हो जाता है। इसमें स्वाभ्यस्त ज्ञान की भी स्थिति रहती है। इस ज्ञान के द्वारा वह दूसरे को भी मुक्त कर सकता है। चतुर्थ प्रकार का सुसिद्ध योगी साक्षात् सदाशिव सदृश हो जाता है, जो कभी अपने स्वरूप से स्खलित नहीं होता। वह किसी भी स्थान में रहे, कैसा ही भोग करे, सदा निर्विकार रहता है। ऐसा योगी सभी स्थितियों में जीवमात्र का उद्धार कर सकता है। युक्त और युंजान के भेद से भी योगी का स्वरूप प्रतिपादित है। इनमें से युक्त योगी योगज धर्म की सहायता से परमाणु प्रभृति सूक्ष्मतम पदार्थों की भी सदा जानकारी रखता है। इसके विपरीत युंजान योगी प्रयत्न करने पर ही उक्त पदार्थों को जान सकता है।

योनिमुद्रा

नित्याषोडशिकार्णव प्रभृति त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दस प्रकार की मुद्राओं का विवरण मिलता है। उनमें से पहली त्रिखण्डा मुद्रा आवाहन में विनियुक्त होती है और बची हुई नौ मुद्राओं का विनियोग नव चक्रों की पूजा में बीज मन्त्रों के उच्चारण के साथ किया जाता है। इन मुद्राओं के बीज मन्त्र अर्थरत्नावली में उद्धृत किये गये हैं। यद्यपि योनिमुद्रा का निरूपण यहां सबके अंत में हुआ है, तो भी इसको प्रथम, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट माना गया है। क्योंकि सभी मुद्राओं की उत्पत्ति इसी से होती है। बाह्य

पूजा में मुद्राओं का क्रम वही है, जो कि उक्त ग्रन्थों में बताया गया है, किन्तु अन्तर्याग में योनिमुद्रा को ही प्रथम स्थान प्राप्त है।

नित्याषोडशिकार्णव (3/26–27) प्रदर्शित योनिमुद्रा का स्वरूप यह है – दोनों मध्यमाओं को वक्र कर उसके ऊपर तर्जनियों को रखना चाहिये। पीछे अनामिका और कनिष्ठिका को मध्यगत करके अंगुष्ठ द्वारा परिपीडित करने से यह मुद्रा बनती है। तन्त्रसार में इसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है – दोनों हाथों की मध्यमा को मध्य स्थल में रखकर दोनों हाथों के कनिष्ठाद्वय को मध्यमाद्वय द्वारा आबद्ध करना चाहिये। तब दोनों तर्जनियों को दण्डाकार में करके मध्यमाद्वय के ऊपरी भाग पर रखने से यह मुद्रा बनती है। यह परमा मुद्रा सर्वसंक्षोभसारिणी है। इस मुद्रा से त्रिपुरा देवी का ध्यान किया जाता है।

अंगुलिविरचनात्मा मुद्रा के अतिरिक्त संस्थानविशेष रूप योनिमुद्रा का भी शास्त्रों में वर्णन है। उत्तरषट्व में बताया गया है कि गुदा और मेढ् (लिंग) के मध्य में योनि स्थान, अर्थात् कन्द स्थान है। उसको आकुंचित कर बांध लेना चाहिये। इसके अभ्यास से मन्त्रों के सभी दोषों का निवारण हो जाता है। हठयोग के ग्रन्थों में इसका महामुद्रा के नाम से वर्णन किया गया है। वहां बताया गया है कि इस मुद्रा के अभ्यास से साधक कुण्डलिनी शक्ति को जगा सकता है। प्राणतोषिणी तन्त्र (पृ. 128–132) में भी इसका विस्तृत विवरण मिलता है। वहां बताया गया है कि योनिमुद्रा में स्थित होकर योगी पवन की गति को ऊर्ध्वोन्मुख बनाकर उससे मन्त्राक्षरों का शोधन कर ले। महामुद्रा और मूलबन्ध भी योनिमुद्रा के ही प्रकार हैं। प्राणतोषिणी धृत कुब्जिका तन्त्र में भी इस विषय का विवरण है। इसीलिये शास्त्रों में मन्त्रार्थ, मन्त्रचैतन्य और योनिमुद्रा के ज्ञान को मन्त्रसाधना में अनिवार्य माना जाता है। उच्च कोटि का साधक इस योनिमुद्रा के अभ्यास से ही मन्त्रगत दोषों का निवारण कर सकता है। शारदातिलक में बताया गया है कि जो साधक योनिमुद्रा के अभ्यास में असमर्थ है, उसको चाहिये कि वह मन्त्रगत दोषों के निवारण के लिये उनको दस प्रकार के संस्कारों से संस्कृत करे।

इसके अभ्यास से योनि स्थान अर्थात् कन्द स्थान मुद्रित हो जाता है। इसीलिये इसको योनिमुद्रा कहते हैं।

रूप

मालिनीविजय (2/36–45) तथा तन्त्रालोक (10/227–287) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहां मन्त्रेश को रूपस्थ बताया गया है और उसके उदित, विपुल, शान्त और सुप्रसन्न नामक चार भेद किये गये हैं। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (19/30–48) और शिवज्ञान के प्रसंग (20/1–7, 18–26) में इस विषय का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र ग्रन्थ ज्ञानार्णव के 36वें प्रकरण में रूपस्थ ध्यान वर्णित है। इसमें सर्वज्ञ वीतराग के ध्यान की विधि का निरूपण है। योगिनीहृदय (1/42) में वर्णित है कि रूप में जालन्धर पीठ का निवास है। दीपिकाकार ने रूप का अर्थ बिन्दु किया है और इसकी स्थिति भ्रूमध्य में बताई है। वहीं अन्यत्र (3/94) इसको विघ्नरूप माना है। इसीलिये 3/137 की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि रूप से मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान पर (पृ. 4) रूप का अर्थ वर्ण तथा अन्यत्र (पृ. 90) कलाविष्ट जीव किया है। यहीं (पृ. 53) यह भी बताया है कि इसके आठ भेद होते हैं। आणव उपाय के प्रसंग में भी इस शब्द की चर्चा आ चुकी है।

रूपातीत

मालिनीविजय (2/36–45) तथा तन्त्रालोक (10/227–287) में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत अवस्थाओं का निरूपण पिण्ड, पद, रूप, रूपातीत तथा महाप्रचय अथवा सततोदित अवस्था के रूप में किया गया है। यहां परा शक्ति को रूपातीत बताया है, जो कि क्रियाशील होते हुए भी निर्विकार मानी गई है। मालिनीविजय में कुलचक्र की व्याप्ति (19/30–48) और शिवज्ञान के प्रसंग (20/1–7, 18–26) में भी इस विषय का विवरण मिलता है। जैन तन्त्र ग्रन्थ ज्ञानार्णव के 37वें प्रकरण में रूपातीत ध्यानविधि वर्णित है। इसको वहां निष्कल ध्यान बताया गया है। योगिनीहृदय (1/42) में वर्णित है कि रूपातीत में ओड्याण पीठ की स्थिति है। दीपिकाकार ने रूपातीत का अर्थ चिन्मय दशा किया है और इसकी

स्थिति ब्रह्मरन्ध्र में बताई है। वहीं अन्यत्र (3/94) में ग्रन्थि रूप होने से इसको भी विघ्नरूप ही माना है। इसीलिये 3/137 की व्याख्या में अमृतानन्द द्वारा उद्धृत एक प्रामाणिक वचन में बताया गया है कि इससे मुक्त होने पर ही वास्तविक मुक्ति मिलती है। कौलज्ञाननिर्णय में एक स्थान पर (पृ. 4) रूपातीत का अर्थ लक्ष्य तथा अन्यत्र (पृ. 90) काष्ठ योगी किया है। वहीं (पृ. 53) यह भी बताया है कि इसके आठ भेद होते हैं।

रौद्री

सृष्ट विश्व का संहार करने के लिये जब शान्ता शक्ति पुनः अम्बिका शक्ति के साथ समरस होना चाहती है, तो वह लौटकर वहीं आ जाती है, जहां से कि वह गतिशील हुई थी। इस तरह से उसका शृंगार (त्रिकोण) आकार पूर्ण हो जाता है। यह रौद्री शक्ति का व्यापार है। क्रिया शक्ति से समरस होकर यह वैखरी वाणी के रूप में समस्त स्थूल बागात्मक प्रपंच की सृष्टि करती है (योगिनीहृदय, 1/39–40)।

लययोग

हठयोगप्रदीपिका के चतुर्थ उपदेश में लय योग का वर्णन मिलता है। वहां इस प्रकरण के प्रारंभ में ही बताया गया है कि राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमनस्क, लय, तत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमरत्व, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या – ये समस्त शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। लययोग के प्रसंग में वहां बताया गया है कि इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी प्राण वायु, प्राण वायु का स्वामी लय है और यह लय नाद पर आश्रित है। इस नाद के अनुसन्धान से ही वह लयावस्था प्राप्त होती है, जिसमें कि मन और प्राण का लय हो जाता है। नादानुसन्धान के माध्यम से मन और प्राण के लय का विधान करने वाली विधि ही लययोग के नाम से जानी जाती है। इससे प्राप्त होने वाली स्थिति को कोई मोक्ष कहे या न कहे, इसमें एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है। लययोग का मुख्य लक्षण यह है कि एक बार मन और प्राण के लीन हो जाने पर उसके बाद योगी के चित्त में वासनाओं की पुनः उत्पत्ति नहीं होती और इस प्रकार उसका सभी बाह्य विषयों से सम्पर्क छूट जाता है।

वह आत्माराम, जीवन्मुक्त हो जाता है। शाम्भवी मुद्रा में वह प्रतिष्ठित हो जाता है।

लिंग

लीन, अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के अगोचर चिद्रूप अर्थ का बोध कराने वाला तत्त्व लिंग कहा जाता है। मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के प्रतिरूप कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और ओड्याण पीठ इसलिये कहलाते हैं कि ये चिति के स्फुरण के आधार स्तम्भ हैं। चतुर्विध अन्तःकरण में उनकी वृत्तियों के समान उक्त चतुर्विध पीठों में स्वयंभू, बाण, इतर और पर नामक लिंगों की स्थिति मानी गई है (योगिनीहृदय, 1/44)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र प्रकरण में भी इन लिंगों की विभिन्न चक्रों में स्थिति प्रतिपादित है।

(क) इतर लिंग

बुद्ध्यात्मक पूर्णगिरि पीठ में बुद्धि की वृत्ति के प्रतिरूप इतर लिंग की स्थिति मानी गई है। यह शरत् पूर्णिमा के चन्द्र के समान कान्ति वाला है। कदम्ब के फल के समान इसकी गोल आकृति है। थकार से लेकर सकार पर्यन्त सोलह व्यंजनों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के वाम भाग में इसकी स्थिति मानी जाती है (योगिनीहृदय, 1/44–46)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र प्रकरण में इतर लिंग की स्थिति आज्ञा चक्र में मानी गई है।

(ख) पर लिंग

चित्तमय ओड्याण पीठ में चित्त की वृत्ति के प्रतिरूप पर लिंग की स्थिति मानी गई है। परतेजोमय इस लिंग का कोई वर्ण नहीं है। यह सूक्ष्म, अतीन्द्रिय और बिन्दुमय है। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त अक्षरों से यह आवृत है। इसमें परमानन्द पद की नित्य स्थिति रहती है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित ज्योतिर्बिन्दु में इसका निवास है (योगिनीहृदय, 1/47)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र प्रकरण में स्वाधिष्ठान चक्र में पर लिंग की स्थिति मानी गई है। वस्तुतः योगिनीहृदय के अनुसार सहस्रार चक्र में इसकी स्थिति मानी जानी चाहिये। सम्प्रदाय भेद से इस विरोध का परिहार करना चाहिये।

21—19 HRD/99

(ग) बाण लिंग

अहंकारात्मक जालन्धर पीठ में अहंकार की वृत्ति के प्रतिरूप बाण लिंग की स्थिति मानी गई है। यह बन्धूक पुष्प के समान रक्त वर्ण का है। इसकी आकृति त्रिकोणात्मक है। ककार से लेकर तकार पर्यन्त सोलह व्यजंनों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के दक्षिण भाग में इसकी स्थिति मानी गई है (योगिनीहृदय, 1/44–46)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र प्रकरण (6 प्रकाश) में अनाहत चक्र में बाण लिंग की स्थिति मानी गई है।

(घ) स्वयंभू लिंग

मनोमय कामरूप पीठ में मन की वृत्ति के प्रतिरूप स्वयंभू लिंग की स्थिति मानी गई है। यह सुवर्ण के समान पीत वर्ण है। यह तीन शिखर वाला है, अथवा तीन बिन्दुओं के कूट से इसका आकार बनता है। अकार आदि सोलह स्वरों से यह आवृत है। श्रीचक्र के मध्य में स्थित त्रिकोण के अग्र भाग में इसका निवास है (योगिनीहृदय, 1/44–46)। श्रीतत्त्वचिन्तामणि के षट्चक्र प्रकरण (6 प्रकाश) में मूलाधार चक्र में पश्चिमाभिमुख स्वयंभू लिंग की स्थिति बताई गई है।

लोपामुद्रा विद्या

लोपामुद्रा सन्तान और कामराज सन्तान के नाम से त्रिपुरा सम्प्रदाय के दो मुख्य विभाग हैं। लोपामुद्रा सन्तान की प्रवृत्ति अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा से मानी जाती है। लोपामुद्रा ने ही सर्वप्रथम इस विद्या को लोक में प्रवृत्त किया था। इसलिये उन्हीं के नाम से यह विद्या प्रसिद्ध हुई। हादिविद्या का अभिप्राय भगवती त्रिपुरसुन्दरी के उस मन्त्र से है, जिसका आरंभ हकार से होता है। दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ क्रम से यह विद्या आज भी लोफ में प्रवृत्त है। प्रपंचसार और सौन्दर्यलहरी में पहले हादिविद्या का ही उद्धार किया गया है। योगिनीहृदय में इसी विद्या की व्याख्या की गई है। ऋजुविमर्शिनी, अर्थरत्नावली, ज्ञानदीपविमर्शिनी, सौभाग्यसुधोदय प्रभृति ग्रन्थों में इस विद्या की दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ गुरु परम्परा सुरक्षित है। तदनुसार दिव्यौघ क्रम में चर्यानाथ, ओड्डनाथ, षष्ठिनाथ और

मित्रीशनाथ के नाम आते हैं। सिद्धौघ क्रम में लोपामुद्रा, अगस्त्य, कंकालतापस, धर्माचार्य, मुक्तकेशिनी और दीपकाचार्य हैं। इनमें धर्माचार्य लघुस्तव के तथा दीपकनाथ त्रिपुरसुन्दरी–दण्डक के रचयिता है।। मानवौघ परम्परा में जिष्णुदेव, मातृगुप्तदेव, तेजोदेव, मनोजदेव, कल्याणदेव, रत्नदेव और वासुदेव के नाम उल्लिखित हैं। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द वासुदेव के शिष्य थे। कामकलाविलासकार पुण्यानन्द और उनके शिष्य योगिनीहृदयदीपिकाकार योगी अमृतानन्द भी इसी विद्या परम्परा के प्रमुख आचार्य थे। इस विषय की अधिक जानकारी के लिये ''सारस्वती सुषमा'' (व. 20, अ.2, पृ. 13–26) में प्रकाशित 'त्रिपुरादर्शनस्यापरिचिता आचार्याः कृतयश्च' शीर्षक निबन्ध देखना चाहिये।

वह्नि

विज्ञानभैरव के 67वें श्लोक में वह्नि और विष शब्दों की चर्चा आई है। यहां वह्नि का अधःकुण्डलिनी से संबन्ध है और विष का ऊर्ध्व कुण्डलिनी से। अधःकुण्डलिनी में प्रवेश (आवेश) संकोच अथवा वह्नि कहलाता है और ऊर्ध्व कुण्डलिनी में प्रवेश विकास अथवा विष कहलाता है। वह्नि का प्राण से संबंध है और विष का अपान से। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है और अधःकुण्डलिनी अथवा मूलाधार तक जाता है, तब इस दशा को वह्नि कहते हैं। अधःकुण्डलिनी के मूल और आधे मध्य तक में प्रवेश वह्नि अथवा संकोच कहलाता है। वह्नि शब्द वह् धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है – उठाकर ले जाना। अग्नि को वह्नि इसलिये कहा जाता है कि यह जो कुछ उसमें हवन किया जाता है, उसे देवों तक उठाकर ले जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में वह प्राण को मूलाधार तक उठाकर ले जाता है। इससे जीव का स्वरूप संकुचित हो जाता है। वह्नि शब्द इसी दशा का बोधक है।

योगशास्त्र में मानव शरीर स्थित आधारों की चर्चा आई है। इनमें से लिंग के ऊपर नाभि से चार अंगुल नीचे वह्नि नामक आधार की स्थिति मानी गई है। नित्याषोडशिकार्णव (5/1) और तन्त्रालोक (3/165–170) में काम तत्त्व के रूप में इसका वर्णन किया गया है। गोरक्षनाथ कृत अमरौघशासन (पृ. 8–9) में भी यह विषय चर्चित है।

वामा

शान्ता शक्ति जब अम्बिका शक्ति में बीजभाव से अवस्थित जगत् को स्पष्ट भासित करने को उद्यत होती है, तो वह वामा कहलाती है। विश्व का वमन करने से और इसकी गति कुटिल होने से भी इसको वामा कहा जाता है। इसकी कुटिल गति के कारण ही श्रृंगाट (त्रिकोण) की वाम रेखा बनती है। यही वामा शक्ति इच्छा शक्ति से संवलित होकर पश्यन्ती के रूप में अभिव्यक्त होती है (योगिनीहृदय, 1/37–38)।

विकल्प

तान्त्रिक दर्शन में बाह्य नील–पीत (घट–पट) आदि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी पदार्थ विकल्प स्वरूप माने गये हैं। अहं परामर्श दो प्रकार का होता है – शुद्ध और मायीय। इनमें से शुद्ध परामर्श विश्व से अभिन्न रूप में विद्यमान संवित्त्मात्र में अथवा विश्व की छाया से असंस्पृष्ट स्वच्छ आत्मा में होता है। मायीय अथवा अशुद्ध परामर्श वैद्यस्वरूप देह, बुद्धि, प्राण, शून्य आदि को अपना आलम्बन बनाता है, अर्थात् इन्हीं को अपना स्वरूप मान लेता है। इनमें से शुद्ध परामर्श में किसी प्रतियोगी (विरोधी) पदार्थ की सत्ता न रहने से कोई भी अपोहनीय (त्याज्य) नहीं है। घट प्रभृति बाह्य पदार्थ भी इस प्रकाशस्वरूप परमतत्त्व से ही अपना अस्तित्व बनाते हैं, अतः वे उससे अभिन्न ही हैं, उसके विरोधी नहीं। इस अवस्था में जब कोई स्थिति अपोहनीय नहीं है, तो वह विकल्प कैसे हो सकती है? इसके विपरीत अशुद्ध (मायीय) परामर्श से वैद्यरूप शरीर प्रभृति में उससे भिन्न देह आदि का और घट प्रभृति का भी व्यपोहन (व्यवच्छेद=भेद) विद्यमान है। इसी भेद दशा की प्रतीति को विकल्प के नाम से जाना जाता है। बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद में भी विज्ञान अथवा शून्य के अतिरिक्त सभी जागतिक पदार्थ विकल्प स्वरूप ही माने गये हैं।

विद्या (महा) (10 महाविद्या)

उपनिषदों में नाचिकेतसी विद्या आदि पदों से उन–उन ऋषियों के द्वारा किये गये आत्मविद्या संबन्धी व्याख्यानों को विद्या के नाम से जाना जाता है। बाल्मीकि रामायण में भी बला और अतिबला विद्याओं का उल्लेख

मिलता है, किन्तु तन्त्रशास्त्र में पुरुष देवताओं के मन्त्रों के लिये मनु शब्द का और स्त्री देवताओं के मन्त्रों के लिये विद्या शब्द का प्रयोग किया गया है। शाक्त तन्त्रों में दस महाविद्या के नाम से काली, तारा, षोडशी (सुन्दरी–त्रिपुरा), भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी और कमला, ये देवियां प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः मन्त्र या विद्या ही देवता का स्वरूप है, इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त दस विद्याओं की विशिष्टता के आधार पर इनको महाविद्या कहा गया है। ये शाक्तों की उपास्य विशिष्ट शक्तियां हैं। इन शक्तियों की उपासना करने वाले ही वस्तुतः शाक्त कहे जाते हैं। शक्तिसंगम प्रभृति तन्त्र ग्रन्थों में इन महाविद्याओं के मूल स्थान, जयन्ती आदि का तथा किस क्रम, मत या मार्ग से किस महाविद्या की उपासना की जाए, इत्यादि विषयों का विस्तृत वर्णन मिलता है। शाक्त प्रमोद नामक ग्रन्थ में भी इन महाविद्याओं की उपासना विधि संगृहीत है।

इन दस महाविद्याओं में काली, तारा और त्रिपुरा की उपासना का विशेष प्रचार है। काश्मीर और केरल में कभी क्रम दर्शन की पद्धति से काली की उपासना की जाती थी। आजकल काली की उपासना बंगाल में प्रचलित है, किन्तु उसका आधार क्रम दर्शन नहीं है। तारा की उपासना बौद्ध और शाक्त उभय सम्प्रदाय में अपनी–अपनी पद्धति से प्रचलित है। सम्प्रति तारा की उपासना मिथिला में तथा उग्रतारा की उपासना असम राज्य में होती है। त्रिपुरा की उपासना काश्मीर, केरल और गौड पद्धति के अनुसार आज भी पूरे देश में व्याप्त है। काली, तारा और त्रिपुरा सम्प्रदाय का विपुल वाङ्मय आज भी उपलब्ध है।

विशुद्धि चक्र

अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठ में धूम के समान धूसर वर्ण का विशुद्धि चक्र स्थित है। इसको विशुद्धि चक्र इसलिये कहा जाता है कि यह जीव को विशुद्ध बनाता है। जीव इस चक्र में हंस मन्त्र (अजपा गायत्री) का साक्षात्कार कर सकता है। यह आकाश तत्त्व का प्रतीक है। यह षोडशदल कमल है। इन पद्मों में रक्त वर्ण अकारादि विसर्गान्त षोडश स्वरों की स्थिति मानी जाती है। इस कमल की कर्णिका में पूर्ण चन्द्र की कान्ति से भासुर वृत्ताकार नभोमण्डल है। इसमें आकाश बीज हं का ध्यान किया जाता

है। इस बीज के चार हाथ पाश, अभय, अंकुश और वरद मुद्रा से अलंकृत है और यह श्वेत वर्ण के हाथी पर आरूढ़ है। सदाशिव इसके देवता हैं और शक्ति का नाम है शाकिनी। इस चक्र की साधना से साधक के लिये मोक्ष का द्वार उन्मुक्त हो जाता है (षट्चक्र–निरूपण, 6 पृ., श्रीतत्वचिन्तामणि)।

विश्वाहन्ता

तान्त्रिक दर्शन इस विश्व को अलीक या माया का खेल नहीं मानता। उनकी दृष्टि से यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना कि प्रत्येक दर्शन का अपना परम तत्त्व होता है। सब कुछ परम तत्त्वमय है, उसकी शक्तियों का विलास है। परमतत्त्व अपनी कुछ शक्तियों को समेट कर परिमित प्रमाता बन जाता है और पुनः वही अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपरिमित प्रमाता, पूर्ण प्रमाता हो जाता है। परिमित प्रमाता जीव और अपरिमित प्रमाता परम तत्व (शिव या शक्ति) है। अज्ञ जीव की अहन्ता (अपनापन) अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु वह भी अपनी इस अहन्ता का विस्तार पुत्र–कलत्र, बन्धु–बान्धव, राष्ट्र आदि तक कर लेता है। इसी पद्धति से सारे विश्व के साथ अपनी अहन्ता का विस्तार कर लेना ही विश्वाहन्ता कही जाती है। इस विश्वाहन्ता का प्रतिपादन आगम और तन्त्र ग्रन्थों में, विशेषकर कश्मीर और केरल में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। जीव और शिव ये दो भिन्न तत्त्व नहीं है। जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। जीव जब जान जाता है कि मैं ही शिव हूं तो उसको यह सारा विश्व शिवस्वरूप ही नजर आता है और इस तरह से वह सारे विश्व को अहन्ता से ओत–प्रोत पाता है। यही स्थिति शास्त्रों में विश्वाहन्ता के नाम से कही गई है। इस विषय के विशेष अध्ययन के लिये विरूपाक्षपंचाशिका, विज्ञानभैरव, महार्थमंजरी, योगवासिष्ठ प्रभृति ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये।

विष

विज्ञानभैरव के 67वें श्लोक में वह्नि और विष शब्दों की चर्चा आई है। यहां वह्नि का अधःकुण्डलिनी से और विष का ऊर्ध्व कुण्डलिनी से संबंध है। अधःकुण्डलिनी में प्रवेश (आवेश) संकोच अथवा वह्नि कहलाता है और

ऊर्ध्व कुण्डलिनी में प्रवेश विकास अथवा विष कहलाता है। वह्नि का प्राण से संबंध है और विष का अपान है। अधःकुण्डलिनी के मध्य के शेष भाग और उसके पूर्ण अग्र भाग से लेकर ऊर्ध्वकुण्डलिनी तक में आवेश अथवा प्रवेश विष कहलाता है। इस प्रसंग में विष शब्द का अर्थ जहर नहीं है। विष शब्द विष्लृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है — व्याप्त होना, फैल जाना। तदनुसार विष का अर्थ है प्रसरण अथवा विकास। जहर को विष इसीलिये कहते हैं कि वह सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में वह अपान को द्वादशान्त तक ले जाता है, अर्थात् उसको सारे शरीर में फैला देता है। इससे जीवभाव का विकास होता है। विष शब्द इसी दशा का बोधक है।

योगशास्त्र में मानव शरीर स्थित आधारों की चर्चा आई है। इनमें से विष नामक आधार की स्थिति लिंग के मध्य में मानी जाती है। योगिनीहृदय (1/25) में इसके लिये विषु शब्द प्रयुक्त हुआ है। नित्याषोडशिकार्णव (5/1) और तन्त्रालोक (3/165–170) में विष तत्त्व के रूप में इसका वर्णन मिलता है। गोरक्षनाथ कृत अपरौघशासन (पृ. 8–9) में भी यह विषय चर्चित है।

विषुवसप्तक

योगिनीहृदय (3/176–177) में बताया गया है कि मन्त्र के जप के समय शून्यषट्क, अवस्थापंचक और विषुवसप्तक की भावना करनी चाहिये। प्राण–विषुव, मन्त्र–विषुव, नाडी–विषुव, प्रशान्त–विषुव, शक्ति–विषुव, काल–विषुव और तत्त्व–विषुव — ये सात प्रकार के विषुव हैं। योगिनीहृदय (3/182–189) में ही वर्णित है कि प्राण, आत्मा तथा मन के परस्पर योग को प्राण–विषुव कहते हैं। अभिव्यज्यमान नाद को निज आत्मा समझकर उसकी भावना करना मन्त्र–विषुव है। मूल मन्त्र के द्वारा छः चक्र तथा द्वादश ग्रन्थियों के क्रमशः भेद होने पर मध्य नाडी में नाद का स्पर्श होता है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त बीजशिखरवर्ती नाद के उच्चरित होने पर नाडी–विषुव की निष्पत्ति होती है। शक्ति में नादान्त पर्यन्त मन्त्र के अवयवों की लय–भावना प्रशान्त–विषुव कहलाती है। शक्तिमध्यगत नाद के समना पर्यन्त चिन्तन को शक्ति–विषुव कहा जाता है। उन्मना पर्यन्त नाद के चिन्तन

को काल–विषुव कहते हैं। काल–विषुव के बाद तत्त्व–विषुव की स्थिति है। उन्मना के ऊपर उन्मना के भेद के साथ–साथ नाद का भी लय हो जाता है। तभी तत्त्वबोध अर्थात् स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार हो पाता है। इसलिये तत्त्व–विषुव को ही चैतन्य की अभिव्यक्ति का स्थान माना जाता है। यह परम पद नैसर्गिक आनन्द से परिपूर्ण है। यही परम शिव की स्वाभाविक अवस्था है।

वृन्दचक्र

वृन्द (सन्दोह), अर्थात् समूहात्मक चक्र को वृन्दचक्र कहा जाता है। यह पहले ज्ञानसिद्ध, मन्त्रसिद्ध, मैलापसिद्ध, शाक्तसिद्ध और शाम्भवसिद्ध के भेद से पांच प्रकार का और पुनः 64 प्रकार का होता है। इनमें से ज्ञानसिद्ध के सोलह, मन्त्रसिद्ध के चौबीस, मैलापसिद्ध के बारह, शाक्तसिद्ध के आठ और शाम्भवसिद्ध के चार भेद होते हैं। सब मिलाकर इनकी संख्या 64 हो जाती है। 65वीं कालसंकर्षिणी शक्ति इन सममें अनुस्यूत होकर रहती है। सभी प्राणियों का मंगल करने वाली यह शक्ति भगवती महाराज्ञी मंगला के नाम से भी प्रसिद्ध है।

यह वृन्दचक्र धाम, मुद्रा, वर्ण, कला, संवित्, भाव, पात और अनिकेत के भेद से अष्टधा स्फुरित होता है। ज्ञानसिद्ध प्रभृति की क्रमशः कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य नामक धामों में स्थिति मानी जाती है। करंकिणी, क्रोधनी, भैरवी, लेलिहाना और खेचरी क्रमशः इनकी मुद्राएं हैं। विज्ञानभैरव के 77–81 श्लोकों में इनका लक्षण बताया गया है। ज्ञानसिद्ध षोडश स्वर्मय और मन्त्रसिद्ध ककार से लेकर मकार पर्यन्त व्यंजनमय है। स्वर और व्यंजनों से मिली बारह मात्राएं अथवा प्रणव की कलाएं मैलापसिद्ध हैं। यकार से लेकर हकार पर्यन्त आठ व्यंजन शाक्तसिद्ध और आद्य वर्ण अकार की अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री नामक चार कलाएं शाम्भवसिद्ध कहलाती हैं। रौद्री, वामा, अम्बिका, ज्येष्ठा और इन सबकी समष्टि पंचमी शक्ति क्रमशः उक्त ज्ञानंसिद्ध प्रभृति की कलाएं हैं। आलोचन, परामर्श, स्वात्मविश्रांति, वासनाशान्ति और स्वात्मसंविन्मात्रता ये पांच संवित् के स्वरूप उक्त ज्ञानसिद्ध प्रभृति में रहते हैं। भाव का अर्थ है स्वभाव।

ज्ञानसिद्ध प्रभृतिं क्रमशः प्रमेय, प्रमाता, प्रमाण, शुद्धप्रमाता और परमशिव स्वभाव के माने गये हैं। शाम्भवसिद्ध प्रभृति में वामेश्वरी प्रभृति पांच शक्तियों की अथवा ज्ञानसिद्ध प्रभृति में सृष्टि प्रभृति कृत्यपंचक की स्थिति को पात कहते हैं। पात क्रम से विपरीत सभी विकल्पात्मक क्षोभों के शान्त हो जाने पर नामरूपातीत स्वरूपरूप में प्रतिष्ठा ही अनिकेत है। इन्हीं आठ रूपों में वृन्दचक्र की उपासना की जाती है। इस वृन्दचक्र को सूक्ष्म पीठ कहा गया है। इस वृन्दचक्र की नायिका कालसंकर्षिणी अथवा भगवती मंगला शक्ति है। गुरुपंक्ति में सर्वप्रथम इनकी उपासना विहित है (महार्थमंजरी, पृ. 89–95)।

वैखरी

शब्दब्रह्म संस्कृत पवन से प्रेरित होकर कण्ठ प्रभृति स्थानों में अभिव्यक्त होकर अकार आदि वर्णों के रूप में कान से स्पष्ट सुनाई पड़ने लगता है, तो वह बीज के रूप में प्रकाशित होता है। इसी को वैखरी वाक् कहते हैं। सामान्य व्यक्ति मातृका के किसी वर्ण को सुनता है, तो उसको केवल वैखरी वाणी का ही बोध होता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाक् से इसकी क्रमशः कैसे अभिव्यक्ति हुई, इस बात को वह समझ नहीं पाता। स्थान, करण, प्रयत्न प्रभृति से अभिहत पवन से इसकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिये इसका नाम हत है। वै अर्थात् निश्चय ही स्पष्टतर रूप से, ख अर्थात् कर्णविवरवर्ती आकाश रूप श्रोत्रेन्द्रिय में यह पहुंचती है (राति), अतः इसको वैखरी कहते हैं। योगिनीहृदय (1/40) में इसको रौद्री शक्ति कहा गया है।

शक्तित्रितय

इच्छा–ज्ञान–क्रियात्मक, मातृ–मान–मैयात्मक अथवा वामा–ज्येष्ठा–रौद्रयात्मक शक्तित्रय का प्रतिपादन त्रिपुरा प्रभृति सम्प्रदायों के ग्रन्थों में मिलता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रधानतया शक्ति के परा, परापरा और अपरा नामक तीन भेद माने जाते हैं। तन्त्रालोक, विज्ञानभैरव प्रभृति ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णनं मिलता है। तन्त्रालोक (1/5) में बताया गया है कि स्वातन्त्र्य शक्ति को ही परा कहा जाता है। वही जब क्रम की सृष्टि करना

चाहती है तो परापरा और क्रम रूप होकर अपरा कहलाती है। इसका अभिप्राय यह है कि स्वातन्त्र्य शक्ति, क्रमसंसिसृक्षा और क्रमात्मता के रूप में विद्यमान शिव, शक्ति और नरात्मक भगवान की विभूतियां ही उक्त त्रिविध रूपों में भासित होती हैं। इनमें परा देवी का स्वरूप निष्कल, परापरा का निष्कल–सकल और अपरा का स्वरूप सकल माना जाता है।

शक्तिपात

साधक या शिष्य पर ईश्वर या गुरु की कृपा को शक्तिपात कहा जाता है। शैव, शाक्त और वैष्णव आगमों का यह एक पारिभाषिक शब्द है। पंचकृत्यकारी (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह) प्रभु की अनुग्रह शक्ति का यह व्यापार है। ईश्वर या गुरु अपनी शक्ति का संचार साधक या शिष्य के हृदय में कर देता है, जिससे कि उसकी बुद्धि निर्मल होकर विवेकोन्मुख हो उठती है, स्वात्मस्वरूप की खोज में लग जाती है। अभिनवगुप्त ने शक्तिपात के लक्षण, भेद आदि के संबंध में मत–मतान्तरों की आलोचना करते हुए अपने विशाल ग्रन्थ तन्त्रालोक के तेरहवें आह्निक (भा. 8, पृ. 1–214) में विस्तार से विचार किया है।

शब्दब्रह्म

कारण बिन्दु जब कार्य बिन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति के लिये उन्मुख होकर टूटता है, तो उस दशा में अव्यक्त, शब्दब्रहम नाम का रव उत्पन्न होता है (प्र.सा. 1/44)। इस रव का कारण बिन्दु से तादात्म्य रहता है, इसलिये यह सर्वगत है, तो भी इसकी अभिव्यक्ति मूलाधार में ही होती है। सभी प्राणियों में निवास करने वाला चैतन्य ही यहां शब्दब्रहम के नाम से जाना गया है। यह प्राणियों के शरीर में कुण्डलिनी का रूप धारण करके रहता है और परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से वर्ण रूप में अभिव्यक्त होता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिये व्यंजक के प्रयत्न से संस्कृत पवन की आवश्यकता पड़ती है। कारण बिन्दु का यह अभिव्यक्त स्वरूप शब्दब्रह्म कहलाता है और मूलाधार में निस्पन्दावस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इस शब्दब्रह्ममयी कुण्डलिनी से ही 42 अक्षरों वाली भूतलिपि, 50 या 51 अक्षरों वाली मातृका की उत्पत्ति होती है और यही

शक्ति, ध्वनि तथा नाद की भी जननी है। शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी से होती है।

शाक्त उपाय

सत्तर्क, सदागम और सद्गुरु की सहायता से जब साधक उच्चार, करण प्रभृति विकल्प व्यापारों का शोधन कर लेता है, अर्थात् इन सब में स्वात्मस्वरूप का ही दर्शन करने लगता है, तो उसके चित्त में विश्वाहन्ता का विकास होता है। वह जान जाता है कि यह सारा विश्व मेरा ही स्वरूप है, मेरा शुद्ध स्वात्मस्वरूप तो इससे भी परे है। इस तरह सार्वातम्य भावना के सहारे साधक के चित्त में शुद्ध विकल्पों की सृष्टि होने लगती है, अर्थात् वह सभी जागतिक पदार्थों को अपने शुद्ध स्वरूप से पृथक् नहीं देखता, उन सबमें अपने शुद्ध स्वरूप की ही भावना करता है।

शान्ता

प्रकाश और विमर्श स्वभाव शिव और शक्ति के सामरस्य से ही शब्द और अर्थ स्वरूप षडध्वात्मक जगत् की सृष्टि होती है। प्रकाशस्वभाव शिव शान्ता, इच्छा, ज्ञाना और क्रिया के रूप में परिणत होकर अर्थात्मक जगत् की और विमर्श स्वभाव शक्ति अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री रूप में परिणत होकर बागात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं (योगिनीहृदयदीपिका, पृ. 55—57)। इस तरह से शान्ता इच्छा से भी ऊपर ठहरी हुई पारमेश्वरी शक्ति को कहते हैं।

शाम्भव उपाय

यह सारा जगत् शिवमय है। यह जगत् बोधगगन में उसी प्रकार प्रकाशित हो रहा है, जैसे कि दर्पण में मुंह का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है और जो किसी दूसरे पदार्थ में संक्रान्त होकर ही प्रकाशित होता है, उसे प्रतिबिम्ब कहते हैं (तन्त्रासार पृ. 10, तन्त्रालोक 3/53)। जैसे कि दर्पण आदि में दिखाई पड़नेवाली प्रतिकृति की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। दर्पण आदि में संक्रान्त होने पर ही वह दिखाई पड़ती है। बिम्ब की तो स्वतंत्र सत्ता होती है। यह बिना किसी की सहायता

के प्रकाशित होता है। जैसे कि मुख स्वयं भासित होता है। इसको प्रकाशित करने के लिये दर्पण जैसे पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह विश्व दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरी के समान शिवमय दर्पण में भासित हो रहा है। यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि दर्पण में भासित हो रहा प्रतिबिम्ब (मुख की प्रतिकृति) बिना बिम्ब (मुख) के प्रकाशित नहीं होता। इसी तरह से दर्पणस्थानीय शिव में प्रकाशित हो रहे प्रतिबिम्बस्थानीय इस जगत् के बिम्ब की भी सत्ता होनी चाहिये। आप यह बताइये कि वह बिम्बस्थानीय पदार्थ क्या है? शास्त्रकारों ने इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है कि वस्तु के स्वभाव के संबंध में प्रश्न करना व्यर्थ है। अग्नि गर्म होती है। पानी ठंडा होता है। यह इनका स्वभाव है। इस तरह से शिव का यह स्वभाव है कि वह अपने में ही अपने विज्ञानमय स्वरूप को जगत् के रूप में भासित होने देता है। ईश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का यह सारा खेल है कि शिवमय दर्पण में बिना बिम्ब की सत्ता के भी यह जगत् रूपी प्रतिबिम्ब भासित होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर शिव के निर्विकल्प स्वरूप के अतिरिक्त इस जगत् की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इस निर्विकल्प शून्य स्थिति में अपने चित्त को समाहित करने का प्रयास ही शाम्भव उपाय है।

शून्य

शून्य तत्त्व परमार्थतः अभावात्मक नहीं है। किन्तु सभी आलम्बन धर्मों से, सभी तत्त्वों से और सभी क्लेशाशयों से शून्य पदार्थ को ही शून्य कहा गया है। इस तरह से किसी अवर्णनीय, अविज्ञेय अवस्था (स्वातन्त्र्य शक्ति) को ही शाक्त और शैव मत में शून्यता माना गया है। इसका विवेचन विज्ञान भैरव के 124वें श्लोक की व्याख्या में और विमर्शदीपिका के 131वें श्लोक की व्याख्या में चन्द्रज्ञान नामक ग्रन्थ के प्रमाण पर विस्तार से किया गया है।

शाक्त और शैव मत में तथा सन्त साहित्य में शून्य और शून्यातिशून्य (महाशून्य) शब्दों का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। आणव उपाय और मध्यनाडी सुषुम्ना के प्रसंग में आये इन शब्दों की व्याख्या पहले की

जा चुकी है। स्वच्छन्दतन्त्र (7/57) की टीका में क्षेमराज ने शून्य को माया का और शून्यातिशून्य को महामाया का बोधक माना है। समना पर्यन्त अर्धमात्रा की स्थिति शून्य में और उन्मना की स्थिति शून्यातिशून्य पदवी में मानी गई है। मध्यधाम सुषुम्ना और शिवतत्त्व के अर्थ में भी क्रमशः शून्य और शून्यातिशून्य शब्दों का प्रयोग मिलता है। मध्यनाडी के भीतर चिदाकाश रूप शून्य का निवास माना गया है। शून्यातिशून्य के उच्चारण का तात्पर्य उन्मता पर्यन्त पिण्ड मन्त्र के उच्चारण के अभ्यास से है। उन्मना की स्थिति शून्यावस्था में मानी गई है और उसको 'शून्या' कहा गया है।

शून्यषट्क

स्वच्छन्दतन्त्र (4/289--296) और योगिनीहृदय (3/177–178) में शून्यषट्क का विवरण मिलता है। दीपिकाकार योगी अमृतानन्द ने बताया है कि छः शून्यों का स्वरूप विज्ञानभैरव के 32वें श्लोक से जानना चाहिये। स्वच्छन्दतन्त्र में पहले ऊर्ध्व शून्य, अधःशून्य और मध्य शून्य नामक तीन शून्य प्रतिपादित हैं। विज्ञानभैरव के 44वें श्लोक की टीका में उद्धृत वासुदेव के वचन में भी ये ही तीन शून्य गिनाये गये हैं। क्षेमराज ने नादान्त पर्यन्त समस्त पाशों के क्षय के कारणभूत शक्ति पद को ऊर्ध्व शून्य, हृदय को अधः शून्य और कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र को मध्य शून्य माना है। व्यापिनी में चतुर्थ, समना में पंचम और उन्मना में षठ शून्य की स्थिति मानी गई है। ये सभी शून्य सामय (सहेतुक) माने गये हैं। इनका परित्याग कर सप्तम शून्य में लीन होने का साधक को प्रयत्न करना चाहिये। यह सप्तम शून्य परम सूक्ष्म है, सभी अवस्थाओं से अतीत है। वस्तुतः यह चिदानन्दघन परमशिव तत्त्व शून्य नहीं है, तो भी इसको शून्य कह दिया जाता है। शून्य अभावात्मक होता है। इस शिवतत्त्व को शून्य इसलिये कहा जाता है कि यहां आकर सभी जागतिक पदार्थों का क्षय (अभाव) हो जाता है। इस तरह से अभावात्मक शून्यों की संख्या छः ही है। यह सप्तम शून्य अभावात्मक नहीं है। अतः इसके कारण अभावात्मक शून्यों की संख्या में वृद्धि न होने से शास्त्रों में छः ही शून्य माने गये हैं।

श्रृंगाट

त्रिपुरा दर्शन में त्रिकोण को श्रृंगाट कहा गया है। मूलाधार गत चतुर्दल

पद्म के मध्य में स्थित त्रिकोण में कुल शक्ति का आसन है। इसको श्रृंगाट पीठ कहा जाता है। श्रृंगाट (सिंघाड़ा) फल का आकार त्रिकोणात्मक है। अतः इस दर्शन में प्रायः त्रिकोण के स्थान में श्रृंगाट पद का ही प्रयोग हुआ है। श्रृंगाट के मध्य भाग में वामा प्रभृति और इच्छा प्रभृति पांच–पांच शक्तियों को अपने में समेटे हुए नाम और रूप से रहित बिन्दु तत्त्व की स्थिति मानी जाती है। इसी को बीज भी कहते हैं। इसमें विमर्श शक्ति विराजमान है। स्वेच्छा से इसमें स्पन्दन होता है। बीज से अंकुर के समान इसमें से एक सूक्ष्म रेखा निकलती है। तिरछी होकर यह बिन्दु के दक्षिण भाग से ईशान कोण तक जाती हैं। इसको वामा शक्ति कहते हैं। ईशान कोण से चलकर यह रेखा आग्नेय कोण तंक सीधी आती है। इस रेखा को ज्येष्ठा शक्ति कहते हैं। आग्नेय कोण से तिरछी चलकर यह रेखा प्रथम रेखा से मिल जाती है। इसको रौद्री शक्ति कहते हैं। इस तरह से श्रृंगाट का आकार पूरा हो जाता है। श्रृंगाट के मध्य भाग में स्थित बिंदु अंबिका शक्ति का प्रतीक है। श्रृंगाट की उक्त तीन रेखाओं के अधिपति ओड्डनाथ, षष्ठनाथ और मित्रनाथ हैं। श्रृंगाट के मध्य स्थित बिन्दु में प्रकाश विमर्शात्मक कामेश्वर और कामेश्वरी युगल भाव में अवस्थित हैं। इसके अधिपति चर्यानाथ हैं। इसके अग्र कोण में कामेश्वरी (कामाख्या) की, दक्षिण में वज्रेश्वरी की, वाम भाग में भगमालिनी की और मध्य बिन्दु में भगवती त्रिपुर सुन्दरी की पूजा की जाती है। इस श्रृंगाट पीठ की पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाओं में क्रमशः बाण, धनुष, पाश और अंकुश नामक चार आयुधों की पूजा होती है।

श्रीचक्र

विमर्शरूपिणी परा शक्ति प्रकाशस्वरूप परम शिव के साथ सदा अभिन्न रूप में अवस्थित है। महाशक्ति त्रिपुरा जब स्वेच्छा से अपनी स्फुरता को देखना चाहती है, तब श्रीचक्र के रूप में इस सृष्टि का उदय होता है। कामकला के प्रसंग में काम (रवि) बिन्दु और अग्नीषोमात्मक बिन्दुद्वय की चर्चा आई है। कामबिन्दु शून्याकार तथा बिन्दुद्वय विसर्गाकार है। इस बिन्दु और विसर्ग में लीलाभाव के जग जाने पर इन तीनों बिन्दुओं में स्फुरता की लहरी उठने लगती है, उनमें स्पन्दन होने लगता है और परस्पर एक दूसरे की ओर ये बहने लगती हैं। बहकर ये एकाकार हो जाती हैं, त्रिकोण

का रूप धारण कर लेती है। इसी को बिन्दु और विसर्ग की लीला कहा जाता है।

इस त्रिकोण के मध्य में कामेश्वर और कामेश्वरी की सामरस्यावस्था के द्योतक महाबिन्दु की स्थिति मानी जाती है। यह महाबिन्दु परा वाणी का भी प्रतीक माना गया है। बिन्दुओं के प्रस्यन्द से बने त्रिकोण में पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी की भावना की जाती है। इस त्रिकोण की स्वाभिमुखाग्र और पराङ्मुखाग्र के भेद से द्विविध स्थिति मानी जाती है। स्वाभिमुखाग्र स्थिति शक्ति के नाम से और पराङ्मुखाग्र स्थिति अग्नि अथवा शिव के नाम से अभिहित है। शक्तिचक्र सृष्टि के और शिवचक्र संहार के प्रतीक हैं। पूर्वोक्त त्रिकोण के साथ जब शक्ति और शिव की सृष्टि और संहार की यह लीला जुड़ जाती है, तो नवयोनिचक्र की निष्पत्ति होती है। इसी को वसुकोण या अष्टकोण भी कहते हैं। बिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोणचक्र को अम्बिका शक्ति का विस्तार माना जाता है। इसकी नौ योनियां धर्म, अधर्म, आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, माता, मान और मेय की प्रतीक हैं और इसके आठ कोनों पर 16 स्वरों को अंकित किया जाता है।

पूर्वोक्त सृष्टि और संहार की प्रक्रिया से जब शक्ति और वह्नि त्रिकोणों का विकास होता है, तो प्रथम दशार और द्वितीय दशार, अर्थात् अन्तर्दशार और बहिर्दशार चक्रों की निष्पत्ति होती है। इनमें से अन्तर्दशार पंच महाभूतों और पंच तन्मात्राओं का तथा बहिर्दशार कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के दस विषयों का प्रतीक है। अन्तर्दशार में मकार से लेकर क्षकार पर्यन्त और बहिर्दशार में ककार से लेकर भकार पर्यन्त दस–दस अक्षरों का विन्यास किया जाता है। इन वैन्दव प्रभृति चक्रों का जब पुनः विकास होता है, तो चतुर्दशार चक्र निष्पन्न होता है। यह मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त का तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रतीक है। इसमें टकार से लेकर मकार पर्यन्त 14 वर्णों का विन्यास किया जाता है।

प्रथम और द्वितीय दशार तथा चुतर्दशार चक्र रौद्री शक्ति का विस्तार है। पांच शक्ति चक्रों और चार शिवचक्रों से निष्पन्न श्रीचक्र का मुख्य स्वरूप यहां परिपूर्ण हो जाता है।

किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि अब तक श्रीचक्र के छः ही चक्र निष्पन्न हुए हैं। तीन चक्र अभी बाकी हैं। अतः अब तक परिनिष्पन्न चक्र को ज्येष्ठा शक्ति के प्रतीक चतुष्कोण, अर्थात् चतुरस्त्र चक्र तथा वामा शक्ति की प्रतीक तीन रेखाओं से, जिसमें कि अष्टदल और षोडशदल चक्रों की स्थिति भी मानी जाती है, अलंकृत किया जाता है। इस प्रकार यह नवचक्रात्मक श्रीचक्र परिपूर्ण होता है। इनमें से महाबिन्दु और त्रिकोण चिदंशात्मक; अष्टकोण शान्त्यतीतकलात्मक अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार शान्तिकलात्मक, अष्टदल विद्याकलात्मक, षोडशदल प्रतिष्ठाकलात्मक तथा चतुष्कोण चक्र निवृत्तिकलात्मक माना गया है।

इन त्रैलोक्यमोहन प्रभृति नौ चक्रों में क्रमशः नाद, बिन्दु, कला, ज्येष्ठा, रौद्री, वामा, विषघ्नी, दूतरी और सर्वानन्दा नामक नौ शक्तियों का निवास है। इनमें से नाद और बिन्दु शान्ता शक्ति के स्वरूप हैं। कला इच्छा शक्ति का, ज्येष्ठा ज्ञाना शक्ति का तथा रौद्री प्रभृति शक्तियां क्रिया शक्ति का विस्तार है। कामकला से विकसित श्रीचक्र का विस्तार यहां आकर पूरा होता है। चतुरस्त्र से लेकर महाबिन्दु पर्यन्त चक्रों के नाम क्रमशः त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिमय और सर्वानन्दात्मक हैं। इन नौ चक्रों की समष्टि को ही त्रिपुराचक्र, महाचक्र तथा श्रीचक्र के नाम से अभिहित किया जाता है। योगिनीहृदय, नित्याषोडशिकार्णव प्रभृति त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में विविध रूपों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

षडंग योग

अनुपाय शब्द की व्याख्या में बताया गया है कि यहां साधक उपाय के रूप में केवल सतर्क का सहारा लेता है। षडंग योग में तर्क को भी योग का अंग माना गया है। शैव, वैष्णव, बौद्ध सभी सम्प्रदायों में षडंग योग की चर्चा मिलती है। गुह्यसमाज तन्त्र (18/140) में प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि — ये छः योग के अंग माने गये हैं। श्रद्धेयचरण पण्डित गोपीनाथ कविराज के ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और साधना' (पृ. 537–540) में इस विषय पर अनेक बौद्धतन्त्र ग्रन्थों की सहायता से अच्छा प्रकाश डाला गया है। भगवद्गीता के भास्कर भाष्य (पृ. 127) में प्रत्याहार,

ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि ये छः अंग गिनाये गये हैं। यहां अनुस्मृति के स्थान पर तर्क नाम आया है। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने षडंग योग का उल्लेख किया है। वहां का क्रम इस प्रकार है — प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। विष्णुसंहिता में प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, तर्क, समाधि और ध्यान — यह क्रम मिलता है। विष्णुसंहिता (30/61–72) में विस्तार से इनका विवरण भी मिलता है। इनमें तर्क के सिवाय अन्य अंग पातंजल योग संमत ही हैं। इनमें क्रम में भिन्नता मिलती हैं, किन्तु सर्वत्र तर्क को समाधि के साथ रखा गया है।

मालिनीविजय (17/18) और तन्त्रालोक (4/15) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ बताया गया है। विष्णुसंहिता (30/69–70) में कहा गया है कि धारणा में जब चित्त संलग्न हो, तब अन्वय और व्यतिरेक की सहायता से किया गया निश्चय ही तर्क कहलाता है। भारतीय वाङ्मय में सत्तर्क को बहुत पहले प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी थी। तिरुक्त (13/12) में बताया गया है — ॠषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्यों ने देवताओं से पूछा कि अब हमारे बीच ॠषि का कार्य कौन करेगा? इसके उत्तर में देवताओं ने मनुष्य को तर्कशक्ति दी कि अब यही तुम लोगों के लिये ऋषि का कार्य करेगी। मनु (12/106) प्रभृति धर्मशास्त्रकारों ने भी शास्त्रों के अविरोधी सत्तर्क को मान्यता दी है। उपर्युक्त स्थल पर (पृ. 15–20) तन्त्रालोक के टीकाकार ने अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर शास्त्रानुरोधी सत्तर्क की प्रतिष्ठा की है। उनका कहना है कि तर्क को अप्रतिष्ठित तभी माना जाता है, जबकि यह शास्त्रविरुद्ध हो।

जयरथ ने ऊह को तर्क का ही पर्याय माना है। मृगेन्द्रागम के योगपाद में योग के अंग के रूप में वीक्षण (अभिवीक्षण) परिगणित है। उसी को ऊह भी कहा गया है और उसका प्रयोजन भी बताया गया है। बौद्ध पालिवाङ्मय तथा तन्त्रों में वर्णित अनुस्मृति और अभिवीक्षण में पर्याप्त समानता है। वृत्तिकार नारायण कण्ठ ने यहां ऊह की पुष्टि में स्वायम्भुवागम को भी उद्धृत किया है। भगवद्गीता (15/15) के भाष्य में रामानुजाचार्य ने अपोहन शब्द को ऊह का पर्यायवाची भी माना है और इसकी परिभाषा यह की है — ऊह का कार्य यह देखना है कि किसी भी प्रमाण की प्रवृति सही

22– 19 HRD/99

ढंग से हो रही है या नहीं? प्रमाण—प्रवर्तक सामग्री की परीक्षा करना भी इसी का कार्य है। इस तरह से ऊह प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान है। स्पष्ट है कि आगम और तन्त्रशास्त्र में ही नहीं, पूरे भारतीय वाङमय में तर्क या ऊह की प्राचीन काल से प्रतिष्ठा चली आ रही है।

षडध्वा

शैव और शाक्त तन्त्रों में षडध्व प्रक्रिया के आधार पर भी सृष्टि की उत्पत्तिं का वर्णन किया गया है। महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की उपमा शब्द और अर्थ से दी है। शारदातिलक की टीका में उद्धृत वायवीय संहिता के 'शब्दजातमशेषं तु' प्रभृति वचन में बताया गया है कि पार्वती और परमेश्वर ही शब्द और अर्थ के रूप में परिणत होते हैं। महार्थमंजरीकार ने लिखा है कि अर्थस्वरूप तीन अध्वा प्रकाशमय शिव का अर्ध भाग है और शब्दरूप तीन अध्वा विमर्शमय शक्ति का अर्ध भाग है। इस तरह से शब्द और अर्थमय यह सारा जगत् शिव के यामल स्वरूप से, अर्धनारीश्वर स्वरूप से उल्लिखित होता है। प्रकाशमय शिव से कला, तत्त्व और भुवन की तथा विमर्शमय शक्ति से वर्ण, पद और मन्त्र की सृष्टि होती है। ये ही तन्त्रशास्त्र में षडध्व के नाम से परिभाषित हैं। भास्करराय ने वरिवस्यारहस्य में इनको शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि का नाम दिया है। यह विभाग काश्मीर शैव दर्शन और शाक्त दर्शन को भी समान रूप से मान्य है।

इनमें से कला के पांच भेद हैं — शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। तत्व 36 हैं। इनको तीन भागों में बांटा गया है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या — ये पांच शुद्ध तत्त्व हैं। माया, कला, अविद्या, राग, काल नियति और पुरुष — ये सात शुद्धाशुद्ध तत्व हैं। प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सांख्य संमत 24 तत्त्व अशुद्ध कहलाते हैं। अनाश्रित से कालाग्निरुद्र पर्यन्त भुवनों की संख्या 224 है। वर्णों की संख्या 50, पदों की 81 और मन्त्रों की संख्या 11 है। शाक्त तन्त्रों में वर्णों की संख्या 51 है। तान्त्रिक दीक्षा में षडध्व की शुद्धि अनिवार्य मानी जाती है। शैव और शाक्त तन्त्रों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

संवित्

"प्राक् संवित् प्राणे परिणता" (अनेक स्थलों पर उद्धृत भट्ट कल्लट का वचन), "संविदैव भगवती स्वान्तः स्थितं जगद् बहिः प्रकाशयति" (ऋजु. पृ. 27) इत्यादि स्थलों में संवित् शब्द पराहन्ता (पूर्णाहन्ता) मयी स्वातन्त्र्य शक्ति का वाचक है। शाक्त मत में यही परम तत्त्व के रूप में मान्य है। लक्ष्मीतन्त्र (14/5) में संवित् को लक्ष्मी का स्वच्छ, स्वच्छन्द रूप बताया गया है। इस शब्द का प्रयोग विमर्श शक्ति के लिये भी किया जाता है। दार्शनिकों ने इस शब्द का प्रयोग विज्ञान अथवा ज्ञान सामान्य के अर्थ में भी किया है। क्रम दर्शन के पंचवाह पद की व्याख्या करते समय व्योमवामेश्वरी, खेचरी प्रभृति समष्टि शक्तियों को और अंतःकरण, वहिःकरण के माध्यम से बहने वाली व्यष्टि शक्तियों को संविद्देवीचक्र के रूप में मान्यता दी गई है।

संहारचक्र

संहारचक्र में ग्यारह कलाओं का कार्य देखने में आता है। जितने भाव आत्मस्वरूप से पृथक् होकर विक्षिप्त हैं, उनको फिर आत्मप्रकाश में वासनारूप से अवस्थापित करना ही 'संहार' शब्द का अर्थ है। ग्यारह संहार शक्तियां अन्तःकरण के समष्टिरूप अहंकार को तथा बाह्य दस इन्द्रियों को ग्रास करके स्फुरित होती हैं। यहां अहंकार ही प्रमाता, इन्द्रियां प्रमाण तथा इन्द्रियों के विषय रूप समस्त ग्राह्य वस्तुएं प्रमेय हैं। जो कलाएं इन प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय को भीतर ग्रास करके प्रकाशित होती हैं, वे ही आत्मरूपी भगवान् की संहारिणी शक्तियां हैं। इन्हीं ग्यारह शक्तियों के संबंध के कारण परमेश्वर एकादश रुद्र संज्ञा को प्राप्त करते हैं (महार्थमंजरी, पृ. 99–100)।

सकल-निष्कल

स्वच्छन्दतन्त्र (7/238–239) में बताया गया है कि मन्त्र का जब तक उच्चारण किया जा सकता है और जब तक उसको लिखा जा सकता है या चित्रित किया जा सकता है, तभी तक वह सकल रहता है। निष्कल स्वरूप भेदातीत है। इसका अभिप्राय यह है कि सकल स्वरूप ही भेदातीत

स्थिति में पहुंच कर निष्कल हो जाता है। मन्त्र के विषय में यहां जो बात कही गई है, वही देवता के विषय में भी सही है। इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए योगिनीहृदय (1/27–28) में भगवती त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र की सकल, सकलनिष्कल और निष्कल स्थिति का वर्णन किया गया है। आज्ञाचक्र पर्यन्त सकल, उन्मनी पर्यन्त सकल–निष्कल और महाबिन्दु में निष्कल रूप में भगवती स्थित है। इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रतिपादित पराशक्ति की स्थिति निष्कल, परापरा की सकल–निष्कल और अपरा की सकल मानी गई है। सेतुबन्धकार (पृ. 46) भास्करराय का मत है कि सकल जीव सकल स्वरूप की, प्रलयाकल सकलनिष्कल की और विज्ञानाकल निष्कल स्वरूप की आराधना का अधिकारी है। सकल शब्द के अन्तर्गत कला पद का अर्थ उन्होंने अंश, अर्थात् अंशांशीभाव किया है। अंशांशीभाव जहां रहेगा, वहां भेद की स्थिति अवश्य रहेगी। अतः इस स्थूल अंशांशीभाव रूप मालिन्य से युक्त स्वरूप को सकल कहा जाता है। जो स्वरूप इस दोष से रहित होगा, वह निष्कल कहा जाएगा। इसके लिये सगुण और निर्गुण शब्द भी प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

सकलीकरण

विरूपाक्षपंचाशिका की विद्याचक्रवर्ती कृत विवृति (श्लो. 51) में आचार्य योगीश्वर का एक वचन उद्धृत किया गया है। उसमें बताया है कि प्रकाशात्मक शिव के साथ विमर्शात्मक शक्ति की कूटस्थ एकात्मकता की प्रत्यभिज्ञा के उदित होने से जो परमानन्द का आविर्भाव होता है, उसी का नाम सकलीकरण है। यह सकलीकरण की अद्वैतवादी व्याख्या है। तान्त्रिक वाङमय में दीक्षा के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग बार–बार हुआ है। विवृतिकार ने उक्त स्थल पर बताया है कि दाह और आप्यायन क्रिया के द्वारा सकलीकरण सम्पन्न होता है। प्राणायाम शब्द की व्याख्या के प्रसंग में शोष, दाह और आप्यायन विधियों की चर्चा की गई है। इन्हीं की सहायता से सकलीकरण प्रक्रिया सम्पन्न होती है। पांच भौतिक देह स्थित मल का, पाप पुरुष का शोष और दाह हो जाने के उपरान्त दैवत्व भावना से देह को आप्यायित करना ही सकलीकरण है। मृगेन्द्रतन्त्र क्रियापाद (3/4–10) में बताया गया है कि इसमें ईशान की 5 कला, तत्पुरुष की 4, अघोर की

8, वामदेव की 13 और सद्योजात की 8, इस प्रकार शिव की कुल 38 कलाओं से साधक के देह को आप्यायित किया जाता है।

समयमत

वसिष्ठ, सनक, शुक, सनन्दन और सनत्कुमार द्वारा रचित संहिताएं शुभागमपंचक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा प्रदर्शित तान्त्रिक साधना का मार्ग समयाचार के नाम से प्रसिद्ध है। समयाचार का अभिप्राय है आन्तर वरिवस्था में अभिरुचि। समय मत में समय अर्थात् सादाख्य तत्त्व की सपर्या आन्तर सहस्रदल कमल में की जाती है, बाह्य पीठ प्रभृति में नहीं। श्रीचक्र को वियच्चक्र भी कहा जाता है। दहराकाश और बाह्याकाश में भी इसकी पूजा होती है, अतः इसको वियच्चक्र कहा जाता है। इस मत में दहराकाश, अर्थात् हृदय स्थित अवकाश में श्रीचक्र की पूजा की जाती है। इसी को समयपूजा कहते हैं। पांच शक्तिचक्र और चार वह्निचक्रों के संयोग से श्रीचक्र बनता है। स्वाभिमुख त्रिकोणपरम्परा को शक्ति तथा ऊर्ध्वमुख त्रिकोणपरम्परा को वहिन कहा जाता है। समय मत में यही स्थिति मान्य है। इस मत में सृष्टिक्रम से श्रीचक्र की रचना की जाती है। शांकर मत के अनुयायी इसी विधि से श्रीचक्र की पूजा करते हैं। सौन्दर्यलहरी की टीका में लक्ष्मीधर ने इस मत का विस्तार से निरूपण किया है।

समावेश

समावेश, समापत्ति, समाधि — ये सब शब्द पर्यायवाची हैं। समाधि के अर्थ में समापत्ति शब्द का प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। समावेश दशा में व्यक्ति अपने बाह्य स्वरूप को भूल जाता है और अपने इष्टदेव के स्वरूप में समाविष्ट (लीन) हो जाता है। समावेश का लक्षण और उसके भेदों का, विशेष कर शाम्भव, शाक्त और आणव समावेशों का, निरूपण तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक (पृ. 205—255) में विस्तार से मिलता है। आणव, शाक्त और शाम्भव नामक उपायों का सहारा लेकर साधक आणव, शाक्त और शाम्भव स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। भगवद्गीता (9/23 तथा 12/3—5) में बताया गया है कि अन्य देवताओं की उपासना करने से और अक्षर ब्रह्म की उपासना करने से भी भगवत्पद की ही प्राप्ति होती है, किन्तु

अन्य उपायों के अनुष्ठान में अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसी तरह से आणव प्रभृति विभिन्न उपायों का सहारा लेने पर भी साधक को एक ही परम पद की प्राप्ति होती है। फल की प्राप्ति में कोई भेद नहीं रहता। उपायों के अनुष्ठान में ही तरतमभाव रहता है।

उपायों की भिन्नता में शक्तिपात के तीव्र, मध्य, मन्द आदि भेदों को ही कारण माना गया है। ऐसा कहा जा सकता है कि मन्द शक्तिपात होने पर आणव उपाय का, मध्य शक्तिपात में शाक्त उपाय का और तीव्र शक्तिपात में शाम्भव उपाय का सहारा लेने में साधक समर्थ होता है। इन सबका प्रयोजन स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। अनुपाय प्रक्रिया से भी वही स्वात्मस्वरूप प्रकाशित होता है और आणव उपाय से भी । इस प्रकार आलम्बन का भेद होने पर भी समावेश दशा में कोई भेद नहीं रहता। आणव समावेश, शाक्त समावेश और शाम्भव समावेश दशा एक ही है। उपायों के भेद के कारण समावेश दशा में भेद आरोपित कर लिया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए अभिवनगुप्त ने तन्त्रसार (पृ. 43) में कहा है –"नैषां परफलविधौ कापि हि भिदा"।

सहस्रार चक्र

आज्ञाचक्र के ऊपर महानाद की और इसके ऊपर शंखिनी नामक नाडी के शिखर भाग के शून्य स्थान में ब्रह्मरन्ध्र स्थित विसर्ग के नीचे सहस्रदल पद्म की स्थिति मानी जाती है। इस अधोवक्त्र सहस्रार पद्म के दल प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के समान कमनीय कान्ति वाले हैं। इसमें अकारादि क्षकारान्त सभी वर्ण विराजमान हैं। सहस्रार पद्म में पचास–पचास दलों की पच्चीस आवृतियां होती हैं। प्रत्येक पचास दलों की आवृति में पचास वर्णों की स्थिति मानी जाती है। इस सहस्रार चक्र की कर्णिका में निष्कलंक चन्द्रमण्डल निरन्तर प्रकाशित रहता है। इस चन्द्रमण्डल के मध्य में त्रिकोण और त्रिकोण के मध्य में परबिन्दु की स्थिति मानी गई है। कुछ आचार्यों के मत से सहस्रार स्थित इस त्रिकोण के बाहर अ, क और थ के क्रम से सोलह–सोलह वर्णों की तथा त्रिकोण के भीतर ह, क्ष और ळ वर्णों की स्थिति रहती है। इस बिन्दु स्थान में ही हंसपीठ पर भगवान् परमशिव निवास करते हैं। परमशिव के नीचे परमहंस नामक

अन्तरात्मा की स्थिति मानी गई है। इस सहस्रार कमल की कर्णिका में शैवों के अनुसार शिव, वैष्णवों के अनुसार विष्णु, शाक्तों के अनुसार शक्ति का निवास है। इस स्थान में अपने इष्टदेवता का साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त साधक पुनः संसार के आवागमन के चक्र में कभी नहीं पड़ता और उसमें सृष्टि और संहार करने की भी सामर्थ्य आविर्भूत हो जाती है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्र–प्रकरण, पृ. 6)।

सुरतयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग प्रभृति योग की सभी शाखाओं में नादानुसन्धान की महिमा वर्णित है। प्राचीन वैयाकरण इसका वाग्योग (शब्दयोग) के रूप में वर्णन करते हैं। मध्य युग के सन्त–महात्मा सुरतयोग के नाम से जिस योग मार्ग का अनुसरण करते हैं, वह इस वाग्योग का ही विस्तार है। सुरत शब्द सुरति शब्द का अपभ्रंश माना जाता है। सुरति का अर्थ है स्मृति। यह सुरति आहत नाद को अपना लक्ष्य बनाकर उसकी ओर क्रमशः अग्रसर होती है और अन्त में इस शब्दब्रहम नामक परमतत्त्व को आत्मसात् कर लेती है। सहज समाधि दशा शब्द व सुरति के संयोग का ही परिणाम है। अनुभवी सिद्ध आ॰अमृत वाग्भव जी के कथनानुसार नादयोग के अभ्यास से स्पष्ट मन्त्र सुनाई देते है। उसी को श्रुति कहते हैं। प्राचीन ऋषियों को भी इसी तरह से मन्त्रों की श्रुति प्राप्त हुई थी। श्रुति शब्द का ही अपभ्रंश सुरति है।

प्रसिद्ध सन्त दरिया साहब ने अपने 'शबद' नामक ग्रन्थ में विहंगम योग का जो वर्णन किया है, उससे ज्ञात होता है कि सुरति और निरति इन दोनों का समन्वय कर सकने पर ही योगसाधना सिद्ध होती है। 'सुरति' एक असाधारण दृष्टि है। इस दृष्टि के खुलने पर भांति–भांति के सुन्दर दृश्य और शब्दों का अनुभव होता है। 'निरति' से निर्विकल्पक ध्यान का बोध होता है। इसमें दृश्य का मान बिल्कुल ही नहीं रहता। निरतिहीन, अर्थात् निर्विकल्प ध्यान रहित शुद्ध सुरति जैसे सिद्धिलाभ के लिये उपयोगी नहीं होती, वैसे ही असाधारण दृष्टिरूप सुरति रहित शुद्ध निरति, अर्थात् निर्विकल्पक ध्यान भी उपयोगी नहीं होता। दोनों का सामंजस्य होने पर ही योगी इष्ट साधन में सफलता प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध तन्त्र ग्रन्थों में सुरतयोग की व्याख्या इस प्रकार मिलती है – वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना का शोधन वस्तुतः नाडी शुद्धि का ही नामान्तर है। सिद्धाचार्य लुइपाद कहते हैं कि चन्द्र शुद्ध होकर 'आलि' कहा जाता है। इस शोधन का फल धवन (या धमन) है। सूर्य शुद्ध होकर 'कालि' कहा जाता है। इसका फल चवन (या चमन) है। आलि और कालि का संयोग ही वज्रसत्व की अधिष्ठान भूमि है, विशुद्ध चन्द्र और सूर्य मिलकर जब ऐक्य लाभ करते हैं, तब उस अद्वैत भूमि वज्रसत्त्व का आविर्भाव होता है। यह संयोग आरब्ध होकर क्रमशः चलता रहता है एवं उसी अनुपात में शून्यता, अद्वयभाव, आनन्द या रति और नैरात्म्यबोध या बोधि गंभीर भाव से उपलब्ध होने लगते हैं। इस संयोग अथवा मिलन का पारिभाषिक नाम 'सुरत' अथवा शृंगार है एवं इसका फल रस की अभिव्यक्ति है (तान्त्रिक वाङमय में शाक्तदृष्टि, पृ. 279, तन्त्र और सन्त पृ. 264, भारतीय संस्कृति और साधना, भा.2, पृ. 43, 259)।

सुषुम्ना नाडी

नाडी शब्द के विवरण में बताया गया है कि शरीर स्थित अनन्त नाड़ियों में से तीन नाडियां मुख्य हैं – इडा, पिंगला और सुषम्ना। सुषुम्ना इनमें प्रधानतम है। शरीर के मध्य भाग में इसकी स्थिति है। चूंकि यह इडा और पिंगला दोनों नाडियों से संबद्ध है, अतः इसको अग्नीषोमात्मक माना गया है। प्राचीन ग्रन्थों में उक्त तीनों नाडियों को सोम, सूर्य और वह्नि का धाम तथा वाम, दक्षिण और मध्य पवन का आधार माना गया है। सुषुम्ना शरीर के मध्य भाग में पृष्ठवंश में स्थित है। ब्रहमरन्ध्र पर्यन्त इसकी गति है। सुषुम्ना नाडी प्रधानतम इसलिये मानी जाती है कि इडा और पिंगला नाडी का इसी में लय हो जाता है। शारदातिलक और उसकी टीका में स्वाधिष्ठात, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञाचक्र – ये सुषुम्ना नाडी के पांच पर्व माने गये हैं। इडा और पिंगला नाडी के मार्ग से जब पवन ऊपर उठता है, तब उक्त स्थानों पर उनका सुषुम्ना नाडी से संपर्क होता है। इस प्रकार उक्त तीनों नाडियां ऊर्ध्वगामिनी मानी गई हैं।

सुषुम्ना नामक यह मध्य नाडी कन्द भाग से ब्रहमरन्ध्र तक ऊपर की ओर गतिशील होती है। ज्ञानसंकलिनी तन्त्र (11–12 श्लो.) में इडा को गंगा,

पिंगला को यमुना और सुषुम्ना को सरस्वती बताया गया है। यह तीर्थराज प्रयाग है, जिसमें गंगा, यमुना और सरस्वती का संगम होता है। इसमें स्नान करने वाला व्यक्ति सब पापों से मुक्त हो जाता है। सुषुम्ना नाडी ही ब्रह्मनाडी कहलाती है। इसी में सारा विश्व प्रतिष्ठित है। गुदा के पृष्ठभाग से शिरोभाग तक जो अस्थिदण्ड स्थित है, उसी को वीणादण्ड अथवा ब्रह्मदण्ड कहते हैं। उसके अंतिम भाग में एक सूक्ष्म सुषिर (छिद्र) है। इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। योगाभ्यास के प्रभाव से मध्यनाडी सुषुम्ना यहां शिव और शक्ति के सामरस्य के रूप में जब विश्राम करती है, तब साधक समाधिस्थ हो जाता है, जीवन्मुक्त हो जाता है।

पूर्णानन्द प्रदर्शित सुषुम्ना तथा उसकी सहयोगिनी नाडियों क़ा वर्णन नाडी शब्द की परिभाषा में भी किया गया है।

सृष्टिचक्र

तरंगहीन समुद्र में जिस प्रकार वायु की क्रिया के कारण कुछ चांचल्य दिखलाई देता है, जिसके द्वारा एक के बाद एक महातरंगों की उत्पत्ति होती रहती है, उसी प्रकार निर्विशेष शान्त तथा क्षोभशून्य 'भासा' रूपी महासत्ता के वक्षस्थव पर स्वातन्त्र्य के उल्लास के कारण उद्योगरूपी आदि स्पन्द का उदय होता है। इसे ही सृष्टि की प्रथम कला का आत्मप्रकाश कहते हैं। उद्योग, अवभास, चर्वण, आत्मविलापन तथा निस्तरंग की समष्टि को ही सृष्टि कहा जाता है। प्रत्येक जीवात्मा में समरूप से ये विद्यमान हैं।

दृष्टान्त के लिये एक कुम्हार के घंड़ा बनाने के व्यापार को ले सकते हैं। घड़ा बनाने से पहले घड़े का भाव कुम्हार के आत्मचैतन्य के साथ अभिन्न रूप से स्थित रहता है। आत्मस्वरूप में अभिन्न रूप से विद्यमान इस भाव को भिन्न अथवा पृथक् रूप में बाहर निकालने के लिये जो प्राथमिक स्पन्दन होता है, वही 'उद्योग' नामक प्रथम प्रथा है। इसके पश्चात् दण्ड, चक्र आदि की सहायता से यह भाव बाहर प्रकाशित होता है। इसी को अवभास कहते हैं। सृष्टि क्रिया के अन्तर्गत यह द्वितीय प्रथा है। इसके बाद बाह्य रूप से अवभासित इस भाव को नाना प्रकार के व्यापारों के द्वारा बार-बार अपने रूप में अनुभव करना पड़ता है। इसी का पारिभाषिक

नाम चर्बण है। अर्थक्रियाकारित्व अथवा प्रयोजन सम्पादन ही सब भावों का एकमात्र उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के सिद्ध हो जाने पर इसके प्रति उदासीनता का होना स्वाभाविक है। यही 'विलापन' नामक चतुर्थ प्रथा है। जब इस अर्थक्रिया की स्मृति तक लुप्त हो जाती है, तब 'निस्तरंगत्व' नाम की पंचम प्रथा का आविर्भाव होता है।

ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें आत्मा या परमेश्वर का स्वरूप ही समुद्रस्थानीय है तथा घट आदि प्रत्येक भाव उसके तरंगस्वरूप हैं। ये तरंगें परमेश्वर में ही उदित होती हैं और फिर उन्हीं में लीन भी हो जाती हैं। भासा अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति वस्तुतः निष्कल होते हुए भी कलामय है, क्रमहीन होते हुए भी क्रमविशिष्ट प्रतीत होती है। सृष्टि व्यापार में जिन पांच प्रथाओं का उल्लेख किया गया है, वे सभी उसी की कला के खेल हैं। आत्मा की स्वधामस्थ पंचयोनि तथा उनके साथ अविनाभूत पंचसिद्ध मिलकर सृष्टि की दस कला के रूप में वर्णित होते हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर ये उद्योग, अवभासन, चर्बण, आत्मविलापन तथा निस्तरंगत्व से भिन्न पदार्थ नहीं है। सृष्टि प्रभृति प्रत्येक व्यापार में इनका खेल देखने को मिलता है। इसी कारण एकमात्र सृष्टि में ही सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या तथा भासा नामक पांचों कृत्यों की समस्त विचित्रताओं का स्पष्ट रूप से विकास पाया जाता है (महार्थमंजरी, पृ. 97–98)।

सृष्टिसंहार बीज

अनाहत नाद की अभिव्यक्ति के दो प्रमुख स्थान हैं – एक सृष्टि बीज सकार और दूसरा संहार बीज हकार। इन दो बीजों का आश्रय लेकर ही नाद अभिव्यक्त होता है। योगी लोग जानते हैं कि प्राण के आदि कारण का अनुसन्धान करने पर चिदाकाश के प्रथम स्पन्दन पर ही दृष्टि पड़ती है। चिदाकाश का यह स्पन्दन भी वस्तुतः स्वतः सिद्ध नहीं है। वह परम पुरुष और परमा प्रकृति की यामलावस्था से उद्भूत है। बिन्दुयुक्त हकार (हं) परम पुरुष का और विसर्गयुक्त सकार (सः) परमा प्रकृति का वाचक है। दोनों की यामलावस्था ही आदि हंस का रूप हैं, जिसे निष्पन्द और स्पन्दतत्त्व का सन्धिस्थान माना जा सकता है। इस आदि प्राण को ही संवित् का प्रथम स्फुरण कहते हैं। यही सृष्टि के सब तत्त्वों को धारण करने वाली

शक्ति है। हम लोगों के शरीर में श्वास–प्रश्वास का खेल इस सृष्टिसंहार बीजात्मक हंसरूपी प्राण का ही व्यापार है। (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ. 296–297)।

स्थिति चक्र

सृष्ट पदार्थों की संहार करने की इच्छा के उदय होने तक उनके निराकुल अवस्थान को शास्त्रों में स्थिति के नाम से अभिहित किया गया है, अर्थात् स्वात्मस्वरूप को विभिन्न रूपों में धारण करने की इच्छा को स्थिति कहा जाता है। स्थिति चक्र में बाईस कलाएं कार्य करती हैं। इनमें आठ शिवचक्र में, अर्थात् सहस्रार में, बारह हृदयस्थ षट्कोण चक्र में तथा दो उस षट्कोण के मध्य बिन्दु में रहती हैं। पहली आठ में से चार पीठों के अधिष्ठाता चार युगनाथ के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा चार उन्हीं की शक्तियां हैं। उड्डीयान, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा कामरूप – इन चार केन्द्रों में परमेश्वर के परमकर्तृत्व की अभिव्यक्ति होने से ये 'पीठ' के नाम से परिचित हैं। परमेश्वर का परमकर्तृत्व प्रथमतः उड्डीयान पीठ में अपनी शक्ति के साथ अधिष्ठित रहता है। उसे कलियुग का नाथ कहा जाता है। इसी प्रकार जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप पीठ के अधिष्ठाता गण द्वापर आदि युगों के नाथ हैं। हृदय स्थित षट्कोण में जिन बारह कलाओं की बात कही गई है, वे तन्त्रशास्त्र में 'राजपुत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें छः साधिकार हैं और शेष छः निराधिकार। दर्शनशास्त्र में जिन्हें इन्द्रिय कहा जाता है, यहां राजपुत्र शब्द से उन्हीं का निर्देश किया गया है। बुद्धि और पांच कर्मेन्द्रियां साधिकार राजपुत्र हैं तथा मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां निराधिकार राजपुत्र हैं। षट्कोण के केन्द्रस्थान में कुलेश्वर और कुलेश्वरी की स्थिति है। इन्हें अहंकार और अभिमान शक्ति का प्रतीक मानना चाहिये। इस प्रकार आत्मस्वरूप के तत्तत् रूप में स्थिति के मूल में से ही बाईस कलाएं अनुस्यूत रहती हैं। अतः यह उचित ही है कि इसको स्थिति चक्र के नाम से जाना जाए (महार्थमंजरी, पृ. 98–99)।

स्पन्दतत्त्व

बीज से जैसे अंकुर स्फुरित होता है, उसी तरह से शिव से यह सारा

जगत् निकलता है। बीज मिट्टी–पानी आदि सहकारी कारणों का संयोग होने पर ही प्रस्फुटित होता है। सहकारी कारणों के संपर्क में आने के साथ ही बीज में स्पंन्दन होने लगता है और वह अंकुर के रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु शिव को किसी सहकारी कारण की आवश्यकता नहीं पड़ती। स्वेच्छा से जब उसमें स्पंदन होने लगता है, तो वह अपनी इस स्पन्द शक्ति के माध्यम से जगत् के रूप में परिणत होता है। इसी व्यापार को स्फुरत्ता कहते हैं। यह स्फुरत्ता जैसे शिव को परिमित प्रमाता बना देती है, उसी तरह से स्वात्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा भी इस स्फुरत्ता शक्ति से ही निष्पन्न होती है। 'सा स्फुरत्ता महासत्ता' (1/5/4) इस प्रत्यभिज्ञाकारिका में स्फुरता को ही महासत्ता, स्पन्दतत्त्व आदि नामों से जाना जाता है। स्पन्दकारिका, योगवासिष्ठ प्रभृति ग्रन्थों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

स्रोतोविभाग

तान्त्रिक वाङ्मय का स्रोतोविभाग प्रसिद्ध है। कुछ ग्रन्थों में यह तीन अथवा चार प्रकार का तथा अन्यत्र पांच प्रकार का माना गया है। त्रिविध विभाग में वाम, दक्षिण और सिद्धान्त नामक तन्त्रों की गणना की गई है। अजितागम (26/59–60) में बताया गया है कि मूलावतार प्रभृति तन्त्र वाम, स्वच्छन्दतन्त्र प्रभृति दक्षिण और कामिक प्रभृति तन्त्र सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं। नेत्रतन्त्र (16/2) के अनुसार सदाशिव, भैरव और तुम्बुरु क्रमशः सिद्धान्त दक्षिण और वाम स्रोतस् (धारा) के प्रवर्तक हैं। तुम्बुरु के चार मुखों से शिरच्छेद, वीणाशिव, संमोह और नयोत्तर नामक चार तन्त्रों का आविर्भाव हुआ, इसकी सूचना हमें डॉ. प्रबोधचन्द्र वागची के ग्रन्थ 'स्टडीज़ इन दी तंत्राज' (पृ.2) से मिलती है। तुम्बुरु और भैरव शिव के ही अवतार हैं। इसकी सूचना योगवासिष्ठ (निर्वाण, 1/18/23–26) और नेत्रतन्त्र (9/11) से मिलती है।

सिद्धान्तशिखामणि (5/11) से सप्त मातृकाओं के प्रतिपादक मिश्र तन्त्र का भी समावेश कर स्रोतोविभाग को चतुर्विध माना है। किन्तु सम्प्रति इसके पांच विभाग ही प्रसिद्ध हैं। तदनुसार शिव के ऊर्ध्व मुख से सिद्धान्त, पूर्व मुख से गारुड, दक्षिण से भैरव, पश्चिम से भूत और उत्तर मुख से वाम

तन्त्रों का आविर्भाव हुआ। मृगेन्द्रागम के चर्यापाद (1/40) में अष्टविध अनुस्रोतोविभाग वर्णित है। उनके नाम ये हैं – शैव, मान्त्रेश्वर, गाणपत्य, दिव्य, आर्ष, गोह्यक, योगिनीकौल और सिद्धकौल। इन सबका विस्तृत विवरण नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ. 51–59) में देखना चाहिये।

स्वाधिष्ठात चक्र

लिंग के मूल में सुषुम्ना नाडी स्थित है। इसके मध्य भाग में सिन्दूर के समान अरुण वर्ण के षड्दल कमल की स्थिति मानी गई है। इसी को स्वाधिष्ठान चक्र कहते हैं। इसको स्वाधिष्ठान इसलिये कहते हैं कि यह स्व शब्द से अभिप्रेत पर लिंग का अधिष्ठान है, घर है, अर्थात् इसमें परलिंग का निवास माना जाता है। इस षड्दल कमल में बँ भँ मँ यँ रँ लँ इन छः बीजाक्षरों की स्थिति मानी गई है। इस स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में अर्धचन्द्राकार शुक्ल वर्ण का वरुण देवता का मण्डल अवस्थित है। इसके बीच में बंकार बीज आलोकित है। इसका वाहन मकर है। सारे विश्व के पालक भगवान् विष्णु इसके अधिकारी हैं और राकिणी नामक योगिनी इस चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति है (श्रीतत्त्वचिन्तामणि, षट्चक्र प्रकरण, पृ. 6)।

हंस मन्त्र

हकार, बिन्दु, सकार और विसर्ग के योग से हंस मन्त्र की निष्पत्ति होती है। अनुत्तर, अकुल स्वरूप चिद्धाम में स्वयं उन्मिषित होने वाले हकार की स्थिति ऊपर और नीचे विसर्जनीय अनुप्राणित विसर्ग स्वरूप जीव की सकार की स्थिति रहती है। हान और समादान, त्याग और ग्रहण की प्रक्रिया के आधार पर इस हंस मन्त्र का उच्चारण पराशक्ति स्वयं ही करती है। इसीलिए "मैं वह शिव हूं" इस तरह से अपने स्वरूप का परिचय वहां प्राप्त होता है। प्राण सकार के साथ बाहर निकलता है और अपान जब शरीर में पुनः प्रविष्ट होता है, तो वह हकार का उच्चारण करता हैं। इस तरह से प्राण और अपान की गति जब तक चलती रहती है, तब तक जीव प्रतिदिन निरन्तर 'हंस–हंस' इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता है।

शक्तिसंगम तन्त्र (1/3/77--87) में प्रणव के प्रसंग में हंस स्वरूपिणी कामकला का विवरण बताते हुए कहा गया है कि 'सोऽहम्' इस हंस मन्त्र

में प्रणव और कामकला दोनों की स्थिति है। उक्त ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के उपोद्धात में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। विज्ञानभैरव के 42वें श्लोक में भी अजपा गर्भित प्रणव की उपासना वर्णित है।

हंस मन्त्र में विद्यमान सकार प्राण और प्रकाश (सूर्य अथवा दिन) का प्रतिनिधित्व करता है तथा हकार जीव (अपान) तथा क्षपा (रात्रि) का। सभी प्राणियों के अनुभव के आधार पर यह बात सिद्ध है कि प्राण (सकार) की गति स्वाभाविक रूप से बाहर की ओर तथा अपान (हकार) की गति निरन्तर भीतर की ओर चलती रहती है। प्राण जब हृदय से ऊपर की तरफ चढ़ता है, तब 'हं' वर्ण की उत्पत्ति होती है और जब वह द्वादशान्त से उतरता है, तो उसकी अपान दशा में 'सः' वर्ण उत्पन्न होता है। इन दो वर्णों का स्पष्ट उच्चारण करते रहने से ही जीव 'जीव' कहलाता है। यह त्याज्य है, यह उपादेय है, यह मेरा है, यह मेरा नहीं है – इस तरह से छोड़ने और लेने के प्राण और अपान के धर्मों से समानता के कारण ही जीव हंस कहलाता है। हान (त्याग) और उपादान (परिग्रह), छोड़ना और लेना – इन दो व्यापारों में हंस और जीव की समानता है। हंस पक्षी जैसे दूध पी जाता है और पानी छोड़ देता है, उसी तरह से जीव भी प्राण और अपान के हान और उपादान का व्यापार निरन्तर करता रहता है। इसी समानता के आधार पर जीव को और जीव के इस निरंतर चल रहे श्वास–प्रश्वास प्रवाह को क्रमशः हंस और हंसमन्त्र के नाम से अभिहित किया गया है।

दिन–रात प्राण और अपान की इस निरंतर गतिशीलता के कारण इस हंस मन्त्र का हंस जीव एक अहोरात्र में 21600 बार उच्चारण करता है। इनमें से मूलाधार चक्र में गणपति को 6 सहस्र, स्वाधिष्ठान चक्र में ब्रह्मा को 6 सहस्र, मणिपुर चक्र में विष्णु को 6 सहस्र, अनाहत चक्र में शिव को 6 सहस्र, विशुद्धि चक्र में जीवात्मा को एक सहस्र, आज्ञाचक्र में गुरु को एक सहस्र जप निवेदित किये जाते हैं। इस तरह से स्वाभाविक रूप से निरन्तर चल रहे जप को निवेदित करने के उपरान्त साधक इस हंस मन्त्र का 108 बार जप करता है। निरुत्तर तन्त्र में अजपा गायत्री के दो भेद बताये हैं – व्यक्त और गुप्त। हंस तन्त्र का जप व्यक्त और प्राण और अपान के व्यापार के रूप में निरन्तर चल रहा जप गुप्त कहा जाता है।

माणिक्य के मैल को साफ कर देने पर जैसे उसमें चमक पैदा हो जाती है, उसी तरह से मध्य क्षण का उद्धार करने पर 'हंसः' इस मन्त्र का विमर्श भी जाग उठता है।

हार्धकला

हकार की अर्धकला अथवा हार्धकला योनिरूप में कल्पित है। यह अतिरहस्यमय गुह्य तत्त्व है। शिव और शक्ति के मिलन से उत्पन्न अमृत की धारा के प्रवाहित होने पर उससे जिस लीलामय तरंग की उत्पत्ति होती है, वही तान्त्रिक परिभाषा में हार्धकला के नाम से विख्यात है (शाक्त दृष्टि, पृ. 78)।

हार्धकला का नित्याषोडशिकार्णव (1/186) में सपरार्ध कला के रूप में वर्णन है। सकार से आगे हकार की स्थिति है। उस हकार के अर्धभाग को सपरार्ध अथवा हार्ध कहा जाता है। तन्त्रशास्त्र में बीजाक्षर ईकार कामकला का प्रतीक है। ब्राह्मी लिपि में इसका आकार कामकला के तीन बिन्दुओं को और अनच्क हकार के अर्धभाग को मिलाकर बनता है। इस हकार के अर्धभाग सदृश मात्रा की स्थिति बीजाक्षर में बिन्दु के समीप ऊपर रहती है, किन्तु कामकला का ध्यान करते समय इस अनच्क हकारार्ध की स्थिति बिन्दुद्वय के नीचे अधोमुख रहती है। इसका रहस्य गुरुमुख से ही जाना जा सकता है।

हृल्लेखा

गायत्री मन्त्र के समान श्रीविद्या के भी तीन पाद (चरण) हैं। ये कूट या बीज के नाम से अभिहित हैं। इनके नाम हैं – वाग्भव, कामराज और शक्तिबीज। इनका विवरण अलग से दिया जा चुका है। प्रत्येक कूट या बीज के अन्त में हृल्लेखा की स्थिति मानी गई है। हृल्लेखा अर्थात् ह्रींकार को शाक्त मत का प्रणव माना जाता है, जैसे कि ॐ.कार को वेद प्रणव तथा हूंकार को शिव प्रणव। हृल्लेखा का स्वरूप स्वररहित हकार और रकार के आगे ईकार, अर्थात् कामकला को जोड़ने पर और उसके ऊपर बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना कलाओं का संयोजन करने पर बनता है। प्रणव की द्वादश कलाओं का

उल्लेख अन्यत्र किया गया है। हृल्लेखा का स्वरूप भी द्वादश कलाओं से बनता है। अन्तर केवल प्रथम तीन अक्षरों में है। बिन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त नौ कलाओं की समष्टि को नाद कहा जाता है। प्रणव कला शब्द की व्याख्या में इनके स्वरूप, मात्राकाल आदि का विवरण दिया जा चुका है। इन नव नादों को किसी भी बीजाक्षर से संयुक्त किया जा सकता है। हृल्लेखा, अर्थात् ह्रींकार त्रिपुराविद्या का बीज मन्त्र है। प्रत्येक सम्प्रदाय के बीजाक्षर को उक्त नव नादों से संयोजित करने पर प्रणव की निष्पत्ति होती है। हृल्लेखा और नवनाद का परिचय योगिनीहृदय, वरिवस्या रहस्य प्रभृति ग्रन्थों में भी देखा जा सकता है।

PED—780
500—1999 DSK—II

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित,
एवं प्रकाशन नियंत्रक, दिल्ली द्वारा प्रकाशित, 2000
PRINTED BY THE MANAGER GOVT. OF INDIA PRESS, FARIDABAD
AND PUBLISHED BY THE CONTROLLER OF PUBLICATIONS, DELHI. 2000